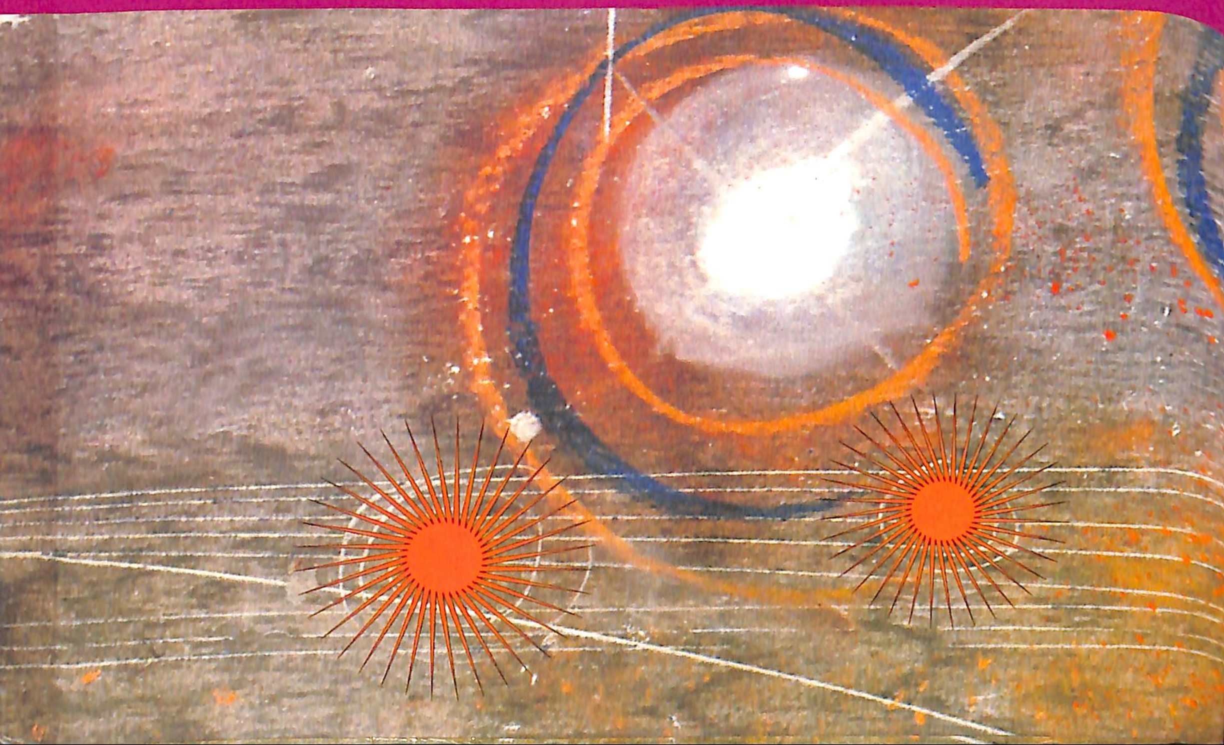
भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद

संज्ञान-प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्रस्थिति एवं भूमिका

STATUS & ROLE OF SENSES IN THE PROCESS OF COGNITION

अम्बिकादत्त शर्मा



भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद

संज्ञान-प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्रस्थिति एवं भूमिका

STATUS & ROLE OF SENSES IN THE PROCESS OF COGNITION

अम्बिकादत्त शर्मा



♦ काशी की पाण्डित्य परम्परा और आचार्य कुल में दीक्षित **अम्बिकादत्त शर्मा**, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर - म. प्र. के दर्शन विभाग में रीडर हैं। साथ ही साथ दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर से प्रकाशित पत्रिका **'उन्मीलन'** के **प्रबन्ध-सम्पादक** एवं **अखिल भारतीय दर्शन परिषद्** के **मंत्री** भी हैं।

♦ अब तक इनके द्वारा प्रायोजित, लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थों में **स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण सीरीज** के अन्तर्गत - ***समेकित दार्शनिक विमर्श, समेकित अद्वैत विमर्श, भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*** इत्यादि उल्लेखनीय हैं। ***बौद्ध प्रमाण दर्शन*** एवं In Defence of Metaphysics (Indian reaction against logical positivism) नामक मौलिक ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाश्य हैं।

♦ सम्प्रति डॉ. शर्मा **'न्याय भाष्य विमर्श'** नामक एक वृहद् कार्ययोजना को पूरा करने में संलग्न हैं। इस कार्य में पं. किशोरनाथ झा एवं डॉ. अच्युतानंद दाश इनके अनन्य सहयोगी हैं।

भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद

संज्ञान-प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्रस्थिति एवं भूमिका

STATUS & ROLE OF SENSES IN THE PROCESS OF COGNITION

संपादक
अम्बिकादत्त शर्मा

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य-प्रदेश

Bhārtiya Darśan Meṅ Prāpyakāritvavāda

Status & Role of Senses in the Process of Cognition

Edited by- Ambika Datta Sharma

प्रथम संस्करण 2006

ISBN - 81-88289-16-7

मूल्य - 395/-

प्रकाशक -

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर

247 जवाहरगंज, सागर - 470002 (म.प्र.)

✆ 07582-243598

अक्षर संयोजन-

एक्टिव कम्प्यूटर्स

सागर (म. प्र.)

✆ 503225

आचार्य रेवतीरमण पाण्डेय को
स्मरण करते हुये...

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भू,
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्तचक्षुरमृतत्व मिच्छन् ।।

अनुक्रम

पुरोवाक्

दार्शनिक चिन्तन प्रबुद्ध एवं विचारशील मानव द्वारा अपने अनुभवों का व्यवस्थित विवेचन है। प्रत्येक अनुभव सविषयक होता है भले ही वह अनुभव स्वयं ही अपना विषय क्यों न हो। इसी तरह प्रत्येक अनुभव सत्ता/ वस्तु/तत्त्व/अर्थ से सम्बन्धित होता है जो उसे विषयता प्रदान करता है। असत् का अनुभव नहीं होता, उसकी मात्र कल्पना की जा सकती है। सत्ता के किसी अंश के बारे में विचार मानव मस्तिष्क के लिये स्वाभाविक है परन्तु इसके बारे में समग्रता से व्यवस्थित विवेचन ही दर्शन है। यह दार्शनिक कर्म शुष्क या निरूद्देश्य नहीं होता। इसमें अनुभव से प्रेरित एक विशेष प्रयोजन होता है जो इसे संचालित करता है। शुष्क चिन्तन को पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में 'फिलॉसफी' के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है परन्तु भारतीय सन्दर्भ में दार्शनिक चिन्तन का अनुभव जन्य एवं सप्रयोजन होना अनिवार्य है। इसीलिये शास्त्र रचना में अनुबन्ध चतुष्टय के अन्तर्गत प्रयोजन को प्रमुख स्थान दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी दार्शनिक चिन्तन में यह जिज्ञासा अवश्य होनी चाहिये कि उसका प्रयोजन क्या है ? जैसा कि कहा भी गया है कि बिना प्रयोजन के मन्दबुद्धि का व्यक्ति भी किसी काम्य कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

अनुभव सत्तापरक है, सत्ता ज्ञान के लिये है और ज्ञान सौद्देश्य होता है ताकि उससे जीवन के प्रति एक स्वस्थ दृष्टि अपनायी जा सके और सार्थक जीवन व्यतीत किया जा सके। इसके लिये ही अनुभव पर व्यवस्थित चिन्तन और अनुभव का विश्लेषण आवश्यक होता है। सभी अनुभव यथार्थ नहीं होते हैं। अयथार्थ अनुभव अन्ततोगत्वा अनुपयोगी और अवांछनीय होते हैं। किसी

विशेष परिस्थिति में वे लाभप्रद हो सकते हैं और उनसे तात्कालिक एवं त्वरित परिस्थिति में लाभ हो सकता है लेकिन इस आधार पर उन्हें निरपेक्ष रूप से वांछनीय नहीं माना जा सकता। अत: सत्तामीमांसा एवं मूल्यमीमांसा के पूर्व ज्ञानमीमांसा या अनुभव का विश्लेषण आवश्यक है जिससे कि यथार्थ और अयथार्थ का भेद कर यथार्थ की प्राप्ति और अयथार्थ का निवारण किया जा सके। यही कारण है कि सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में सत्तामीमांसा एवं मूल्यमीमांसा की पृष्ठभूमि एवं पूर्व स्थिति के रूप में ज्ञानमीमांसा अनिवार्यत: की जाती है। परन्तु यह ध्यातव्य है कि ज्ञानमीमांसा साधन मात्र है, अपने आप में साध्य नहीं। ज्ञान अर्थ (सत्ता) का प्रकाशक है और अर्थ के प्रकाशन का लक्ष्य तत्त्वज्ञान द्वारा जीवन के परमसाध्य नि:श्रेयस की प्राप्ति है। भारतीय परम्परा में यही दार्शनिक चिन्तन का प्रयोजन है।

ज्ञानमीमांसा के प्रतिपाद्य ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान के विषय, ज्ञान के स्रोत तथा ज्ञान का प्रामाण्य और उसकी सीमा इत्यादि है। यदि ज्ञान और प्रमा का भेद किया जाये, जिसे किया ही जाना चाहिये, तो प्रमा या यथार्थ ज्ञान ही ज्ञानमीमांसा का मुख्य साध्य है परन्तु आनुषंगिक रूप से अयथार्थ ज्ञान तथा उसके स्रोतों पर भी विचार आवश्यक है ताकि न केवल यथार्थ और अयथार्थ का भेद स्थापित किया जा सके वरन् अयथार्थ के निवारण के उपाय भी जाने जा सकें। अत: साधन और दूषण को आभास सहित जानना ज्ञानमीमांसा का कार्य है।

ज्ञान के दो विभेद किये जा सकते हैं - एक इन्द्रिय जन्य और दूसरा अतीन्द्रिय। अतीन्द्रिय ज्ञान प्रातिभ है, अपरोक्षानुभूति है, प्रतिबोधविदित है। इसकी केवल अनुभूति हो सकती है, स्वानुभूति ही हो सकती है और यह मीमांस्य नहीं है। यह मन और वाणी से परे होता है। जब यह विचार और वाणी से सम्बद्ध होकर अपने अविशुद्ध रूप में प्रकट होता है तब ही मीमांस्य होता है। वस्तुत: सभी मीमांस्य ज्ञान इन्द्रिय जन्य ही होता है। इसकी इन्द्रिय जनकता निर्विवाद है परन्तु उस जनकता के स्वरूप एवं कारण सामग्री के बारे में विप्रतिपत्तियाँ हैं। इन्द्रिय की साक्षात् जनकता के आधार पर इसे प्रयत्क्ष और परम्परया जनकता के आधार पर 'परोक्ष' की संज्ञायें दी जाती हैं परन्तु दोनों में किसी न किसी रूप में इन्द्रिय जनकता रहती ही है। परोक्ष प्रत्यक्ष-पृष्ठभावी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मीमांस्य ज्ञान में इन्द्रिय जनकता प्रस्थान बिन्दु है। परम्परा में वैसे योगजज्ञान को तथा जैनदर्शन में पारमार्थिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष की परिधि में लिया जाता है परन्तु यह एक विशेष भाषिकीय प्रयोग है।

एन्द्रिय ज्ञान को इन्द्रियों और मन (चित्त) के व्यापार का कार्य या फल माना जाता है। परन्तु इसमें इन्द्रियों का क्रिया-कलाप निर्विवाद है। इस ज्ञान की प्राप्ति में प्रत्यक्ष की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। सभी एन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं और उनकी प्रामाणिकता भी प्रत्यक्ष द्वारा ही पुष्ट होती है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ प्रमाण या उपजीवक कहा जाता है। अन्य सभी प्रमाण प्रत्यक्ष की अपेक्षा उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति दोनों के लिये रखते हैं परन्तु प्रत्यक्ष निरपेक्ष होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष को ज्ञानाकरणक कहा जाता है।

ज्ञान की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के लिये एक कारक समूह या कारण सामग्री की अपेक्षा रहती है। प्रत्यक्ष की कारण सामग्री में आत्मा-मन (चित्त), इन्द्रिय, अर्थ तथा ज्ञाता और ज्ञेय की परिस्थितियों का समावेश होता है। इन कारकों में पौर्वापर्य सम्बन्ध रहता है। कारक के रूप में सभी महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं परन्तु करण के रूप में इन्द्रियों की भूमिका प्रमुख होती है। यही कारण है कि इस ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं 'प्रतिविषय' आदि नहीं। प्रत्यक्ष में 'अर्थ' इन्द्रिय वेद्य होकर 'विषय' बनता है और ज्ञाता को 'विषयी' बनाता है। इन्द्रियाँ स्वभावत: बहिर्मुखी होती हैं और अर्थोन्मुख होकर प्रत्यक्ष ज्ञान की जनक होती हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है परन्तु इनकी कार्य प्रणाली कैसी है यह पूरी तरह और अच्छी तरह से जानना आसान नहीं है।

कारण और करण का भेद यद्यपि सर्वदर्शन सम्मत नहीं होने पर भी इतना तो अवश्य मान्य है कि कुछ कारक तत्त्व साधारण रूप से सभी ज्ञान सामग्री में उपलब्ध होते हैं और कुछ कारक तत्त्व ज्ञान-विशेष से सम्बन्धित होते हैं। इसके अलावा यह भी सही है कि इन्द्रियों के क्षीण या बलवती होने पर ज्ञान में भेद हो जाता है। अत: इन्द्रियों का प्राधान्य अवश्य ही स्वीकार्य होना चाहिये। इतना स्वीकृत होने पर या इन्द्रियों के क्रिया-कलाप का इस कारण समूह या कारण सामग्री में क्या स्थान है या क्या भूमिका है, इस बारे में विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में विप्रतिपत्तियाँ हैं। इस सन्दर्भ में भारतीय चिन्तन परम्परा में उपलब्ध विचारों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है। ये हैं - बौद्ध प्रतिभासवाद, सांख्य और अद्वैतवेदान्त सम्मत वृत्तिवाद तथा न्याय एवं मीमांसा प्रस्तुत सन्निकर्ष वाद (संप्रयोगवाद)। इन तीनों प्रारूपों में इन्द्रियों की भूमिका स्वीकृत है और इन्द्रियों से तात्पर्य बाह्येन्द्रिय से ही अधिक है (भले ही न्याय परम्परा में मन को अन्तरेन्द्रिय माना गया है)। व्युत्पत्ति के आधार पर 'प्रत्यक्ष' शब्द में अक्ष सीमित अर्थ में चक्षु और अधिक व्यापक अर्थ में सभी

बाह्येन्द्रिय तथा सर्वाधिक व्यापक अर्थ में मन और आत्मा को भी सूचित करता है परन्तु व्यवहार में अक्ष 'प्रधान व्यपदेशात्' बाह्येन्द्रियों के लिये ही प्रयुक्त होता है।

बौद्ध प्रतिभासवाद के अनुसार परमार्थ सत् रूपी अर्थ के ग्रहण का द्वार इन्द्रिय है। अर्थ जब इन्द्रिय एवं चित्त सन्तति के सन्निकट होता है तब इन्द्रियों के माध्यम से चित्त सन्तति में अर्थ का 'प्रतिभास' होता है। इस प्रक्रिया में अर्थ का प्राधान्य रहता है, इन्द्रिय अर्थ-ग्रहण का माध्यम या द्वार मात्र है। धर्मोत्तर न्याय बिन्दुटीका में लिखते हैं- ''य एवार्थ: सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुट च प्रतिभासं करोति, परमार्थ सत् स एव।'' चित्तसन्तति का अर्थाकार होना ज्ञान है और प्रत्यक्ष में यह इन्द्रियों की सहायता से ही सम्भव है। अर्थ ज्ञान का आलम्बन प्रत्यय है, अर्थ-सारुप्य ही ज्ञान का प्रामाण्य है। यह सब इन्द्रियों की सहायता से ही सम्भव है। अत: इन्द्रिय को अधिपति प्रत्यय कहा गया है परन्तु इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हैं अर्थात् वे स्वयं अर्थ तक नहीं पहुँचती हैं। अर्थ उन तक पहुँचता है विशेष परिस्थिति के आधार पर। इन्द्रिय के बिना अर्थ का प्रतिभास नहीं हो सकता। फिर भी इन्द्रिय की भूमिका गौण है और अर्थ की भूमिका प्रधान है। अर्थ ही ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान के प्रामाण्य और इन्द्रियों की भूमिका निर्धारित करता है। यदि अर्थ दृश्य है तो चक्षु इन्द्रिय की भूमिका है। यदि अर्थ श्राव्य है तो कर्णेन्द्रिय की भूमिका है। संभवत: वसुबन्धु ने जब प्रत्यक्ष का लक्षण ''ततोऽर्थाद्विज्ञानम्'' कहा तो उसका एक कारण यह पक्ष भी रहा होगा।

सांख्य और अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में मुख्य भूमिका अर्थ की न होकर इन्द्रिय और अन्त:करण की होती है। इनमें ज्ञान की प्रक्रिया अर्थ से प्रारम्भ न होकर अन्त:करण से प्रारम्भ होती है। जब अन्त:करण सावधान होकर इन्द्रियों के माध्यम से अर्थ तक पहुँचता है तब वह अर्थाकार होता है। इस अर्थाकारिता को वृत्ति कहते हैं। अर्थ का ग्रहण अन्त:करण करता है और इन्द्रियाँ सहायक की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। ज्ञान अर्थ-प्रतिभास रूप नहीं है वरन् अन्त:करण वृत्ति रूप है। वृत्तियाँ अन्त:करण और इन्द्रिय दोनों की होती हैं परन्तु वे सम्पृक्त रूप में रहती हैं। सांख्यकारिका में प्रत्यक्ष का लक्षण 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट:' है। जो विषय से सम्बद्ध होता है वह प्रतिविषय या प्रत्यक्ष है और विषय से सम्बद्ध इन्द्रियाँ होती हैं। युक्तिदीपिका के अनुसार ''विषयं विषयं प्रतिवर्त्तते इति प्रतिविषयम्। ...तस्मिन् योऽध्यवसाय: स

प्रतिविषयाध्यवसाय: ।'' इस ग्रन्थ में इन्द्रिय वृत्ति एवं अन्त:करण वृत्ति के परस्पर सम्बन्ध पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है, जो द्रष्टव्य है। इसी तरह वेदान्त परिभाषा में अद्वैतवेदान्त की स्थिति स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''तत्र यथा तराकोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्त:करणमपि चक्षुरादि द्वारा निर्गत्य घटादि विषयदेशं गत्वा घटादि विषयाकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।'' (प्रत्यक्षपरिच्छेद) इन्द्रिय अपना स्थान छोड़े बिना विषय तक पहुँचकर विषयाकार होकर ही प्रत्यावर्तित होती है।

बौद्ध, सांख्य एवं अद्वैत वेदान्त की दृष्टियों में भेद होते हुए भी कुछ बातें समान हैं। सभी यह जानते हैं कि इन्द्रियों की भूमिका के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता परन्तु इन्द्रियों की भूमिका माध्यम अथवा द्वार या सहायक की ही होती है। वे स्वयं अर्थ का ग्रहण नहीं करती हैं या अर्थ तक नहीं पहुँचती हैं। इसके लिये चित्त या अन्त:करण का प्रवर्तन आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि सभी अर्थाकारिता को स्वीकार करते हैं भले ही इसकी प्रक्रिया सभी दर्शनों में भिन्न-भिन्न है। इन दृष्टियों से भिन्न न्याय और मीमांसकों की दृष्टियाँ हैं। इनमें इन्द्रिय और अर्थ के तुल्य बलत्व की स्वीकृति है और इन्द्रिय के साथ ही मन की भूमिका भी मान ली गई है। जब इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है तब प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहाँ इन्द्रियाँ मात्र माध्यम या द्वार नहीं वरन् ग्राहक भी होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तब ही सम्भव है जब किसी तरह इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्पर्क हो। इन्द्रिय और अर्थ के सम्बद्ध होने से ही प्रत्यक्ष की उपलब्धि होती है। इन दोनों के सम्पर्क एवं सम्बद्ध हुए बिना प्रत्यक्ष संभव नहीं। परन्तु यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि यह कैसे होता है, इसकी क्या प्रक्रिया है ? इन्द्रियाँ शरीरस्थ हैं और अर्थ बाह्यस्थ। दोनों अपने आप में चलायमान नहीं हैं। दोनों का पृथक् और परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व है। अत: इनके सम्पर्क एवं सम्बद्ध में होने वाली प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न जटिल हैं, बहुआयामी हैं। इसमें भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान आदि के कई सम्पुट हैं जो सूक्ष्मता तथा इन्द्रिय अगम्यता के कारण अच्छी तरह व्याख्येय नहीं है। प्रमा के साथ-साथ भ्रम-विभ्रम और संशयादि के उत्पन्न होने के कारण इनकी जटिलता और भी बढ़ जाती है।

इन्द्रिय और अर्थ के बीच सम्बन्ध की दो प्रकार की प्रक्रिया सम्बन्धी

व्याख्यायें भारतीय ज्ञानमीमांसा में उपलब्ध होती है जिन्हें प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के रूप में जाना जाता है। परन्तु यहाँ यह विवेचनीय है कि प्राप्यकारित्व का तात्पर्य क्या है ? क्या यह सामीप्य है, या संयोग है या सारूप्य है। ऐतिहासिक विवाद इस पूर्व मान्यता को लेकर है कि इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं लेकिन प्राप्यकारी होती हैं या नहीं ? प्राप्यकारित्व का यह विवाद केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों के ही बारे में हैं। अन्य इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व कुछ वैयाकरणों को छोड़कर बाकी सबको स्वीकृत है। परन्तु यदि केवल मन को ही प्राप्यकारी माना जाये तो समस्या का स्वरूप भिन्न होगा। इसी तरह यदि यह मान लिया जाये कि न तो इन्द्रियाँ चलायमान हैं और न अर्थ; परन्तु इन दोनों में सम्पर्क योग्यता है जो किसी उद्दीपन से प्रकट होती है तो भी प्राप्यकारित्व के प्रश्न का स्वरूप भिन्न होगा। यह कहा जा सकता है कि सम्पर्क योग्यता के कारण इन्द्रिय अर्थ को प्रभावित करती है और अर्थ इन्द्रिय को। इस तरह परस्पर भावना के आधार पर प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। परस्पर भावना परस्पर प्रभाव रूप है जो सम्पूर्ण कारण सामग्री के उपलब्ध होने पर प्रकट होती है। यह योग्यता भिन्न-भिन्न अर्थ में और भिन्न-भिन्न इन्द्रिय में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अत: भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान उत्पन्न होते हैं। यहाँ एक और आयाम यह जोड़ा जा सकता है कि ग्रहण वस्तु का नहीं वरन् उसके प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब का होता है और अर्थ-प्राप्ति का चयन मात्र औपचारिक है। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय अन्तस्थ चैतसिक भी होते हैं। उनका ग्रहण किस रूप में होता है यह भी विचारणीय है ? मन के प्राप्यकारित्व और इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के प्रकार एक से नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों की संरचना एक जैसी नहीं है भले ही सांख्य मतानुसार दोनों को आंहकारिक क्यों न माने जायें। मन के प्राप्यकारित्व को लेकर मनोविज्ञान तथा इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को लेकर भौतिक विज्ञानों का आश्रय लेना होता है। प्राप्यकारित्व के प्रश्न के सन्दर्भ में, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, भ्रम ज्ञान, विभ्रम ज्ञान, कलर ब्लाइंडनेस, आदि का समावेश और उन पर विचार अपेक्षित है। इन्द्रिय अर्थ का ग्रहण करती है या करवाती है, पर दोनों स्थितियों में विपर्यय के कारक तत्त्वों में मन/इन्द्रियों का समावेश होता है। इस सम्बन्ध में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शंकराचार्य (ब्रह्मसूत्र भाष्य का उपोद्घात), मीमांसक शालिकनाथ (प्रकरण पञ्चिका), पार्थसारथी मिश्र (शास्त्र दीपिका) आदि में चर्चित विश्लेषण का जो ख्यातिवाद के अन्तर्गत आता है, उसका आज की वैज्ञानिक स्थिति के

सन्दर्भ और परिप्रेक्ष्य में विवेचन आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राप्यकारित्व/अप्राप्यकारित्व का प्रश्न उतना सरल नहीं है कि उसका समीचीन एवं सम्पूर्ण समाधान आसानी से प्रस्तुत किया जा सके और न यह मात्र दार्शनिक चिन्तन के बिना विज्ञान की सहायता से ही अन्तिम रूप से सार्थक हो सकता है।

इन्द्रिय प्राप्यकारित्व का प्रश्न नैयायिक गौतमीय सन्निकर्षवाद के प्रतिवाद के रूप में मुख्यत: बौद्ध दार्शनिकों ने उठाया था। डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा जी के इस महनीय आयोजन में इसके पक्ष-विपक्ष में काफी विचार-विमर्श विभिन्न विद्वानों ने इस ग्रन्थ में विद्वता पूर्वक किया है। अत: उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इन्द्रिय प्राप्यकारित्व के तार्किक खण्डन-मण्डन के साथ-साथ यह और अधिक उपादेय तब होगा जब इस विषय पर मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया जाये। जिस तरह बौद्ध अभिधर्म परम्परा में वीथिचित्त और चित्तवीथि का विस्तृत विवेचन किया है वैसे ही 'इन्द्रियवीथि' की भी चर्चा की जा सकती है कि किस तरह इन्द्रिय अर्थ के संवेदन की प्राप्ति कराती है। यहाँ न तो चित्त/मन/अन्त:करण की भूमिका को न्यून माना जा सकता है और न अर्थ की भूमिका को, परन्तु इन दोनों से भिन्न इन्द्रिय की भूमिका को और उसके क्रिया-कलापों को अवश्य ही पृथक् रूप से विश्लेषित किया जा सकता है। इस विश्लेषण में प्रयोगात्मक मनोविज्ञान के साथ-साथ तत्तद् इन्द्रियों से जुड़े हुए भौतिक, रासायनिक, प्राणीशास्त्रीय, मेडिकल आदि विज्ञानों की भी सहायता अपेक्षित है। उदाहरणार्थ, चक्षु इन्द्रिय किस तरह रूप का ग्रहण करती है इसके लिये मनोविज्ञान, स्नायुविज्ञान, आप्टीक्स, आप्थेल्मालॉजी, आक्युल्जिम, एरोनोटिक्स आदि की नेत्र विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न शाखाओं का सहयोग आवश्यक है ताकि चक्षुरश्मि की गतिशीलता, सूर्य रश्मि के प्रवाह तथा प्रकाश से सम्बन्धित तथ्यों पर यथासम्भव वास्तविक सूचना प्राप्त हो सके। सम्पूर्ण विश्व में एकात्मता है अत: किसी भी घटना की समुचित एवं पूर्ण व्याख्या एकांगी दृष्टिकोण से नहीं हो सकती। वैज्ञानिक अन्वेषणों एवं तकनीकी उपकरणों ने इन्द्रिय सामर्थ्य को न केवल बहुगुणित किया है, इन्द्रियों की कार्यशीलता में भी वृद्धि की है। दृश्य-श्रव्य उपकरणों, टेलीविजन, विडियो कैमरा, माइक्रोस्कोप, टेलीस्कोप, एक्स-रे आदि ने प्रत्यक्ष सम्बन्धी नये आयाम खोले हैं। स्पेस रिसर्च के अन्तर्गत नई उद्भावनायें प्रकट हुई हैं। चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा दूरस्थ वस्तु का ग्रहण, सान्तर ग्रहण, कैसे हो सकता है इस पर

नये ढंग से विचार आवश्यक है। वस्तुत: प्रत्येक इन्द्रियों के द्वारा अर्थग्रहण की प्रक्रिया पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। दार्शनिक चिन्तन एवं विश्लेषण वैज्ञानिक अन्वेषणों से अप्रभावित नहीं रह सकता है। विज्ञान के विकास के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन में भी परिवर्तन आवश्यक है। ज्ञान-विज्ञान की नई-नई विधायें प्रकट हो रही है और उनसे लाभान्वित होना चाहिये। परन्तु इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि वैज्ञानिक ज्ञान में सतत् विकास और परिवर्तन हो रहा है और इनमें कोई चरम निष्कर्ष या अन्तिम सत्य जैसा कुछ हो ही, यह आवश्यक नहीं।

प्रस्तुत पुरोवाक् में तत्तद विज्ञानों एवं मनोविज्ञान की विधाओं पर प्राप्यकारित्व के सन्दर्भ में विवेचन न केवल अनवकाश रूप होगा वरन् अनधिकार चेष्टा भी होगी। विद्वद्वरेण्य डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा जी के इस प्रयास की जितनी प्रशंसा की जाय वह कम ही होगी। ऐसे विषयों पर आजकल के तथाकथित आधुनिक अध्येताओं का ध्यान ही नहीं जाता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे सारस्वत प्रयास उद्धरणीय एवं शास्त्रोपकारी कहे जा सकते हैं। अस्तु हम आशा करते हैं कि वे इस विषय पर द्वितीय खण्ड भी प्रकाशित कर दार्शनिक जगत् का मार्ग दर्शन करेंगें और मनोविज्ञान एवं अन्य विज्ञान के शाखाओं के अधिकारिक विद्वानों के सहयोग से प्रस्तुत विषय पर नया प्रकाश उत्पन्न कर सकेंगे।

१.११.२००५
एम.पी. २३, मौर्य इन्क्लेव
पीतमपुरा, दिल्ली- ११६०८८

विद्वद्वशंवद:
सिद्धेश्वर भट्ट

प्रस्तावना

"भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद" नामधेय इस कृति का आयोजन, सम्पादन एवं यथासम्भव लेखन के उपरान्त आज इसे विज्ञापित करते हुए मुझे अतीव हर्ष हो रहा है। यह विषय भी, वास्तव में, ऐसा है जिसे हम परम्परा प्राप्त अपनी अकादमिक अभिरूचि से अंतरंग पाते हैं। 'पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भू...' इस श्रुति में इन्द्रियों की महत्ता लोक-प्रवृत्ति और लोक-उपरति दोनों ही दृष्टियों से प्रतिपादित हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्द्रियों की प्रस्थिति एवं भूमिका को संज्ञानात्मक दृष्टि से उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से भी संज्ञान-प्रक्रिया में इन्द्रियों के प्राप्याप्राप्य-प्रकाशकारित्व विषयक विचार को भारतीय प्रमाणशास्त्र का एक 'उपजीव्य प्रकरण' कहा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि प्रत्यक्ष के लिए एक ओर जहाँ उसका इन्द्रियवेद्य होना आवश्यक है वहीं दूसरी ओर प्रत्यक्षपूर्वक ही सभी परोक्ष प्रमाणों का अवतरण हो पाता है। यहाँ तक कि पौरूषेय मूल के शब्द प्रमाण भी आप्तप्रत्यक्ष के परार्थ रूप ही कहे जा सकते हैं।

प्रायश: भारतीय दर्शन के प्रमुख सभी सम्प्रदायों के आकर ग्रन्थों में इस प्रकरण से सम्बन्धित मूलभूत विचार बीज रूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। यदि किसी सन्दर्भ-विशेष में प्राप्यकारित्व अथवा अप्राप्यकारित्व का विचार प्रगत् रूप में उपलब्ध भी होता है तो उसे अकस्मात् और मध्यपाती चिन्तन ही समझना चाहिए। वास्तविकता यह है कि अपनी सम्पूर्ण निष्पत्तियों के साथ यह प्रकरण अवधारणीकृत नहीं होने के कारण प्रमाणमीमांसीय चर्चाओं में सम्प्रति अप्रचलित सा हो गया है। भारतीय दर्शन के अध्ययन में उसके मूल

स्रोतों से दुरावगति के चलते ऐसे विचार और भी अनवधानता के ग्रास बनते जा रहे हैं। जबकि भारतीय दर्शन में समानान्तर रूप से विकसित वैकल्पिक दृष्टिकोणों को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक उन्हें सूत्र, भाष्य एवं वार्त्तिक तथा प्रकराणादि ग्रन्थों में संवर्धित होते हुए न देखा जाय। भारतीय परम्परा की यह एक अत्युच्च विशेषता है कि इसने सत्य को जानने के सहस्रों द्वारों को खुला रखा है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस उदारता का, विकास के स्वारूढ़ प्रारूप में, वाहक बनें।

मानवीय संज्ञान-प्रक्रिया में प्रत्यक्ष का महत्त्व सर्वातिशायी है। एक ओर यह लोकव्यवस्था एवं लोकप्रतीति से जुड़ा रहता है तो दूसरी ओर मनुष्य की तात्त्विक अभिप्साओं का ज्ञानमीमांसीय सन्दर्भ बनता है। यदि प्रत्यक्ष को इस प्रकार से 'अधो-ऊर्ध्वाधर' छोरों वाला न माना जाय तो मनुष्य के मूल्यात्मक अभिनिवेश की कोई ज्ञानमीमांसा नहीं हो सकती। इसीलिए भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यक्ष को उपजीव्य होने का गौरव प्रदान किया गया है। परन्तु प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारी एवं अप्राप्यप्रकाशकारी भूमिका इतनी महत्त्वपूर्ण और निर्धारणात्मक है कि इसे प्रत्यक्ष की उपजीव्यता का भी उपजीव्य कहा जा सकता है। यद्यपि भारतीय दर्शनों की तंत्रकेन्द्रित प्रमाणमीमांसा में किन्हीं कारणों से प्राप्यकारित्ववाद के सभी गुण-सूत्रों का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि आधुनिक अवधारण में भी इसे भूला ही दिया जाये। द्रष्टव्य है कि प्रो. विमलकृष्ण मतिलाल की कृति 'परसेप्शन' जो भारतीय प्रमाणशास्त्र को वैश्वीय परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने वाला तुलनात्मक प्रमाणमीमांसा का एक उत्कृष्ट प्रबन्ध है, उसमें प्राप्यकारित्व, अप्राप्यकारित्व जैसे शब्द उल्लेखित होने से भी वंचित रहे हैं। ऐसे ही शंकर मठ, बंगलोर के शंकराचार्य द्वारा १९८५ ई. में "सेन्स परसेप्शन : सायन्स एण्ड शास्त्राज" विषय पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी जिसमें पारम्परिक आचार्यों सहित कुछेक मनोविज्ञान एवं भौतिक विज्ञान के वरिष्ठ अध्येताओं ने भी भाग लिया था। शारदा ट्रस्ट, श्री शारदापीठम्, श्रृंगेरी से प्रकाशित उस संगोष्ठी की पुस्तकाकार प्रोसिडिंग में भी लेश्यतोऽपि इन्द्रियों की प्राप्याप्राप्यप्रकाशकारिता की चर्चा नहीं हुई है जबकि इसके लिए वह एक सुन्दर अवसर था।

भारतीय दर्शन के नाम पर हो रहे आधुनिक अध्ययनों एवं चर्चाओं में ऐसे बहुतेरे मूलभूत विचारों की अनदेखी को देखकर किसे क्षोभ नहीं होगा। यह

बात अलग है कि इस प्रकार का क्षोभ किसके द्वारा, किस रूप में और कैसे रचनात्मक परिणति को प्राप्त होता है। हम इस प्रकरण को यथासम्भव संयोजित कर पाये, इसका सम्पूर्ण श्रेय पूज्यपाद स्वामी योगिन्द्रानन्द जी को जाता है, जिनके सान्निध्य में मुझे ऐसे विषयों में उपनीत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। अन्यथा इस कार्ययोजना में हम अपने सम्मानित सहयोगियों के वैदुष्य का न तो सदुपयोग कर पाते और न हि प्रस्तुत सामग्री को इस रूप में सम्पादित कर पाना सम्भव हो पाता। वास्तव में सबसे बड़ी कठिनाई थी विवेचनागत आक्षिप्त पुनरावृत्तियों को न्यूनतम करते हुए विचार को उसके पक्ष-विपक्ष सहित उचित दिशा में अग्रसारित करना। आलेखों के शीर्षक निर्धारण से लेकर व्याख्यागत अपेक्षित परिमार्जन करते हुए हमने सम्पूर्ण सामग्री को एक प्रकरणात्मक प्रबन्ध के रूप में विकसित करने का भरसक प्रयास किया है। इसमें त्रुटियों की सम्भावना को एकबारगी नकारा तो नहीं जा सकता लेकिन सुधार की सम्भावनायें भी कभी समाप्त नहीं होती।

मेरे द्वारा इस कार्ययोजना की अवचेतन शुरुआत तब से मानी जा सकती है जब अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ४९ वें अधिवेशन (श्रीनगर, गढ़वाल-२००३) में 'इन्द्रियप्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद' विषय पर एक सिम्पोजियम का आयोजन किया गया था। उस सिम्पोजियम में प्रकृत विचार के विलोपन जैसी स्थिति को देखकर मुझे अन्दर से बड़ी प्रेरणा हुई और तभी से हम इस कार्य में आत्मचेतन रूप से प्रवृत्त हुए। डॉ. रजनीश शुक्ल एवं डॉ. आनन्द मिश्र, जो अब तक के मेरे अकादमिक जीवन के अनन्य सहयोगी रहे हैं, दोनों ने इस कार्य की सम्पूर्ति में उपष्टम्भक की भूमिका निभाई है। एतदर्थ हम आत्मीय द्वय के प्रति उत्तरोत्तर सारस्वत प्रगति की शुभकामना करते हैं।

इस कार्ययोजना में, और ऐसे ही अन्य प्रसंगों में, आचार्य प्रवर श्याम मनोहर गोस्वामी जी और आचार्य प्रवर किशोरनाथ झा जी का मुझे जैसा आशीर्वाद एवं सहयोग प्राप्त होता रहता है उसे आजीवन शास्त्रसेवी होकर ही चुकाया जा सकता है। आचार्य द्वय के अहेतुक स्नेह को हम अपना परम सौभाग्य समझते हैं।

इस अवसर पर अपने अन्य सहयोगी विद्वानों - यथा प्रो. सागरमल जैन, प्रो. सोमनाथ नेने, प्रो. शंकरदयाल द्विवेदी, डॉ. मुरलीमनोहर पाठक एवं डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र के प्रति भी हृदय से आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने इस विषय पर लिखने के मेरे आग्रह को सारस्वत आमंत्रण नहीं बल्कि निमंत्रण

समझा और अपनी-अपनी विशेषज्ञता के अनुरूप 'प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद' के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करते हुए इस कार्ययोजना को सम्पूर्ति प्रदान किया।

आचार्य प्रवर सिद्धेश्वर भट्ट (दिल्ली) एवं डॉ. अच्युतानन्द दाश (सागर) इस कार्य में मेरी संलग्नता के अद्यतन साक्षी रहे हैं। प्रो. भट्ट ने इस ग्रन्थ का पुरोवाक् और डॉ. दाश ने अभिमत लिखकर अपनी-अपनी उदासीनता का उत्सर्ग किया, इसके लिए हम दोनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अन्त में विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर के उदीयमान प्रोपराइटर श्री राजेश केशरवानी और उनके साथ एक्टिव कम्प्यूटर्स के प्रोपराइटर श्री अजय जैन के प्रति भी शुभकामना प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपनी लगन और तत्परता से इस ग्रन्थ के समयबद्ध और सुन्दर प्रकाशन को सम्भव बनाया है।

अन्त में एतद् द्वारा हम अपने इस उपक्रम को इस सारस्वत आशा के साथ लोकार्पित करते हैं कि यह भारतीय दर्शन में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों, अध्येताओं एवं विद्वानों के लिए अनुग्राहक और उपकारक सिद्ध होगा।

सागर, २२.१०.२००५ — अम्बिकादत्त शर्मा



"चक्षुर्यत्र न गच्छति" श्रुतिरिति प्राह प्रमाणं परम् ।
श्रीकृष्ण स्वयमेत्य द्वापरयुगे चक्षुः प्रकाश्योऽभवत् ।।
प्राप्याप्राप्य विकाशकत्व विषये वादस्तु यश्चाक्षिणि ।
मच्चक्षुर्हि वृणातु तत्र स हरिः सन्देहहारी परः ।।

"चक्षुरिन्द्रिय जहाँ नहीं जाती है"-इन शब्दावलियों से श्रुति ने जिसे परम प्रमाण के रूप में वर्णित किया है; वही श्रीकृष्ण द्वापरयुग में स्वयं आकर चक्षुरिन्द्रिय के प्रकाश्य हुए । अतएव प्रधान व्यपदेशात् चक्षु के सम्बन्ध में जो प्राप्य और अप्राप्य प्रकाशकारित्व विषयक वाद प्रचलित है, उस विषय में वही परम सन्देहहारी हरि मेरे चक्षुरिन्द्रिय का आश्रय करें अर्थात् प्रत्यक्षगोचर होवें ।

1.

भारतीय दर्शन में
प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व वाद के शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तंत्रबद्धता रही है। आरम्भ से ही यहाँ पर दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व रहा है जो अपने कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास के स्वारूढ़ प्रारूप में विकसित होते रहे हैं। भारतीय दर्शनों के विकास की इस बहुध्रुवीय और तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता में एक अवस्था के बाद एक विशेष प्रकार की योजनाबद्धता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इस योजनाबद्धता के माध्यम से कुछ आधारभूत तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त विभिन्न दर्शनों की सम्प्रदाय केन्द्रित निष्ठा से ऊपर अपनी स्वायत्तता को स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। प्रकारान्तर रूप से विकसित ऐसे सिद्धान्तों की पहचान वैसे 'प्रकरणों' के रूप में की जा सकती है जिनका सरोकार भारतीय दर्शन के प्राय: सभी तंत्रों से रहा है और उन सभी तंत्रों के लिए तद् विषयक स्वपक्ष स्थापन एवं परपक्ष खण्डन अनिवार्य समझा जाता है। वास्तव में ऐसे ही सिद्धान्तों के माध्यम से भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपनी तंत्रबद्ध निष्ठा से बाहर आकर परस्पर आमने-सामने हुए हैं । इसी के चलते भारतीय दार्शनिक परम्परा में एक खुलापन आया और विभिन्न प्रकरणों के रूप में मूलभूत दार्शनिक समस्यायें उभरकर सामने आईं हैं। साथ ही साथ भारतीय दर्शन की आलोचनात्मकता का

इसी क्रम में अभूतपूर्व विकास भी हुआ है। यहाँ एक तथ्य जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह कि भारतीय दर्शनों का ऐसा विकास एकरेखीय रूप में नहीं हुआ, जैसा कि पाश्चात्य दर्शन में एक समय एक ही 'वाद' और दूसरे समय में दूसरे ही 'वाद' का प्रचलन रहता है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन की यह एक मौलिक विशेषता रही है कि यहाँ एक ही समय और एक ही साथ वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास होता रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन की विकासमानता ऊपर से दिखाई नहीं पड़ती और कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं, जबकि वैकल्पिक दृष्टियों, व्याख्याओं, यहाँ तक कि पुनर्व्याख्याओं की अन्त:सलिला भारतीय परम्परा में युक्तिमत् रूप से अनवरत वर्द्धमान रही है।

उपर्युक्त रीति से भारतीय दर्शन को योजनाबद्धता प्रदान करने वाले प्रमुख प्रमाणमीमांसीय सिद्धान्तों अथवा प्रकरणों, जिन्हें केन्द्र में रखकर वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास हुआ, उन्हें मोटे तौर पर संवित् प्रकाशवाद, ज्ञानाकारवाद, विषयतावाद, प्रामाण्यवाद, ख्यातिवाद, सन्निकर्षवाद, प्राप्यकारित्ववाद, प्रमाणसम्प्लववाद, प्रमाणान्तर्भाववाद, व्याप्तिवाद इत्यादि के रूप में इंगित किया जा सकता है। यद्यपि प्रकरणों की यह सूची अन्तिम नहीं है, बल्कि इनकी संख्या न्यूनाधिक रूप से बढ़ायी जा सकती है। यहाँ तक कि कुछ नये प्रकरणों की पहचान और पुराने को और अधिक विकसित किया जाना भी सम्भव है। इनमें से अधिकांश प्रकरणों का भूरिश: विकास भी हुआ है किन्तु कुछ प्रकरण ऐसे भी हैं जिन पर किन्हीं कारणों से अपेक्षित ध्यान दिया जाना सम्भव नहीं हो पाया। प्राप्यकारित्ववाद भारतीय प्रमाणमीमांसा का एक ऐसा ही उपेक्षित प्रकरण रहा है। अन्य प्रकारणों की तुलना में जबकि यह प्राचीन भी है और इसकी व्याप्ति भी अन्यों से कम नहीं आंकी जा सकती। न्याय, बौद्ध, जैन, मीमांसा एवं वेदान्त सम्प्रदाय के आकर ग्रन्थों में इस समस्या के पक्ष-विपक्ष में जैसे सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उससे इसके महत्त्व का अन्दाजा लगाया जा सकता है। तब भी प्रामाण्यवाद, ख्यातिवाद इत्यादि प्रकरणों की तरह इसका विकास नहीं हुआ। द्रष्टव्य है कि इस विषय को लेकर कोई एक भी 'प्रकरण ग्रन्थ'[1] नहीं लिखा गया। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ के आयोजन एवं सम्पादन के पीछे जो हमारी मूलभूत परिकल्पना रही है वह यह कि इस भूले-बिसरे प्रकरण को सम्यक् तया उद्घाटित करते हुए एतद्विषयक वैकल्पिक दृष्टिकोणों, व्याख्याओं एवं पुनर्व्याख्याओं को सामने लाया जाये। यह सम्भव है कि आज के वैज्ञानिक युग

में भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान एवं प्राणी तथा शरीर विज्ञान की दृष्टि से हमारे इस प्रयास की वैज्ञानिकता पर प्रश्न चिह्न लगाये जाँय; क्योंकि यह विषय भी ऐसा है कि प्राकृतिक विज्ञान की कुछ शाखायें उचित रूप से अपना हस्तक्षेप दर्ज कर सकती हैं और उन्हें करना भी चाहिए, परन्तु इससे हमारे प्रयास का महत्त्व "हिस्ट्री ऑफ आइडियाज" की दृष्टि से कम नहीं हो जाता। इस रूप में भी इस समस्या पर भारतीय दर्शनों में जो विचार हुआ है, वह प्राकृतिक विज्ञानों के लिए विचार-सामग्री के बतौर उपादेय इस अर्थ में हो सकता है कि उसकी सम्बन्धित शाखायें अपनी व्याख्या को यहाँ तक विस्तृत करें। एतदर्थ हम अपने इस प्रयास के औचित्य को वैज्ञानिक निर्धारण के रूप में न देखकर विचारों के इतिहास की दृष्टि से भी आत्मसात् कर सकते हैं। परन्तु बात ऐसी भी नहीं कि मन, मस्तिष्क, इन्द्रिय और अर्थ के आन्तर सम्बन्ध को पूरे तौर से समझते हुए प्राकृतिक विज्ञानों के द्वारा मानवीय संज्ञान की प्रक्रिया को अन्तिम रूप से निर्धारित किया जा चुका है। अभी भी बहुत से प्रश्न अनसुलझे ही हैं और आधुनिक मनोविज्ञान का एस.ओ. आर. फार्मूला[२] संज्ञान-प्रक्रिया की अत्यन्त जटिल संरचना को सर्वतोभावेन सुलझाने का दावा नहीं कर सकता है।

भारतीय ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की समस्या इन्द्रियों की कार्यप्रणाली अथवा कहें तो संज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञानेन्द्रियों की प्रस्थिति और भूमिका से सम्बन्धित है। प्राप्यकारित्व का साधारण तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को स्वयं के अधिष्ठान में अथवा विषय देश में ही प्राप्त कर प्रकाशित करती हैं। इसके विपरीत अप्राप्यकारित्व का अर्थ यह निकलता है कि इन्द्रियों एवं उनके विषयों के बीच किसी प्रकार का प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं घटित होता फिर भी इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्रकाशित करने की स्वरूप योग्यता रखती हैं। जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है, ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति के प्राकृतिक साधन हैं। इन्हीं के द्वारा कोई भी सेन्द्रिय प्राणी अपने चारों तरफ के वातावरण की प्राथमिक संसूचना ग्रहण करता है और अपने वातावरण से सन्तुलन बनाने में समर्थ होता है। प्रमाणशास्त्रीय दृष्टि से इन्द्रियों का महत्त्व प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के साधनभूत होने में है और यही ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष परोक्ष प्रकार के सभी ज्ञानों का उपजीव्य होता है। अब यदि इन्द्रियों की प्रस्थिति पर विचार करें तो इस सन्दर्भ में न्याय दर्शन की यह बात बहुत मौलिक है कि इन्द्रियाँ शरीर से संयुक्त, ज्ञान का करण और अतीन्द्रिय होती हैं (शरीर संयुक्त ज्ञानकारणमतीन्द्रियं, इन्द्रियम्)[३]। इन्द्रियों का शरीर-संयुक्त, होना उनके संज्ञान-

क्षेत्र की सीमा का निर्धारण है और ज्ञान का करण होना उस सीमा क्षेत्र में उनकी विषयी भावापन्नता है तथा अतीन्द्रिय होना उनकी विषयापेक्षा अर्थात् केवल और केवल बहिर्गति (पराञ्चिखानि) को दर्शाता है। वास्तव में इन्द्रियों की प्रस्थिति के निर्धारक ये तीनों घटक मिलकर ही उनकी भूमिका को तय करते हैं। शरीर-संयुक्त इन्द्रियों की प्रस्थिति पर विचार करने से स्पष्ट ही विदित होता है शरीर की बनावट में सबसे निम्नभाग पर और भाग तक त्वगिन्द्रिय होती है और क्रमशः उर्ध्व भाग पर रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय होती है। ध्यातव्य है कि जो इन्द्रिय शरीर के जितने उर्ध्व भाग में होती है, उसका संज्ञान-क्षेत्र न्यूनाधिक रूप से उतना ही विस्तृत होता है। इस तरह त्वक् से चक्षु पर्यन्त इन्द्रियाँ शरीर को केन्द्र अथवा अवधि बनाकर एक 'संज्ञान-क्षेत्र' का निर्माण करती हैं। प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का प्रश्न प्रासंगिक रूप से यहीं उठता है और वास्तव में इसका विचार भी इसी संज्ञान-क्षेत्र के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। भारतीय परम्परा में दिव्य ऐन्द्रिक शक्ति के भी उदाहरण मिलते हैं लेकिन प्रकृत प्रसंग के लिए यह एक अवान्तर प्रसंग है। यदि इस अवान्तर प्रसंग का प्राप्यकारित्ववाद से कोई आन्तर-सम्बन्ध बनता भी है तो इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

इन्द्रियों के संज्ञान- क्षेत्र के बाद प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के लिए जो आधारभूत महत्त्व की बात है वह है इन्द्रियों के विषय का वर्गीकरण। प्रत्येक इन्द्रियों के अपने-अपने निर्धारित विषय हैं। कोई भी इन्द्रिय किसी दूसरे के विषय क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं कर सकती। इस सन्दर्भ में इन्द्रियाँ सम्प्लव के विपरीत कठोरता से 'व्यवस्था के नियम' का अनुपालन करती हैं। इन्द्रियों में त्वगिन्द्रिय-स्पर्श, जिह्वेन्द्रिय-रस, नासिकेन्द्रिय-घ्राण, कर्णेन्द्रिय-शब्द, चक्षुरिन्द्रिय-रूप और मनेन्द्रिय-सुख-दुख आदि विषयों का ग्रहण करते हैं। ऊपर से देखने पर यह कहा जा सकता है कि इस रूप में इन्द्रियों के विषय का निर्धारण उनकी स्वरूप-योग्यता है लेकिन अन्दर से देखने पर यह कारणमूलक सिद्ध होता है। भारतीय दर्शन में इन्द्रियों की उत्पत्ति पर 'कॉसमोलॉजिकल' प्रश्न उठाकर उनके उपादान का विचार किया गया है। ऋग्वेद[4] में विराट् पुरुष की इन्द्रियों से देवताओं और देवताओं से व्यष्टि पुरुष में इन्द्रियों के उत्पत्ति क्रम की व्यवस्था बताई गई है। इसका स्पष्ट संकेत पुरुष सूक्त- चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ में प्राप्त होता है। ऐतरेय उपनिषद्[5] में इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए

कहा गया है - अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत् । वायु: प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् । आदित्यश्चक्षुषी भूत्वाक्षिणी प्राविशत् । दिश: श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत् । औषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन् । चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत् । मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत् । आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् । अर्थात् विराट् पुरुष स्थित देवताओं- अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्, औषधि-वनस्पति, चन्द्रमा, मृत्यु और अप् ने व्यष्टि पुरुष के शरीस्थ मुख, नासिका, अक्षि, कर्ण, त्वक्, हृदय, नाभि और रेतस् होकर प्रवेश किया । महाभारत[6] में भी इन्द्रियों की कॉसमोलॉजी बड़े ही सुसंगत ढंग से इस प्रकार बतायी गई है । वह इस प्रकार है :

भूत	अध्यात्म	अधिभूत	अधिदैवत
आकाश	श्रोत्र	शब्द	दिक्
वायु	त्वक्	स्प्रष्टव्य	विद्युत्
अग्नि	चक्षु:	रूप	सूर्य
अप्	जिह्वा	रस	सोम
पृथ्वी	घ्राण	गन्ध	वायु
~	पाद	गन्तव्य	विष्णु
~	पायु	विसर्ग	मित्र
~	उपस्थ	शुक्र	प्रजापति
~	हस्त	कर्म	शक्र
~	वाक्	वक्तव्य	वह्नि
~	मन	मन्तव्य	चन्द्रमा
~	बुद्धि	विज्ञेय	ब्रह्मा

पुन: महाभारत[7] में कहा गया है कि - करणं कर्मकर्त्ता च मोक्ष इत्येव भामिनि । चत्वार एते होतारो यैरिदं जगदावृतम् ॥ अर्थात् करण, कर्म, कर्त्ता तथा मोक्ष में ही समस्त जगत् व्याप्त रहता है । करणादि - त्रय का यथावत् ज्ञान ही मोक्ष है । अत: शेष तीन की व्यवस्था इस प्रकार बताई गई है । यही व्यवस्था सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों में भी न्यूनाधिक रूप से मान्य की गई है ।

करण =	गुण हेतु	घ्राण	जिह्वा	चक्षु	त्वक्	श्रोत्र	मन	बुद्धि
	कर्म हेतु	गन्ध	रस	रूप	स्पर्श	शब्द	मन्तव्य	बोद्धव्य
	कर्तृ हेतु	घ्राता	रसयिता	द्रष्टा	स्प्रष्टा	श्रोता	मन्ता	बोद्धा

उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि मुख्य रूप से पंच

ज्ञानेन्द्रियों के उपादान का विचार पंचमहाभूतों के सन्दर्भ में किया गया है। जिस इन्द्रिय का उपादान जो महाभूत है उसी का प्रधान गुण उस इन्द्रिय का विषय बनता है, अर्थात् उसी की ग्रहण-क्षमता उसमें निरपवाद रूप से होती है। संक्षेप में इस व्यवस्था को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

महाभूत	इन्द्रिय	विषय	महाभूतों के प्रधान गुण
पृथ्वी	घ्राणेन्द्रिय	गन्ध	पृथ्वी का व्यावर्त्तक गुण
जल	जिह्वेन्द्रिय	रस	अप् का व्यावर्त्तक गुण
तेज	चक्षुरिन्द्रिय	रूप	अग्नि का व्यावर्त्तक गुण
वायु	त्वगिन्द्रिय	स्पर्श	वायु का व्यावर्त्तक गुण
आकाश	श्रोत्रेन्द्रिय	शब्द	आकाश का व्यावर्त्तक गुण

इस व्यवस्था की पुष्टि भारतीय चिकित्सा शास्त्र में भी की गई है। सुश्रुत[८] का मत है कि इन्द्रियों द्वारा उसी विषय का ग्रहण होता है जिसकी जिसके साथ उपादानगत तुल्यता रहती है। अन्य इन्द्रियों से अन्य उपादानभूत विषय का ग्रहण नहीं होता। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें ऐन्द्रिय विषय-ग्रहण योग्यता को ईश्वरेच्छा या विचित्र प्राकृत परिणाम पर न डालकर दोनों में योनिमूलक एकता की स्थापना की गई है (इन्द्रियाणीन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानव: । नियतं तुल्ययोनित्वान्नन्येनान्यमिति स्थिति: ॥)।

इस प्रकार महाभूत योनि के द्वारा प्रत्येक इन्द्रियों से वेद्य होने वाले विषयों के निर्धारण के पश्चात् इन्द्रियों की कार्य प्रणाली अथवा विषयग्रहण की प्रक्रिया में 'मध्यम' का विचार भी अनुषंगी रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। वस्तुत: ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में आलोकादि सहकारी कारण ही 'माध्यम' की भूमिका में होते हैं और इनकी भूमिका भी इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के लिए परिप्रेक्ष्य का निर्माण करती है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में सीधे-सीधे इन्द्रियों की कार्यप्रणाली के सन्दर्भ में 'माध्यम' का विचार नहीं किया गया है लेकिन प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व का निर्धारण करते हुए कई प्रसंगों में इस तथ्य को ध्यान में रखा गया है। बौद्ध दर्शन की पाली परम्परा[९] में चक्षुर्विज्ञान के लिए आलोक, श्रोत्रविज्ञान के लिए आकाश एवं घ्राण, जिह्वा तथा कायेन्द्रिय के लिए क्रमश: वायुधातु, अपधातु और पृथ्वीधातु का विचार सहकारी कारण रूप माध्यम के तौर पर ही है। साथ ही साथ इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण की प्रक्रिया में माध्यमों के योगायोग के अनुसार प्राप्या-प्राप्यकारित्व का निर्धारण किया गया है।[९] ऐसे ही महाभारत में इन्द्रियों के भूत, अध्यात्म, अधिभूत और

अधिदैवेत का जो विचार किया गया है उसमें अधिदैवतों की भूमिका माध्यम के रूप में भी स्वीकार की जा सकती है। उदाहरण के लिए पंच ज्ञानेन्द्रियों के अधिदैवतों में श्रोत्र के लिए दिक्, त्वक् के लिए विद्युत, चक्षु के लिए सूर्य, जिह्वा के लिए सोम और घ्राण के लिए वायु की व्यवस्था मान्य की गई है। ऐसे ही न्याय, मीमांसा और वेदान्त आदि दर्शनों में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को स्पष्ट करने के लिए वीचीतरंग न्याय, कदम्बमुकुल न्याय तथा सौर आलोकादि का जो दृष्टान्त बनाया जाता है उसमें भी वायु, तेज, आकाश इत्यादि को माध्यम रूप से ही प्रयुक्त किया जाता है। अतएव कहा जा सकता है कि इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके द्वारा विषय ग्रहण की प्रक्रिया में सहकारी कारण रूप से 'माध्यम' का विचार तो किया गया है लेकिन इन्द्रियों की प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता के सन्दर्भ में माध्यमों की भूमिका को और अधिक सर्तकता से तय करने की आवश्यकता है।

वास्तव में देखा जाय तो इस रूप से 'माध्यम' का विचार स्वयं इन्द्रियों के लिए उतना अपेक्षित नहीं है जितना कि रूप-शब्दादि विषयों के इन्द्रियग्राह्य होने के लिए अपेक्षित है। वस्तुत: जिस प्रकार अलग-अलग इन्द्रियों में अलग-अलग विषयों के ग्रहण-प्रकाशन की योग्यता होती है उसी प्रकार अर्थों में भी अर्थ्यमानता होती है। अर्थग्रहणेनार्थ्यमानतया ज्ञेयस्वरूपयोग्तादर्शिता[10] अर्थात् अर्थ की अर्थ्यमानता का अभिप्राय उनकी ज्ञेयस्वरूप योग्यता है। प्रकृत प्रसंग में 'माध्यम' का विचार अर्थों की अर्थ्यमानता के लिए अनुग्राह्य और उपकारक रूप से ही उपादेय है। यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि रूप-शब्दादि विषय जिस-जिस माध्यम से इन्द्रियग्राह्य होते हैं, वे सभी माध्यम इन्द्रियों के लिए प्राप्यकारी परिपेक्ष्य का निर्माण करते हैं अथवा अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य ? प्रथमदृष्टया माध्यम का विचार इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का ही समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है लेकिन गम्भीरता से विचार करने पर विदित होता है कि कुछेक माध्यम अपनी विशेषता के कारण इन्द्रियों के लिए अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य का भी निर्माण करते हैं। उदाहरण के लिए कुछ माध्यम सप्रतिघ और अनुग्राहक प्रकृति के होते हें। इनकी विशिष्टता यह है कि ऐसे माध्यम इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का संवहन करते हैं। गंध, स्पर्श और रसना के लिए अपेक्षित माध्यम इसी कोटि में रखे जा सकते हैं। इन माध्यमों के द्वारा विषय को इस रूप में उपलब्ध ही किया जाता है कि उनका इन्द्रियों के द्वारा प्राप्यकारी रूप से ही ग्रहण हो पाता है। इसके विपरीत कुछ माध्यमों की प्रकृति अप्रतिघ

और उपकारक किस्म की होती है। इनकी विशिष्टता यह है कि ये इन्द्रियग्राह्य विषयों के सूक्ष्म परमाणुओं का लेश्यतोऽपि भी संवहन नहीं करते हैं। आकाश-दिक् और प्रकाश जैसे माध्यम इसी कोटि के होते हैं। इसलिए ऐसे माध्यम शब्द-रूपादि विषयों के अप्राप्यकारी ग्रहण में बाधक नहीं बनते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो प्रकृत प्रसंग में सप्रतिघ माध्यम अनुग्राहक होने के कारण अपने विषय की महाभूत परम्परा का प्रसार करते हैं जबकि अप्रतिघ माध्यम उपकारक मात्र होने के कारण अपने विषय की महाभूत परम्परा का किंचित् भी प्रसार नहीं करते। अत: सप्रतिघ एवं अप्रतिघ भेद से तथाकथित 'माध्यम' इन्द्रियवेद्यत्व के प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनों ही परिप्रेक्ष्यों का निर्माण करते हैं।[10] सप्रतिघ और अप्रतिघ माध्यम की दृष्टि से भारतीय दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्दग्रहण की प्रक्रिया बहुत विवादास्पद है। कुछ दर्शन शब्द और श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशीय योनि से जोड़ते हैं जबकि कुछ इसे वायवीय योनि का मानते हैं। प्रथम दृष्टि से आकाश 'शब्द' का उपकारक होता है जबकि दूसरी दृष्टि से वायु 'शब्द' का अनुग्राहक बनता है। इसी कारण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द-ग्रहण को लेकर अप्राप्यकारी और प्राप्यकारी दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं।

पुन: इन्द्रियों द्वारा विषयग्रहण की प्रक्रिया में माध्यमों की भूमिका के अतिरिक्त उनके प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व जो प्रभावित करने वाले एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष के रूप में 'प्रत्यासत्ति' के प्रारूप सम्बन्धी विचार को लिया जा सकता है। साधारणतया प्रत्यासत्ति शब्द का प्रयोग ज्ञान के प्रसंग में किया जाता है लेकिन इसका विशेष अर्थ दृश्य-दर्शन सम्बन्ध में घटित होने वाले ज्ञान के उस प्रारूप से है कि उत्पन्न होने वाला ज्ञान किस रूप से घटित होता है।[11] अवधेय है कि इन्द्रिय, विषय और तथाकथित माध्यमों का समान देशकालवर्ती होना ही 'इदं दृष्टं, इदं श्रुतं, इदं वेदम्' के लिए पर्याप्त नहीं बल्कि प्रत्यासत्ति भी आवश्यक है। पुन: इन्द्रियवेद्यत्व के लिए किसी एक ही प्रकार की प्रत्यासत्ति को स्वीकार किया जाय, यह भी अनिवार्य नहीं है। इन्द्रियों की प्रकृति और विषयों को उपस्थित करने वाले सहकारी कारण रूप माध्यमों में भेद होने से प्रत्यासत्ति के प्रारूपों में भी अन्तर किया जा सकता है। इस अन्तर के द्वारा भी इन्द्रियों की प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी परिप्रेक्ष्य में भेद होना स्वाभाविक ही है। अतएव प्रकृत समस्या पर इस दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। ऐसा भी नहीं कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्रत्यासत्ति परक भेद को ध्यान में न रखा गया हो। देखा जाय तो साक्षात् प्रमिति के कारण

की व्याख्या में इन्द्रियकारणता और ज्ञानकारणता तथा दोनों के अवान्तर भेदों में जो अन्तर किया गया है, वह कहीं न कहीं से प्रत्यासत्तिभेद मूलक ही प्रतीत होता है। यह बात अलग है कि प्रत्यासत्तिभेद के सम्भावित विकल्पों के सन्दर्भ में प्राप्यकारिता एवं अप्राप्यकारिता का विचार नहीं किया गया है। एक ओर ज्ञान का विविध रूप से घटित होना और दूसरी ओर साम्प्रदायिक अधि-मान्यताओं के अनुरूप उसे व्याख्यायित करने की प्रवृत्ति के क्रम में प्रत्यासत्ति के विभिन्न भेदों को रेखांकित किया जा सकता है। यह विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्यों की तरह संयोगरूपा प्रत्यासत्ति, वर्णाकृति और दर्पणादि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बरूपा प्रत्यासत्ति, सदृशवस्तु के दर्शन से उद्बुद्ध संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्य-भावरूपा प्रत्यासत्ति, गन्धस्पर्शादि और त्वचानासिकादि इन्द्रिय की तरह ग्राह्यग्राहक-भावरूपा प्रत्यासत्ति, घटप्रदीपादि की तरह प्रकाश्यप्रकाशक-भावरूपा प्रत्यासत्ति, आत्मचेतना और अहंकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूप इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासत्ति, अन्त:करणा-वच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य में तदात्म्यभावरूपा प्रत्यासत्ति तथा लौह पिण्ड एवं अयस्कान्तमणि की तरह आकर्ष्य-आकर्षण-भावरूपा प्रत्यासत्ति नामक विभिन्न प्रकार का हो सकता है। यद्यपि साक्षात् प्रमिति के सन्दर्भ में प्रत्यासत्ति के उपर्युक्त सभी विकल्पों की व्याख्या और निर्धारण एक कठिन कार्य है तथापि इन्द्रियों की प्रकृति और योग्यता में स्फुट अन्तर को ध्यान में रखते हुए कम से कम ग्राह्यग्राहक - भावरूपा प्रत्यासत्ति, प्रकाश्यप्रकाशक-भावरूपा प्रत्यासत्ति एवं बिम्बिप्रतितिम्ब - भावरूपा प्रत्यासत्ति का विचार प्रकृत प्रसंग में अवश्य किया जाना चाहिए। इन तीनों विकल्पों में पहले को प्राप्यकारिता से जोड़ा जा सकता जो रसना, त्वचा और घ्राणेन्द्रिय के साथ ठीक बैठता है। शेष दो विकल्प अप्राप्यकारी सम्भावनाओं को प्रस्तुत करते हैं और उनकी संगति न्यूनाधिक रूप में चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रिय से बैठती है।

इस प्रकार इन्द्रियों की कार्यप्रणाली के विभिन्न घटकों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता का निर्धारण किसी एक परिप्रेक्ष्य में नहीं किया जा सकता। ऊपर जिन-जिन परिप्रेक्ष्यों की विवेचना की गई है, वे सभी मिलकर इन्द्रियों की प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी भूमिका का निर्धारण करते हैं। भारतीय दर्शन में प्रकृत समस्या पर विचार करते हुए उपर्युक्त परिप्रेक्ष्यों पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया है बल्कि इससे सम्बन्धित जो प्रारम्भिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे सभी लोकबुद्धि पर आधारित और विविध

दृष्टान्तों के सहारे प्रकृत विचार का स्पष्टीकरण करने वाले कहे जा सकते हैं। बाद में भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसा और तदनुरूप प्रमाणमीमांसा की अवधारणात्मक मांग जैसे-जैसे स्पष्ट और दृढ़ होती गई वैसे-वैसे प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की व्याख्यायें साम्प्रदायिक वासनाओं से रूषित होकर जटिल होती गई हैं। कुमारिल भट्ट[12] अपने श्लोकवार्त्तिक में प्रकृत समस्या की समीक्षा करते हुए हमें सूचित करते हैं कि प्राप्यकारित्ववादी विचार के आद्य प्रस्तावक वास्तव में सांख्य दार्शनिक रहे हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन के सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में इस समस्या की चर्चा उतने विस्तार से नहीं मिलती जितने की कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों में मिलती है। न्यायसूत्र[13] के परीक्षा प्रकरण में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का पक्ष पूर्वपक्षसहित उठाया गया है लेकिन वहाँ पूर्वपक्ष के ऐतिहासिक पहचान को सुनिश्चित करना एक कठिन कार्य है। सम्भवत: इस पूर्वपक्ष को नागार्जुन की रचनाओं में न्यूनाधिक रूप से देखा जा सकता है क्योंकि नागार्जुन[14] के ग्रन्थों में ऐसे विचार मिलते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा विषय-ग्रहण सम्भव ही नहीं है। तब भी नागार्जुन के ऐसे विचार को अप्राप्यकारित्ववाद का आद्य प्रस्ताव नहीं कहा जा सकता। हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का विरोध सर्वप्रथम बौद्ध और वैयाकरणों के मत में उद्भावित हुआ है। बौद्धदर्शन की पाली परम्परा में इन्द्रियों के सम्प्राप्तग्राहित्व और असम्प्राप्तग्राहित्व का विचार विवेचित रूप से मिलता है। इसी को कालान्तर में आगे बढ़ाते हुए दिङ्नाग ने नैयायिकों के इस मत का प्रबल विरोध किया कि इन्द्रियाँ नियम से प्राप्यकारी होती हैं। वस्तुत: इसी विरोध के परिणामस्वरूप ही भारतीय दर्शन में प्रकृत समस्या का दार्शनिक विस्तार हुआ है। नैयायिकों की विचार पद्धति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के बिना साक्षात्कारी ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती और इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष इन्द्रियों को प्राप्यकारी माने बिना सम्भव नहीं। अत: प्राप्यकारित्ववाद का आद्यन्त समर्थन नैयायिकों के लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु देखा जाय तो नैयायिकों ने सन्निकर्ष का निर्धारण और व्यवस्थापन प्राप्यकारिता की आधारभूत परिस्थितियों के अनुरूप नहीं किया है बल्कि प्राप्यकारित्व की अतिचारमूलक व्याख्या करते हुए उसे अपेक्षित सन्निकर्ष तक खींचने का अतिरेक प्रयास किया है। चक्षु से ज्योति का निकलना, इन्द्रियों का विषयदेश तक गमन करना, शरीर संयुक्त और शरीर वियुक्त रूप से इन्द्रियों का अर्थ से सन्निकर्ष स्थापित करना, सभी इन्द्रियों को

बाह्येन्द्रिय मानकर उनकी कार्यप्रणाली में आनुमानिक एकता स्थापित करना इत्यादि सन्निकर्ष सापेक्ष प्राप्यकारिता के ही लक्षण कहे जा सकते हैं, प्राप्यकारिता सापेक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के नहीं।

नैयायिकों के पश्चात् मीमांसकों ने प्राप्यकारित्ववाद के समर्थन में अग्रणी भूमिका निभाई है। कुमारिल ने बौद्धों के प्रत्युत्तर हेतु जैसा सशक्त प्रयास किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। परन्तु इस सन्दर्भ में कुमारिल की यह बात समझ में नहीं आती कि उन्होंने इस समस्या को सांख्यवादियों का पक्ष बताकर स्वयं को पक्षधर क्यों बनाया है ? पुन: इस बात के लिए वे अपनी ओर से कोई स्पष्टीकरण भी प्रस्तुत नहीं करते हैं। कुमारिल की इस गुप्त योजना पर विचार करने से मुझे ऐसा लगता है कि वे ऐसा करते हुए एक पंथ और दो काज को सिद्ध करते हैं। अवधेय है कि शंकराचार्य ने सांख्यों को अशाब्दिक कहते हुए उनके अपौरुषेय श्रुतिवाद के विरोधी होने का संकेत किया है। साथ ही साथ प्राचीन सांख्यों की कतिपय मान्यताओं में सर्वज्ञता जैसी अवधारणा के बीज भी विद्यमान थे, इस बात को नकारा नहीं जा सकता। अब कुमारिल सांख्यों को प्राप्यकारित्ववाद का पक्षकार बनाकर न केवल बौद्धों के प्राप्यकारित्व विरोधी युक्तियों का उनकी ओर से प्रत्युत्तर देते हैं बल्कि श्रमण परम्परा में विकसित हो रहे सर्वज्ञता की अवधारणा के खण्डन के लिए आधार भी निर्मित कर लेते हैं। मीमांसकों द्वारा सर्वज्ञता के खण्डन हेतु विरोध में प्रस्तुत की गई युक्तियों में इस आशय को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि सर्वज्ञता की सम्भावना ही श्रमण परम्परा में आम्नाय के समानान्तर आगम प्रामाण्य को आधार प्रधान करता है। इस प्रकार प्राप्यकारित्ववाद का सांख्यपक्षीय पक्षधर होने में कुमारिल एक अवान्तर लक्ष्य "श्रुति की परमोच्चता" को साधते हुए सांख्यों को स्वयूथ्य में सम्मिलित करना प्रतीत होता है।

भारतीय दर्शन में, इसके पश्चात्, इन्द्रियों के प्राप्यकारित्वा-प्राप्यकारित्व का विकास एक भिन्न दृष्टिकोण से हुआ है। इस विकास की केन्द्रीय दृष्टि सन्निकर्ष की अवधारणा के समूल विरोध और साथ ही साथ प्राप्यकारित्ववाद के समर्थन में फलित होती है। अवधेय है कि न्याय और मीमांसा दर्शन में ज्ञान की व्याख्या गुण और कर्म के रूप में की गई है, वहीं सांख्य से लेकर वेदान्त और उससे आगे शैव, काश्मीर शैव दर्शन तक इसे चेतना में विषयाकार वृत्ति रूप से व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है। विषयाकार वृत्ति की अवधारणा और प्रक्रिया को लेकर साम्प्रदायिक भेद यद्यपि बहुत सूक्ष्म रहे हैं लेकिन एक

की आवश्यकता नहीं है जैसा कि नैयायिक इसे सर्वतंत्रस्वतंत्र मान बैठे थे। इसीलिए इन दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा सन्निकर्षवाद को पूर्वपक्ष बनाकर उसका भूरिशः खण्डन किया गया है। परन्तु इससे इन्द्रियों के द्वारिभाव पूर्वक प्राप्यकारिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता बल्कि इस प्रक्रिया में चेतना के विषयाकार परिणाम हेतु इन्द्रियों की प्राप्यकारिता अथवा इन्द्रियों की विषयाकारमूलक प्राप्यकारिता और अधिक पुष्ट रूप में अक्षुण्ण ही बनी रहती है। वस्तुतः प्राप्यकारित्ववाद की इस दिशा में विकसित होने से जो एक नई बात निर्णायक रूप से उभरकर सामने आई वह यह कि इन्द्रियों का अपना-अपना स्वभाव महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि चेतना, मन, बुद्धि, अन्तःकरण में होने वाले विषयाकार परिणाम के परिच्छेद के लिए परिच्छेक इन्द्रियाँ ही हो सकती हैं। और तब इन्द्रियों के स्वभाव को महत्त्व देना अपरिहार्य हो जाता है। इस रूप से इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण में नैसर्गिक योग्यता रूप स्वभाव को महत्त्व देना स्वयं नैयायिकों एवं मीमांसकों के लिए भी किसी न किसी रूप में आवश्यक है लेकिन वे विविध प्रकार के परस्पर जुड़े हुए सन्निकर्षों को मानकर इसे गड्डमगड्ड कर देते हैं। नैसर्गिक योग्यता की अवधारणा में जो एक कठिनाई है वह यह कि योग्यता यावद् द्रव्यभाविनी होती है, अतः सर्वदा प्रत्यक्ष को स्वीकार करना होगा। नैयायिकादि इसका समाधान सन्निकर्ष रूप विशेष सम्बन्ध मानकर करते हैं फिर भी सन्निकर्षवाद की अन्य कठिनाईयाँ भी अन्य सन्दर्भों में विचारणीय हैं। वृत्तिवादी दार्शनिक इस समस्या का समाधान मन अथवा अन्तःकरण को इन्द्रियों के उन्मुखीकरण का दायित्व प्रदान कर सकते हैं।

द्रष्टव्य है कि इन्द्रियों की नैसर्गिक योग्यता की बात को बौद्धों एवं व्याकरण की परम्परा ने बहुत गहराई से पकड़ा है। यद्यपि दोनों अपने-अपने तरीके से वृत्तिवादी गोत्र के ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि व्याकरण मत में विषयग्रहण 'बुद्धिविपरिणाम'[२५] रूप से तो बौद्धमत में 'सारूप्यभावेन'[२६] होता है, लेकिन दोनों परम्पराओं में इन्द्रियों की योग्यता को नियम से प्राप्यकारी नहीं माना गया है। आद्योपान्त रूप से विचार करने पर व्याकरण मत इन्द्रियमात्र के अप्राप्यकारित्व में पर्यवसित हो जाता है तो बौद्धमत में चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रिय की स्वरूप योग्यता अप्राप्यकारी एवं शेष की प्राप्यकारी योग्यता ही निर्धारित की गई है। इसके अतिरिक्त बौद्ध ज्ञान की कारण सामग्रियों के बीच किसी प्रकार का सन्निकर्ष नहीं मानते, बल्कि उनका सन्निपात (त्रिक सन्निपात) स्वीकार करते हैं। अब यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों की स्वरूप योग्यता

उनके प्राप्यकारी होने में है अथवा अप्राप्यकारी होने में ? मेरे विचार से इन्द्रिय मात्र के लिए ऐसा कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। इन्द्रियों की विषयग्रहणात्मक स्वरूप योग्यता का निर्धारण उनकी महाभूत योनि से एवं उन माध्यमों से होती है जो विषय को अर्थ्यमान बनाते हैं। इस पर विचार करते हुए हमने पूर्व में ही दिखाया है कि इन्द्रियों की स्वरूप योग्यता के निर्धारक घटक दोनों प्रकार के अर्थात् प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी योग्यता की सम्भावना प्रस्तुत करते हैं। अत: अलग-अलग दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी अधिमान्यताओं के अनुरूप विषयग्रहण की सम्यक् व्याख्या के लिए इन्द्रियों की स्वरूप योग्यता के अतिरिक्त कुछ और भले ही स्वीकार करें लेकिन जहाँ तक उनकी स्वरूप-योग्यता के प्राप्यकारी अथवा अप्राप्यकारी होने का प्रश्न है तो इन्द्रिय भेद पूर्वक दोनों को स्वीकार करना ही अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व वाद भारतीय दर्शन का एक ऐसा 'प्रकरण' है जिसकी परिव्याप्ति उसके सम्पूर्ण प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन से है। यह जितना आधारभूत उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण कि इस प्रकरण की प्रकृति निर्धारणात्मक है और ऐसा होने से इसकी एक अपनी स्वायत्तता है। यह प्रमाणमीमांसा के अन्य अंतरंग अवयवों की तरह उतना लचीला भी नहीं कि इसका सुविधापेक्षी उपयोग किया जा सके। किसी प्रमाणमीमांसा के प्रति इन्द्रियों की प्राप्याप्राप्यकारी भूमिका बाहर से समर्थन देने वाले घटक के रूप में होती है। अतएव इसकी निर्धारणात्मकता को किसी प्रमाणमीमांसा विशेष की आन्तरिक अपेक्षाओं के अनुरूप आसानी से ढ़ाला भी नहीं जा सकता। अवधेय है कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में वैकल्पिक दृष्टिकोणों का विकास अधिप्रमाणमीमांसीय रूप से हुआ है। इसीलिए विभिन्न दर्शनों की प्रमाणमीमांसा पर उनकी तत्त्वमीमांसा का अधिशासन सर्वत्र दिखाई पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह देखना अत्यन्त रोचक हो सकता है कि इन्द्रियों की प्राप्यकारी एवं अप्राप्यकारी भूमिका को भारतीय दर्शनों की सम्प्रदाय केन्द्रित प्रमाणमीमांसा और तज्जनित वैकल्पिक दृष्टिकोणों के साथ किस तरह आत्मसात् किया गया है। इस रूप में यह न केवल रोचक बल्कि भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन की आधारिक समझ और उसमें गहरे पैठ के लिए आवश्यक भी है।



सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ -

१. शास्त्रैकदेश सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरेस्थितम्।
आहु: प्रकरणं नामं ग्रन्थ भेद विपश्चिताम्॥
पाराशरोपपुराण - अ. १८

२. द्रष्टव्य - समेकित दार्शनिक विमर्श (सम्पा. अम्बिकादत्त शर्मा) विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर २००५ - पृ. ३३१

३. केशव मिश्र, तर्कभाषा पृ. ३२

४. ऋग्वेद - १०-३०-१३,१४

५ ऐतरेय उपनिषद् - २/४

६. महाभारत - १४।४२।२७-३९

७. वही - १४।२५।३ एवं प्रश्नोपनिषद् ४।८

८. सुश्रुतसंहिता - १।१९

९ द्रष्टव्य - इसी ग्रन्थ में सम्पादित लेख "बौद्ध दर्शन में इन्द्रियों का योग्यतामूलक सम्प्राप्त - असम्प्राप्त-ग्राहित्व"।

१०. वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका - पृ. १०९, सम्पा.-राजेश्वर शास्त्री द्रविड, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

११. धर्मकीर्ति - प्रमाणवार्त्तिक (मनोरथनन्दी) २।३२४-

१२. कुमारिल भट्ट - श्लोकवार्त्तिक - प्रत्यक्षपरिच्छेद - ४० - ५१

१३. न्याय सूत्र - ३।१।४४

१४. नागार्जुन, मध्यमकशास्त्र - ३।२ - स्वमात्मानं दर्शनं हि तत् तमेव न पश्यति। न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत् परान्॥

१५. नागेश भट्ट - परमलघु मंजूषा - पृ. २९८ - चित्तस्य विषयाकार परिणामरूपा.... इत्याद्युपपद्यते।

१६. धर्मकीर्ति - न्यायबिन्दु - १।२१ - अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। विशेषत: द्रष्टव्य उन्मीलन - १८-१, २००४ में प्रकाशित मेरा लेख "बौद्ध दर्शन में सारूप्य की अवधारणा"।

2.

न्याय दर्शन में
इन्द्रियार्थ सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद

सच्चिदानन्द मिश्र

प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियों का महत्त्व सर्वातिशायी है। अगर हम प्रत्यक्ष पद के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ पर विचार करें तो हम पाते हैं कि अक्षं प्रतिगतम् प्रत्यक्षम् अर्थात् अक्ष यानी इन्द्रिय पर आधारित ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलाता है। जो दार्शनिक अनिन्द्रियज प्रत्यक्ष को भी स्वीकार करते हैं वे प्रत्यक्षपद का अर्थ व्युत्पत्तिनिमित्त अन्य और प्रवृत्तिनिमित्त अन्य मानते हैं। तो यह तो सुस्पष्ट ही दिखायी देता है कि प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियों का महत्त्व निस्सन्देह ही सर्वातिशायी है। अब अगर सवाल यह हो कि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न किया जाता है वह किस तरह से उत्पन्न किया जाता है ? क्या इन्द्रियों के द्वारा विषय को प्राप्त कर प्रत्यक्ष उत्पादित होता है अथवा इन्द्रियों के द्वारा विषय को प्राप्त किये बिना ही प्रत्यक्ष उत्पादित होता है ? तो इस सवाल के निहितार्थ बहुत ही गहरे हैं। यह सवाल न सिर्फ इन्द्रियों के स्वरूप पर आधारित होगा अपितु यह सवाल समग्र ज्ञानमीमांसा को प्रभावित करेगा। इसी कारण भारतीय दर्शनों में यह एक विचारणीय बिन्दु रहा है कि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं या अप्राप्यकारी होती हैं। नैयायिकों का पक्ष इस विषय में यही है कि जो भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष

के द्वारा ही उत्पन्न होता है। नैयायिकों का प्रत्यक्षलक्षण ही है - इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्। इस तरह न्यायमत में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए यह अनिवार्यता है कि वह ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के द्वारा ही उत्पन्न हो। इस कारण नैयायिक इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति के बाद ही अर्थ का प्रत्यक्ष मानते हैं। इस प्रसङ्ग में नैयायिक अत्यन्त आग्रह भी प्रदर्शित करते हैं। नैयायिकों का कथन है कि कोई भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान, वह चाहे मानस प्रत्यक्ष ही क्यों न हो, को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक है कि इन्द्रिय उस विषय को प्राप्त करे जो विषय प्रत्यक्ष का विषय हो रहा है। अगर इन्द्रिय के द्वारा विषय की प्राप्ति नहीं हो रही है तो ऐसी स्थिति में उस विषय का प्रत्यक्ष हो पाना न्यायमत के अनुसार सम्भव नहीं होता है। इसी कारण न्यायमत में ज्ञान, सुख-दु:ख आदि का मानस प्रत्यक्ष करने के लिए भी मन का उनके साथ सन्निकर्ष होना अनिवार्य होता है। परन्तु इस धारणा के परिप्रेक्ष्य में अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। अनेक स्थलों में ऐसी स्थिति बनने की सम्भावना होती है जहाँ पर हम निश्चय से कह पाने में सक्षम नहीं होते हैं कि इस स्थल पर भी इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष है ही। इसी कारण अन्य अनेक दार्शनिक नैयायिकों की इस अवधारणा पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं कि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं ? प्रस्तुत आलेख में मैं इसी विषय पर विचार करते हुए उभयपक्ष के उचित और अनुचित तर्कों की समालोचना करना चाहता हूँ।

न्यायसूत्रों के प्रणेता गौतम भी इस विषय पर विस्तार से विचार करते हैं। प्रत्यक्ष का लक्षण करने के समय में गौतम इस विषय पर विचार नहीं करते हैं, परन्तु परीक्षाप्रकरण में वे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में विशेष रीति से इस विषय को विचारित करते हैं। न्यायदर्शनानुसारी प्रत्यक्षलक्षण पर हम विचार करते हुए अपनी बात शुरू करते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्य-मव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्, इस प्रत्यक्ष के लक्षण को मान्यता देते हुए और अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक पद को प्रत्यक्ष के लक्षणघटक न मानकर, वाचस्पति मिश्र के अनुसार, प्रत्यक्षविभागपरक मान लें तो इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यभिचारि प्रत्यक्षम् यही प्रत्यक्ष का लक्षण ठहरता है। इस प्रत्यक्ष के लक्षण में भी अगर भ्रमप्रमासाधारण प्रत्यक्ष का लक्षण करना अपेक्षित हो तो अव्यभिचारी पद देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। तो इस तरह से 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' ही प्रत्यक्ष का लक्षण ठहरता है। इस प्रत्यक्ष के लक्षण का समन्वय भ्रमात्मक और प्रमात्मक

दोनों ही तरह के प्रत्यक्षों में होना चाहिए। अब इन्द्रिय की प्राप्यकारिता न्यायमतानुसार इस कारण होनी चाहिए क्योंकि अगर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं होगा तो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं नहीं हो सकेगा। फलत: आप उसको प्रत्यक्ष भी नहीं कह पायेंगे। इस कारण नैयायिकों की मान्यता है कि इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है और उस सन्निकर्ष के माध्यम से ही इन्द्रिय विषय को प्राप्त करने में सक्षम होती है। इस तरह से इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व खण्डित नहीं होता है। एतदर्थ न्यायवैशेषिक परम्परा में छह लौकिकसन्निकर्षों की कल्पना की गयी है। साथ ही साथ तीन अलौकिकसन्निकर्षों की कल्पना भी की गयी है। जो लौकिकसन्निकर्ष परम्परा में स्वीकृत हैं वे हैं-संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि विशेषणविशेष्यभाव एक सन्निकर्ष नहीं है अपितु यह अनेक सन्निकर्ष है। अन्य पाँचों ही सन्निकर्षों में विशेष्यता या विशेषणता जोड़कर अनेक सन्निकर्ष और बना लिये जाते हैं। जैसे संयुक्तविशेषणता, संयुक्तसमवेत विशेषणता, संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता, विशेषणता, समवेतविशेषणता, समवेतसमवेतविशेषणता तथा इसी रीति से विशेष्यता को जोड़कर के भी संयुक्तविशेष्यता आदि सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के लिए बनाये जाते हैं। इन सन्निकर्षों के द्वारा कहाँ पर किस सन्निकर्ष के द्वारा किस अर्थ का प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है इस पर विचार कर लेना भी अनिवार्य प्रतीत होता है। यह तो सुप्रसिद्ध है कि द्रव्य का प्रत्यक्ष सिर्फ संयोगसन्निकर्ष के द्वारा ही सम्भव होता है। द्रव्यगत गुण, क्रिया और समान्य के प्रत्यक्ष के लिए सामान्यतया संयुक्तसमवाय और द्रव्य, गुण, क्रिया में विद्यमान समान्य के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्तसमवेतसमवाय, शब्द के प्रत्यक्ष के लिए समवाय, शब्दगत शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष के लिए समवेतसमवाय सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। नैयायिकों का सिद्धान्त है कि 'येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते' जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस व्यक्ति का ग्रहण हुआ करता है उसमें रहने वाली जाति और उसका अभाव भी उसी से गृहीत हुआ करता है। इस कारण उपर्युक्त रीति से प्रदर्शित प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों के अभावों का प्रत्यक्ष भी तत्तदिन्द्रियों के द्वारा तथा तत्तत् सन्निकर्षों में विशेषणता या विशेष्यता को जोड़कर के उस सन्निकर्ष से हुआ करता है। उदाहरण के तौर पर हम देखें-घट आदि का चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष संयोगसन्निकर्ष से हुआ करता है। तो घट का अभाव चक्षु के द्वारा संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से होगा। ऐसा इस कारण होगा क्योंकि चक्षु से

संयुक्त भूतल में घट का अभाव विशेषण हुआ करता है। अत: चक्षु:संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से घटाभाव का प्रत्यक्ष होने में कोई असुविधा नहीं है। अब अगर घटनिष्ठ नीलरूप के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो ऐसी स्थिति में भी चक्षु:संयुक्तविशेणता सन्निकर्ष से ही उसका प्रत्यक्ष हो जायेगा क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में नीलरूप का अभाव विशेषण हुआ करता है। तो इस रीति से आगे भी अगर हमको नीलरूप में रहने वाले शुक्लत्व के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो वहाँ चक्षु:संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से काम नहीं चल सकता है। यहाँ पर चक्षु:संयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष से नीलरूप में रहने वाले शुक्लत्व के अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव हो पायेगा क्योंकि चक्षु से संयुक्त होता है घट, उस घट में समवेत है नीलरूप और नीलरूप में विशेषण होता है शुक्लत्व का अभाव। इस तरह से इन समस्त सन्निकर्षों के द्वारा उपर्युक्त अभावों का सन्निकर्ष कर पाना सम्भव होता है। अगर शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो वहाँ पर केवल विशेषणताा सन्निकर्ष से शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव हो जायेगा क्योंकि श्रोत्र के द्वारा ही शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष होना है। श्रोत्र तो कर्णशष्कुली से अवछिन्न आकाश ही है। उस आकाश में शब्द का अभाव विशेषण होता है। इस कारण केवल विशेषणत सन्निकर्ष से शब्द के अभाव का प्रत्यक्ष सम्भव होता है । शब्दनिष्ठ रूपत्व के अभाव का प्रत्यक्ष भी श्रोत्र के द्वारा ही होता है और उसके लिए सन्निकर्ष होता है समवेतविशेषणता क्योंकि श्रोत्र में समवेत है शब्द और उसमें विशेषण होता है रूपत्व का अभाव। अब अगर शब्दत्वनिष्ठ रूपत्व के अभाव का प्रत्यक्ष करना हो तो ऐसी स्थिति में सन्निकर्ष होता है समवेतसमवेतविशेषणता क्योंकि श्रोत्र में समवेत है शब्द और उसमें समवेत है शब्दत्व और उसमें विशेषण होता है रूपत्वत्व का अभाव। इस रीति से ऊपर प्रदर्शित समस्त सन्निकषों में विशेषणता को जोड़कर अभाव के प्रत्यक्ष के लिए अनेक सन्निकर्ष बना लिए जाते हैं।

अब यहाँ पर प्रश्न यह भी होता है कि ठीक है विशेषणता को जोड़कर सन्निकर्ष बना लिए जायें परन्तु विशेष्यता को जोड़कर अन्य सन्निकर्ष बनाने की क्या आवश्यकता है? इस सवाल पर नैयायिकों का उत्तर कुछ विचित्र सा है। कहा जाता है कि विशिष्टवैशिष्टयबुद्धि के लिए विशेषण का ज्ञान कारण होता है। परन्तु विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है। इस कारण अगर हम विशेष्यता को जोड़कर प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष न बनायें तो समस्या यह है कि ऐसी स्थिति में वायु में रहने वाले रूप के अभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि जब तक वायु में रूपाभाव नहीं बनेगा तब तक वायु का

चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं सम्भव होगा। इसमें समस्या यह है कि जब तक वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा तब तक वायु में रूपाभाव विशेषण नहीं बनेगा। इस तरह से मुश्किल यह है कि अन्योन्याश्रित होने के कारण न तो वायु में रूपाभाव विशेषण हो सकेगा और न ही वायु में रूपाभाव का प्रत्यक्ष ही हो सकेगा। इस कारण गङ्गेशोपाध्याय कहते हैं कि प्रथमतः 'वायौ रूपं नास्ति' इस तरह से वायु में रूपाभाव का चाक्षुषप्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष से होता है क्योंकि 'वायौ रूपं नास्ति' इस ज्ञान में रूपाभाव विशेष्य है और विशिष्टज्ञान के लिए विशेष्य का ज्ञान कारण नहीं होता है। अगर विशेष्य अयोग्य हो तो चाक्षुष विशिष्टज्ञान सम्भव नहीं होता है। इस तरह से प्रथमतः अभाव का प्रत्यक्ष चक्षुःसंयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर ही यह चक्षुसंयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष से उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है। इसी रीति से अन्यत्र भी विशेष्यता का योजन कर सन्निकर्ष बना लेने चाहिए। इस तरह से हम पाते हैं कि नैयायिकों को इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति के लिए अनेक लौकिकसन्निकर्षों की कल्पना करनी पड़ती है। परन्तु केवल इन लौकिकसन्निकर्षों से भी काम चलता नहीं है और नैयायिकों को अन्य अलौकिकसन्निकर्ष भी स्वीकार करने पड़ते हैं। नैयायिक तीन अलौकिकसन्निकर्ष भी स्वीकार करते हैं - ज्ञानलक्षण, सामान्यलक्षण और योगज सन्निकर्ष। इसमें सामान्यलक्षण की सत्ता तो परवर्ती नैयायिकों में रघुनाथ शिरोमणि आदि ने अस्वीकार कर दी है तथा योगज सन्निकर्ष जनसामान्य के उपयोग के लिए नहीं है। परन्तु ज्ञानलक्षण की सत्ता तो नैयायिकों को अस्वीकार कर पाना सम्भव नहीं होता है। इस सन्निकर्ष को स्वीकार करने का प्रयोजन भी इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को व्याख्यायित करना ही है। इस सन्निकर्ष की सत्ता को स्वीकृति प्रदान करने से अनेक प्रश्न समुपस्थित होते हैं जिनको विशेष कर अद्वैतियों ने उठाया है। अस्तु इन समस्त सन्निकर्षों को स्वीकार करने का प्रयोजन यही है कि यावत् स्थितियों में किस तरह से इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को व्यवस्थापित किया जा सके। तो हम पाते हैं कि न्यायवैशेषिक परम्परा में इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति के उपरान्त ही प्रत्यक्ष सम्भव हो पाता है।

उपर्युक्त रीति से इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को अनिवार्य मानने पर नैयायिकों के लिए अनेक सन्निकर्षों की सत्ता को स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता है। परन्तु सवाल यह भी है कि उक्त रीति से इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को अनिवार्य मानने की आवश्यकता ही किस लिए है ? क्या यह सम्भव नहीं है कि बिना इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को स्वीकार किये हम प्रत्यक्ष की

व्याख्या कर सकें ? यहाँ पर इतना ध्येय है कि प्रायश: अधिकांश दार्शनिक इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति को स्वीकार करते हैं।

कुछेक विद्वानों ने वैयाकरणों के नियम से अप्राप्यकारित्व की बात कही है परन्तु मैं अपने-आपको इससे सहमत नहीं पा रहा हूँ। आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठीजी भी इस विषय में वैयाकरणों के सामान्यत: प्राप्यकारित्वादी होने की बात करते हैं। उन्होंने महाभाष्य की प्रदीप व्याख्या और उद्योत व्याख्या का उद्धरण देते हुए इसको पुष्ट किया है। महाभाष्य की अपक्रामति तत्तस्माद्दर्शनमिति (२-३-२८) इस पङ्क्ति की व्याख्या के प्रसङ्ग में प्रदीप व्याख्या का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि दर्शनं चक्षुरिन्द्रियं तेजोरूपं प्राप्य विषयग्राहित्वात् प्रसाददेशादपक्रम्य विषयदेशं गच्छतीत्यर्थ: (महाभाष्यप्रदीप २-३-२८)। वहाँ पर वे उद्योत व्याख्या का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि दर्शने चक्षुरिति करणे ल्युडिति भाव:। तेजोरूपमिति अपक्रमणसामर्थ्यमनेन दर्शितम्। विषयग्राहिणो नयनरश्मय: सूर्यरश्मिवत् प्रासाददेशस्थपुरुषनयनादपक्रम्य यावद् विषयदेशं गच्छन्तीत्यर्थ: (महाभाष्यउद्योत २-३-२८)। इस तरह से हम पाते हैं कि वैयाकरणों का मत प्रायश: नैयायिकों से मिलता है। वहीं पर आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठीजी वाक्यपदीप के अनुसार भी चक्षु के प्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं।[1] वे वाक्यपदीप के ब्रह्मकाण्ड से चक्षुष: प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि। विषयेन्द्रिययोरिष्ट: संस्कार: स क्रमो ध्वने: ॥ (वा.प. १-१८) कारिका को भी प्रमाण के रूप में उद्धत करते हैं। आगे चलकर वे नागेश भट्ट के अनुसार समस्त इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को व्यवस्थित करते हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ-४२ पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा)। हाँ, उन्होंने आगे चलकर पतञ्जलि के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व की बात कही है। श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानने का कारण यह है कि वैयाकरणों के मत में शब्द का वैसा स्वरूप नहीं है जैसा कि नैयायिक मानते हैं। इस कारण उनके मत में श्रोत्र के द्वारा शब्द की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यद्यपि आगे वे कहते हैं कि एवं च चक्षुरिन्द्रियं विहायान्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रवदप्राप्यकारीण्यैव (पृ.४४ पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा) परन्तु मैं इसको पूर्वापरविरूद्ध देखकर इसे स्वीकार करने में खुद को अक्षम पा रहा हूँ। इसमें उन्होंने कोई तर्क नहीं दिखाया है और न ही इसमें कोई प्रमाण ही दिखाया है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे, एवं च श्रोत्रेन्द्रिय विहायान्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि चक्षुर्वत् प्राप्यकारीण्यैव, ऐसा लिखना चाह रहे थे परन्तु गलती से, एवं च चक्षुरिन्द्रियं विहायान्यानि ज्ञानेन्द्रियाणि

श्रोत्रवदप्राप्यकारीण्यैव, ऐसा लिख गये। अथवा यह पाठ देखने वाले की गलती से हो गया होगा।

नैयायिकों के विरोधी इस विषय में माने जाते हैं बौद्ध। परन्तु वे भी इस विषय में नियम से अर्थ की प्राप्ति के बिना ही प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। वे भी चक्षु और श्रोत्र से भिन्न इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार करते हैं। जहाँ तक मन की बात है, तो मन को भी बौद्ध अप्राप्यकारी मानने के पक्षपाती हैं।[२]

जैनदर्शन में चक्षु और मन का अप्राप्यकारित्व स्वीकृत है घ्राण, रसना, श्रोत्र और त्वचा का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार्य है।[३]

साङ्ख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त में न्यायसम्प्रदाय की तरह इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार किया जाता है। इस तरह से न्यायमत के समान ही प्राय: समस्त दर्शनों में इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व किसी न किसी अंश में स्वीकार्य है ही। तो हम पाते हैं कि नैयायिकों का इस विषय में सम्पूर्णतया कोई भी दर्शन विरोधी नहीं है। विरोध सिर्फ इस बात पर है कि क्या समस्त इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं या नहीं ? विचार के लिए विप्रतिपत्तिवाक्य आरम्भबिन्दु होता है, तो यहाँ पर विप्रतिपत्ति यही है कि क्या समस्त इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं या नहीं। इस विप्रतिपत्ति में विधिकोटि नैयायिकों की है और निषेधकोटि अन्य दार्शनिकों की।

मैं इस विषय पर विचार आरम्भ करता हूँ न्यायसूत्र में उपस्थित पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष से। न्यायसूत्र में इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व को व्यवस्थापित करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में सवाल करते हैं कि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व नहीं हो सकता है क्योंकि काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि भी होती है। यदि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व होता तो इन स्थलों में चाक्षुषप्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व नहीं है। अगर इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व नहीं है तो इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हो सकती हैं क्योंकि प्राप्यकारित्व भौतिक वस्तु का धर्म है। अब अगर इन्द्रियाँ प्राप्यकारि नहीं हैं तो उनको अभौतिक ही होना चाहिए।[४] इस पर पुन: प्रश्न उठाते हैं कि अगर इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व नहीं है तो दीवाल से व्यवहित का चाक्षुषप्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है। जिस तरह से काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि होती है उसी तरह से दीवाल से अन्तरित की उपलब्धि भी होनी चाहिए। नहीं होती है इसका मतलब यह है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं होती हैं। इस तरह से इन्द्रियों का भौतिकत्व भी स्वीकारना पड़ता है।[५] तो हमारे समक्ष दो स्थितियाँ हैं - काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि

भी होती है और दीवाल से अन्तरित की उपलब्धि नहीं होती है। ऐसी स्थिति में क्या माना जाये- इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व स्वीकार करें या अप्राप्यकारित्व। इसके उत्तर में गौतम का समाधान है कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी ही मानना उचित है क्योंकि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व स्वीकार कर इसे ज्यादा सुव्यवस्थित रीति से समझाया जा सकता है। कहना है कि काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि इस कारण होती है कि इनके द्वारा चाक्षुष रश्मि का प्रतिघात नहीं होता है। इस कारण इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष उपपन्न हो जाता है। तेज का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि उसका प्रतिघात काँचादि के द्वारा सम्भव नहीं होता है। उदाहरण के रूप में देखा तो जाये आदित्यरश्मि के द्वारा स्फटिक से अन्तरित का भी दाह हो जाया करता है।[६] न्यायभाष्यकार यहाँ पर कुछ उदाहरणों के द्वारा इसको व्यवस्थापित करने का उपाय करते हैं कि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व होता है। उदाहरण के रूप में वात्स्यायन कहते हैं कि आदित्यरश्मि के द्वारा कुम्भ में रखा हुआ जल भी गरम हो जाता है। स्फटिक से अन्तरित होने पर भी प्रदीप आदि के द्वारा प्रकाश किया ही जाता है। भर्जनकपाल में स्थित द्रव्य का दाह आग्नेय तेज से होता ही है।[७] तो इसका मतलब यह है कि इसी तरह से चक्षु इन्द्रिय, जो कि तैजस है, के द्वारा भी काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि हो सकती है क्योंकि काँचादि के द्वारा नयन तेज का भी प्रतिघात उपर्युक्त उदाहरणों के अनुसार नहीं किया जा सकता है। तो हम पाते हैं कि दो तरह की स्थितियाँ हैं काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि होती है और दीवाल से अन्तरित की उपलब्धि नहीं होती है। तो सवाल यह है कि इसका विपर्यय ही क्यों नहीं होता है। काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की अनुपलब्धि और दीवाल से व्यवहित की उपलब्धि ही क्यों नहीं होती है ? इसका उत्तर गौतम यह देते हैं कि आदर्श और उदक का स्वभाव है कि उसमें रूप की उपलब्धि होती है, अन्य में रूप की उपलब्धि नहीं होती है। ठीक उसी तरह से काँच, अभ्रपटल और स्फटिक से व्यवहित की उपलब्धि सम्भव होती है और दीवाल से व्यवहित की उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। अब आप इसमें उक्त प्रश्न नहीं उठा सकते हैं क्योंकि दृष्ट और अनुमित अर्थों में न तो आप नियोग ही कर सकते हैं कि ऐसा क्यों होता है और न ही आप निषेध ही कर सकते हैं कि ऐसा न हो।[८] इस तरह से गौतम और वात्स्यायन इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व को व्यवस्थापित करते हैं।

न्यायवर्त्तिककार उद्योतकर प्रत्यक्षलक्षणसूत्र पर ही इस विषय में विस्तार से विचार करते हैं तथा उन्होंने इस बात को व्यवस्थित रीति से उठाया है। वे

कहते हैं कि प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न पद जो दिया गया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है क्योंकि इन्द्रिय प्राप्यकारी नहीं होती है। इस विषय में अनुमान भी दिखाया जा सकता है कि चक्षुरप्राप्यकारि सान्तरग्रहणात् पृथतरग्रहणाच्च अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है क्योंकि उसके द्वारा दूर अवस्थित वस्तु का भी ग्रहण होता है और चक्षु से उस विप्रकृष्टदेशस्थित वस्तु की प्राप्ति होती है आप ऐसा तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि भूतविशेष ही है चक्षुरिन्द्रिय। जो यह कृष्णसारलक्षण चक्षुरिन्द्रिय है उसके द्वारा दूरदेश में स्थित वस्तु की प्राप्ति किस तरह से हो सकती है ? अगर दूरदेश में स्थित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो रही है तो किस तरह से चक्षु के द्वारा उस दूरदेश में अवस्थित विषय का ग्रहण हो सकेगा?[९] द्वितीयत: अगर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व है तो राष्ट्र, वन आदि महत् की जो उपलब्धि होती है चक्षु के द्वारा वह नहीं होनी चाहिए थी क्योंकि छोटे आकार वाली चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा किस तरह से बड़े आकारवाले राष्ट्र, वन आदि की उपलब्धि हो सकेगी ?[१०] तीसरी बात यह भी है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी होती तो दिशा और देश का व्यपदेश नहीं होता। जो घ्राणादि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी जाती हैं उनमें दिग्देशव्यपेश नहीं होता है। ऐसा नहीं होता है कि इन्द्रिय किसी अन्य देश में है और उसका विषय किसी अन्य देश में है। परन्तु चक्षु के साथ ऐसा नहीं है, यहाँ पर चक्षुरिन्द्रिय किसी अन्य देश में है और उसका विषय किसी अन्य देश में है। परन्तु फिर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव होता है। इस वैधर्म्य के कारण यही मानना उचित जान पड़ता है कि चक्षुरिन्द्रिय को तो घ्राणादि की तरह प्राप्यकारी मानना उचित नहीं है। इसको तो अप्राप्यकारी ही मानना चाहिए।[११] चौथी अहम् बात यह है कि सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण होता है। जो गतिमत् है वह उस गति से चलता हुआ सन्निकृष्ट को शीघ्र और विप्रकृष्ट को विलम्ब से ग्रहण करता है। परन्तु हम देखते हैं कि शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक ही काल में होता है।[१२] इसलिए भी चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्कारी मानना चाहिए। इस पूर्वपक्ष में मुख्यत: चार युक्तियाँ उपस्थापित की गयी हैं सान्तरग्रहण, पृथुतरग्रहण, दिग्देशव्यपदेश और सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण। इन चार युक्तियों का उद्योतकर सिद्धान्ती के मत से खण्डन करते हैं।

उद्योतकर अपना सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करने के क्रम में प्रथमत: प्रश्न करते हैं कि जो यह कहा गया है कि सान्तरग्रहण होने के कारण इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व है तो सान्तरग्रहणपद का अर्थ क्या है ? सान्तरग्रहणपद का अर्थ अप्राप्त का ग्रहण है या अन्तर के साथ ग्रहण है ? अगर सान्तरग्रहणपद का अर्थ

अप्राप्त का ग्रहण है तब तो आप इस हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं कर सकेंगे क्योंकि साध्य और हेतु का ऐक्य हो जायेगा। हेत्वर्थ तो प्रतिज्ञार्थ से आक्षिप्त हो जायेगा। आप कह रहे हैं कि चक्षु अप्राप्यकारी है क्योंकि अप्राप्त का ग्रहण होता है।[१३] अगर आपका मत यह है कि अन्तर के साथ ग्रहण होता है और इस कारण चक्षु अप्राप्यकारी है तो सवाल यह है कि वह अन्तर क्या है जो चक्षु के द्वारा विषय के साथ-साथ उपलब्ध होता है। क्या वह आकाश है या कोई अन्य द्रव्य। अगर वह आकाश है तो उसका तो चक्षु ग्रहण सम्भव ही नहीं है क्योंकि रूपवान् द्रव्य का ग्रहण चक्षु के द्वारा सम्भव होता है। आकाश तो अरूपी द्रव्य है। अगर आप मानते हो कि अभाव ही अन्तर पद का अर्थ है तब अभाव तो स्वतंत्र रूप से चक्षु के द्वारा गृहीत नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में अभाव के साथ उपलब्धि होने पर तो हेतु अनैकान्तिक हो जायेगा। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग तो है ही नहीं। इसका मतलब यह होगा कि सान्तरग्रहण होने के कारण चक्षु अप्राप्यकारी है यह कथन निरर्थक है। यह सान्तरग्रहण अन्य रीति से ही कहा जाता है, शरीर की अवधि की अपेक्षा से सान्तर और निरन्तर पद का प्रयोग होता है। इन्द्रिय की प्राप्ति या अप्राप्ति की अपेक्षा से ऐसा प्रयोग नहीं होता है। अपितु जहाँ पर इन्द्रिय और शरीर दोनों ही अर्थ से सम्बद्ध होते हैं वहाँ पर निरन्तर ग्रहण होता है। परन्तु जहाँ पर इन्द्रियमात्र सम्बद्ध होता है उसको सान्तरग्रहण कहा जाता है। इस कारण सान्तरग्रहण हेतु इन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व सिद्ध करने में सक्षम नहीं होता है।[१४]

जो यह कहा गया है कि पृथुतरग्रहण होने के कारण इन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व है तो यह कथन भी सङ्गत नहीं है क्योंकि सम्बन्धमात्र से महत् और अणु दोनों का ही ग्रहण उपपन्न हो जाता है। प्रत्यक्ष होने के लिए मात्र उससे सम्बन्ध होना चाहिए। इस कारण यह कथन अनुचित है कि इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व होने पर इन्द्रिय से पृथुतर का ग्रहण इन्द्रिय के द्वारा सम्भव नहीं हो सकेगा।[१५]

इसी तरह से अगर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व होता तो दिग्देशव्यपदेश सम्भव नहीं होता यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि यह भी शरीर की अवधि की अपेक्षा से होता है। जिस स्थल में शरीर और इन्द्रिय दोनों ही अर्थ से सम्बद्ध होते हैं वहाँ पर दूर और समीप का अनुविधान तथा दिग्देशव्यपदेश नहीं होताहै। परन्तु जिस स्थल में केवल इन्द्रिय ही सम्बद्ध होती है उस स्थल में दूर और समीप का अनुविधान होता है। ऐसे स्थल में दिग्देशव्यपदेश भी होता है क्योंकि शरीर को अवधि बनाकर संयुक्त संयोग के आधिक्य और अल्पीयत्व की अपेक्षा से दूर और समीप का अनुविधान होता है। इस कारण इस हेतु से भी इन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है।[१६]

जो यह कहा गया है कि सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण होने के कारण इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं होता है वह कथन भी अनुचित है क्योंकि हम नैयायिक तो यह स्वीकार ही नहीं करते हैं कि सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण होता है। कौन स्वस्थचित्तवाला व्यक्ति यह स्वीकार कर सकता है कि शाखा और चन्द्रमा का एक ही समय में ग्रहण होता है। यहाँ पर वस्तुत: उसी तरह से कालभेद का प्रत्यय नहीं होता है जिस तरह से सौ कमल के पत्रों के एक सीध में रहने की स्थिति में सूची के द्वारा उसका भेदन करने पर समस्त पत्रों में सूचि के द्वारा भेदन एक काल में वस्तुत: न होने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही काल में समस्त पत्रों का भेदन किया गया है। तथा ऐसा प्रत्यय यथार्थ नहीं होता है मिथ्या ही होता है, उसी तरह से यहाँ पर भी सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण का प्रत्यय मिथ्या प्रत्यय ही है।[१७] परन्तु प्रश्न तो यह भी है कि इस प्रत्यय को आप किस आधार पर मिथ्या मान रहे हैं ? ऐसा भी तो हो सकता है कि इस स्थल पर होने वाला प्रत्यय मिथ्या नहीं हो, वस्तुत: एक काल में ही शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण होने का कारण सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का एक ही समय में ग्रहण होने का प्रत्यय हो रहा हो। तो इस सवाल के उत्तर में उद्योतकर का कथन है कि चक्षु का प्राप्यकारित्व अनुमान से भी सिद्ध है और इसमें हेतु होता है आवरणानुपत्ति। यदि चक्षु अप्राप्यकारी होता तो दीवाल और पर्दे आदि से आवृत का भी प्रत्यक्ष सम्भव होना चाहिए था क्योंकि दीवाल और पर्दे आदि में आवरण का सामर्थ्य तो है ही नहीं कि वे चक्षु से प्रत्यक्षोत्पत्ति में कोई बाधा उत्पन्न कर सकें। चक्षु के अप्राप्यकारी होने पर ही दीवाल और पर्दे आदि आवरण द्वारा चक्षु से प्रत्यक्षोत्पत्ति में कोई बाधा उत्पन्न की जा सकती है। दीवाल और पर्दे आदि से आवृत्त अर्थ की उपलब्धि तो होती नहीं है। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार कर लेना उचित दिखता है।[१८] आप जो यह कह रहे हैं कि दूर और अन्तिक का अनुविधान चक्षु के अप्राप्यकारित्व को सिद्ध करता है, वस्तुत: वह भी इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व ही सिद्ध करता है क्योंकि यह जो दूर का अग्रहण और समीप का ग्रहण है वह चक्षुरिन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने पर सम्भव नहीं है। अगर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं है तो आखिर किस कारण से समीपस्थ का प्रत्यक्ष होता है और दूरस्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। बिना इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व स्वीकार किये यह सम्भव नहीं होगा। यह कहा जा सकता है कि विषयीभूत अर्थ का प्रत्यक्ष होता है और जो अर्थ विषयीभूत नहीं होता है उस अर्थ का प्रत्यक्ष

नहीं होता है। परन्तु आखिर यह विषयीभाव क्या है। बिना सम्बन्ध के विषयीभाव होगा किस तरह से ? इस कारण इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार करना चाहिए।[१९]

उद्योतकर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व सिद्ध करने के लिए अन्य अनुमान भी दिखाते हैं। उनका कहना है कि अगर प्रतिपक्षी घ्राण आदि इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व स्वीकार करता है तो चक्षुःप्राप्यकारि इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत् इस तरह के अनुमान के द्वारा चक्षुरिन्द्रिय का प्राप्यकारित्व सिद्ध किया जा सकता है। आखिर घ्राणादि इन्द्रियों का तो प्राप्यकारित्व स्वीकार्य है ही।[२०] अगर प्रतिपक्षी किसी भी इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं स्वीकार करता है तो उसके लिए समस्त इन्द्रियों को पक्ष बनाकर इन्द्रियाणि प्राप्यकारिणी करणत्वात् वास्यादिवत् इस तरह से अनुमान का प्रयोग करते हुए इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व सिद्ध करना चाहिए। वास्यादि करणों का तो प्राप्यकारित्व देखा ही गया है। उसी तरह की इन्द्रियाँ भी हैं। जैसे वास्यादि करण हैं उसी तरह से इन्द्रियाँ भी करण हैं। तो जिस तरह से वास्यादि का प्राप्यकारित्व है उसी तरह से इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व भी होना चाहिए।[२१]

कोई यह कह सकता है कि हम किसी भी करण को प्राप्यकारी नहीं मानते हैं। तो उसका उत्तर यह है कि ऐसी स्थिति में तो जिन कारणों का सामर्थ्य किसी स्थल पर देखा गया है उन कारणों के द्वारा सर्वत्र कार्यों की उत्पत्ति होनी चाहिए। अगर ये कारण परस्पर प्राप्ति की अपेक्षा किये बिना ही कार्यों को उत्पन्न करते हैं तो कार्य हर जगह पर क्यों उत्पन्न नहीं होता है ? ऐसी स्थिति में तो कार्य को हर जगह उत्पन्न होने की पारी आ जाती है। इसका उत्तर आपको देना पड़ेगा। आपको लोक में अनेक उदाहरण मिल जायेंगे कि कारण प्राप्यकारी होता है, दण्ड, चक्र आदि के अनेक उदाहरण प्रसिद्ध हैं। इस कारण अन्ततः आपको यही मानना पड़ेगा कि करण का प्राप्यकारित्व होता है और फलतः यह भी स्वीकार करना होगा कि इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व होता हैं।[२२]

प्रशस्तपादभाष्य के व्याख्याता श्रीधर न्यायकन्दली में उद्योतकर के अनुसार ही चक्षुरिन्द्रिय का प्राप्यकारित्व सिद्ध करते हैं। उनकी भी युक्तियाँ कुछ ऐसी ही हैं। वे पूर्वपक्ष के रूप में किसी का मत उठाते हैं कि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी न होने के कारण अभौतिक हैं। भौतिक का धर्म है प्राप्यकारित्व, जैसे कि भौतिक प्रदीप का धर्म है प्राप्यकारित्व। अगर इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हैं तो वे भौतिक नहीं हो सकती हैं।[२३] आगे सिद्धान्ती के मत से इसका खण्डन करते हैं कि व्यवहित की भी अनुपलब्धि होने के कारण इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं। अगर इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी होतीं तो व्यवहित की भी उपलब्धि होनी चाहिए थी। परन्तु व्यवहित की उपलब्धि होती नहीं है। अतः इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं

है। यह कहा जा सकता था कि इन्द्रियों की योग्यता न होने के कारण व्यवहित अर्थ का ग्रहण उनके द्वारा नहीं हो पाता है। परन्तु यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि इन्द्रियों की योग्यता इन्द्रियों का विषयग्रहणसामर्थ्य ही है और इन्द्रियों की वह योग्यता इन्द्रियों के द्वारा अव्यवहित अर्थ का ग्रहण होने कारण है ही। विषय की जो योग्यता होती है महत्त्व, अनेकद्रव्यत्व आदि वे सब भी तो हैं ही। व्यवधान होने पर भी न तो विषय की ये योग्यताएँ निवृत्त होती हैं और न ही इन्द्रियों की योग्यता ही निवृत्त होती है। इस कारण जो लोग इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं है ऐसा मानते हैं, उनके मत में व्यवहित की अनुपलब्धि कभी-भी नहीं होनी चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि व्यवहित की उपलब्धि होती नहीं है। इस कारण इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व ही स्वीकार करना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि व्यवहित की उपलब्धि होती नहीं है। इस कारण इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व ही स्वीकारना चाहिए।[२४] किसी का मत यह हो सकता है कि केवल इन्द्रिय का सामर्थ्य विषयग्रहण कराने में नहीं हैं, अपितु साथ में आवरणाभाव भी होना चाहिए। जैसे कि पतनक्रिया में संयोग का अभाव भी कारण होता है। तो यह कथन भी नि:सार है क्योंकि आवरण के द्वारा सिर्फ स्पर्शवद्द्रव्य की प्राप्ति का प्रतिषेध ही किया जाता है। जैसे कि छत्रादि आवरण के द्वारा गिरते हुए जल का या सूर्य की किरणों का प्रतिषेध करते हैं। वे सिर्फ अपने अभाव का सम्पादन नहीं करते हैं। तो आवरण का अभाव किस लिए उपयोगी होता हैं ? अगर इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व हो तो आवरणाभाव के द्वारा कोई उपकार और आवरण के द्वारा कोई क्षति नहीं की जा सकती है। तो इस परिस्थिति में यह अनुमान सुलभ है कि चक्षु: प्राप्तप्रकाशकं व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत् अथवा चक्षु: प्राप्तप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्। तो इस तरह के अनुमानों के द्वारा चक्षु का प्राप्यकारित्व सिद्ध किया जा सकता है।[२५] परन्तु सवाल यह भी है कि ऐसी स्थिति में विप्रकृष्ट अर्थ का ग्रहण किस तरह से सम्भव होगा और किस तरह से शाखा और चन्द्रमा के ग्रहण के समकालत्व की व्याख्या की जा सकेगी ? इसके उत्तर में श्रीधर का समाधान भी वही है जो समाधान उद्योतकर का था। वे भी कहते हैं कि इन्द्रियवृत्तेराशुसञ्चारित्वात् पलाशशतव्यतिभेदवत् क्रमाग्रहणनिमित्तोऽयं भ्रमो न तु वास्तवं यौगपद्यम् (प्रशस्तपादभाष्य-न्यायकन्दली पृ. ६२)। उद्योतकर ने जो और प्रश्न उठाये थे उन प्रश्नों को भी श्रीधर उठाते हैं तथा उसका समाधान भी समान है। इस तरह से हम पाते हैं कि न्यायवैशेषिकपरम्परा में इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व का सिद्धान्त प्रायश: समानयुक्ति और समान तर्क से व्यवस्थापित किया जाता है।

जो दार्शनिक इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं स्वीकार करते हैं वे नैयायिकों के पक्ष के खण्डन में प्रायश: उन्हीं युक्तियों का प्रदर्शन करते हैं जो कि उद्योतकर और श्रीधर ने पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित की हैं। इस कारण मैं पूर्वपक्षियों के द्वारा उपस्थापित उन्हीं युक्तियों का प्रदर्शन करूंगा जिनमें कुछ नवीनता हो। चक्षुरिन्द्रिय का प्राप्यकारित्व नहीं स्वीकार करना चाहिए, यह पक्ष रखते हुए प्रमाणसमुच्चय में दिङ्नाग ने और आचार्य हेमचन्द्र ने स्याद्वादरत्नाकर में प्रायश: वही पक्ष रखते हैं जो कि उद्योतकर आदि ने खण्डित कर दिया है। एतदर्थ केवल उक्त युक्तियों की प्रामाणिकता पर विचार करना ही उपादेय है।

जहाँ तक नैयायिकों की बात है, प्राप्यकारित्व पर अगर हम विस्तृत परिपेक्ष्य में विचार करें तो पायेंगे कि नैयायिक के लिए प्राप्यकारित्व का आशय यह नहीं है कि इन्द्रिय के द्वारा अर्थ की प्राप्ति होनी चाहिए। अपितु इसका तात्पर्य यह भी है कि आत्मा के द्वारा मन की प्राप्ति भी होनी चाहिए और मन के द्वारा इन्द्रिय की प्राप्ति होनी चाहिए। नैयायिक किसी भी इन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व स्वीकार नहीं करते हैं। न्यायमत के अनुसार सभी इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं।

दिङ्नाग द्वारा जो चार युक्तियाँ इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व स्वीकार करने के जिए प्रस्तुत की गयी हैं उनमें से शुरूआती तीन युक्तियों का बहुत औचित्य समझ में नहीं आता है। इसका कारण यह है कि सान्तरग्रहण के सम्बन्ध में उद्योतकर की युक्तियाँ उचित हैं। यह कहना उचित नहीं है कि इन्द्रियों के प्राप्यकारी होने पर सान्तरग्रहण नहीं होना चाहिए। शायद यह कहलाने की पूर्वधारणा यह है कि चक्षुरिन्द्रिय चन्द्रमा आदि दूरदेश तक जाकर अर्थ को प्राप्त करती है ऐसा अनुभव में आता नहीं है। यह अभी सन्देह का विषय है। इस कारण यही मानना उचित जान पड़ता है कि इन्द्रियों का सामर्थ्य प्राप्यकारी होने से नहीं है। परन्तु इसके साथ यह भी सच है कि दीवाल आदि से व्यवहित की उपलब्धि नहीं होती है। यह भी अनुभवसिद्ध है। इसकी व्याख्या जितने व्यवस्थित रीति से इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व स्वीकार करने पर की जा सकती है उतने व्यवस्थित रूप से इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व न स्वीकार करने पर नहीं की जा सकती है। आखिर किस आधार पर आप कहेंगे कि दीवाल आदि से व्यवहित की उपलब्धि नहीं होती है। अप्राप्ति तो समान ही है अव्यवहित में और दीवाल आदि से व्यवहित में। जो पूर्वपक्षियों के द्वारा यह आपत्ति उठायी गयी थी कि अगर इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व है तब तो दिग्देशव्यपदेश नहीं होना चाहिए था। तो इस प्रश्न का समाधान भी उद्योतकर समुचित रूप से देने में सक्षम रहे

हैं। पृथुतर का ग्रहण भी न्यायमत में समुचित रीति से व्यवस्थापित हो सकता है। एतावता इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व स्वीकार किया जाये या अप्राप्यकारित्व ?

प्रमेयकमलमार्तण्ड में इन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व स्वीकार करने के लिए कुछ नवीन और महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। नैयायिकों के इस अनुमान "चक्षुः प्राप्तप्रकाशकं बाह्येन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्" की आलोचना में प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि आप यह बतायें कि बाह्येन्द्रित्व क्या चीज है ? इसका मतलब क्या है ? अगर बाह्येन्द्रित्व का तात्पर्य बहिरर्थाभिमुख से है तो मन भी बाह्येन्द्रिय होने लगेगा और इस कारण मन से अनेकान्त हो जायेगा। मन भी इस रीति से बाह्येन्द्रिय है परन्तु वह प्राप्यकारि नही है। अगर बाह्येन्द्रियत्व का अर्थ बर्हिदेशावस्थायित्व हो तो ऐसी स्थिति में तो चक्षु में यह हेतु स्वरूपासिद्ध होगा क्योंकि रश्मिरूपी चक्षु का बर्हिदेशावस्थायित्व तो आप भी नहीं मानते हैं।[२६] चक्षु को पक्ष बनाकर अनुमान करने पर अन्य दोष भी प्रभाचन्द्राचार्य दिखाते हैं। जैसे कि इन्द्रियत्व तो समस्त इन्द्रियों में समान है तो इन्द्रियत्वसामान्य के कारण मन की ही तरह समस्त इन्द्रियों का अप्राप्यकारित्व ही क्यों नहीं स्वीकार कर लेते हो। और अगर मन में भी प्राप्यकारित्व सिद्ध करना चाहते हो तो उसमें तो प्रमाण ही बाधक हो जायेगा।[२७] अगर चक्षु की रश्मियाँ होती हैं ऐसा मान भी लिया जाये तो उनका भी अर्थ के साथ सम्बन्ध होने के काल में प्रत्यक्ष होना चाहिए था, जो कि नहीं होता है।[२८] इसी तरह से अगर चक्षु प्राप्यकारि होती तो चक्षु में लगाये गये काजल का प्रत्यक्ष खुद ही हो जाना चाहिए क्योंकि चक्षु में लगा हुआ काजल तो चक्षु से सन्निकृष्ट ही है, तो उसका प्रत्यक्ष होने में क्या बाधा है। जिसके कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।[२९] अगर कोई यह अनुमान करना चाहे कि चक्षुः स्वरश्मिसम्बद्धार्थप्रकाशकं तैजसत्वात् प्रदीपवत् तो यह अनुमान भी अनुचित ही है क्योंकि सवाल यह है कि इस अनुमान से आप क्या सिद्ध करना चाह रहे हैं ? आप इस अनुमान से चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियों को सिद्ध करना चाहते हैं या अन्य रीति से सिद्ध चक्षु की रश्मियों में ग्राह्यार्थ का सम्बन्ध सिद्ध करना चाहते हैं ? दोनों ही पक्षों में दोष हैं। प्रथम पक्ष में समस्या यह है कि इसमें प्रत्यक्ष से ही बाध होगा। समस्त मनुष्यों के नयनों में प्रत्यक्ष से ही रश्मि का अभाव दिखयी देता है। मार्जार आदि के नयनों में रश्मियों को देखकर अगर आप सभी के नयनों में रश्मियों का अनुमान करना चाहते हैं तो गाय आदि की आँखों की कालिमा और मनुष्योंकी आँखों में धावल्य को देखकर आपको प्रतीतियों की अविशेषता के आधार पर पार्थिवत्व और जलीयत्व का भी अनुमान करना चाहिए।[३०] अगर नैयायिक चक्षुस्तैजसं रूपादिषु

मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत् इस अनुमान के आधार चक्षु का तैजसत्व सिद्ध करना चाहें, जैसा कि नैयायिक करते हैं तो उस अनुमान में भी प्रत्यक्ष से बाध होगा। अगर नैयायिक यक्षुगोलक का तैजसत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो दूसरी बात यह है कि इस अनुमान में सत्प्रतिपक्ष भी खड़ा किया जा सकता है कि चक्षुर्न तैजसं तमःप्रकाशकत्वात् यत् पुनस्तैजसं तन्न तमःप्रकाशकं यथालोकः[३१] यह व्यतिरेकी अनुमान होगा और इस अनुमान में कोई दोष प्रथमदृष्ट्या दिखायी नहीं देता है। न केवल इतना ही अपितु चक्षु तैजस होता तो उसको प्रदीपप्रकाश की अपेक्षा किस लिए होगी तथा उसके उष्ण स्पर्श का अनुभव होना चाहिए था।[३२] इसके अतिरिक्त चक्षु का ग्राहक कोई भी प्रमाण न होने के कारण उक्त हेतु आश्रयसिद्ध हो जायेगा तथा जल, अञ्जन, चन्द्र और माणिक्य आदि में यह हेतु व्यभिचारी भी होगा।[३३] अगर आप अन्य रीति से सिद्ध चक्षु की रश्मियों में ग्राह्यार्थ का सम्बन्ध सिद्ध करना चाहते हैं तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि किसी अन्य रीति से चक्षु की रश्मियों की सिद्धि नहीं सम्भव है। तो रश्मिरूप चक्षु की सिद्धि ही सम्भव नहीं है और चक्षुगोलक का तो अप्राप्य -कारित्व प्रायशः सिद्ध ही है। इसके बाद प्रभाचन्द्राचार्य चक्षु के अप्राप्यकारित्व को सिद्ध करने के लिए अनुमान भी प्रदर्शित करते हैं कि 'चक्षुः अप्राप्तार्थप्रकाशकमत्यन्तासन्नार्थाप्रकाशकत्वात् यत्पुनः प्राप्तार्थप्रकाशकं तदत्यन्तासन्नार्थप्रकाशकं दृष्टं यथा श्रोत्रादि' अर्थात् जो प्राप्तार्थप्रकाश होता है वह अत्यन्तासन्नार्थ का प्रकाशन अवश्य करता है। परन्तु चक्षु तो अत्यन्त आसन्नार्थ काजल आदि का प्रकाशन नहीं करता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि चक्षु प्राप्तार्थप्रकाशक नहीं हैं।[३४] इसके अतिरिक्त भी अनुमान वे प्रदर्शित करते हैं कि 'चतुर्गत्वा नार्थेनाभिसम्बन्ध्यते इन्द्रियत्वात् स्पर्श- नादीन्द्रियवत्' अर्थात् चक्षु के अलावा कोई इन्द्रिय तो गमन कर अर्थ का प्रकाशन नहीं करती है। इस कारण चक्षु का गमन कर अर्थ का प्रकाशन करना उचित दिखता नहीं है।[३५]

प्रभाचन्द्राचार्य द्वारा उठायी गयी आपत्तियाँ और तर्क महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः नैयायिकों द्वारा इन्द्रिय को तैजस सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया जानेवाला अनुमान कमजोर हैं। 'चक्षुस्तैजसं रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवत्' इस अनुमान के द्वारा चक्षु का तैजसत्व सिद्ध कर पाना सम्भव दिखता नहीं है। नैयायिकों की यह पूर्वधारणा है कि पाँच महाभूत हैं और पाँच इन्द्रियाँ हैं तो इनका आपसी सम्बन्ध होना चाहिए। इसी कारण वे क्रमशः चक्षु आदि के तैजसत्व आदि को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।

परन्तु जिस तरह से प्रभाचन्द्रचार्य ने चक्षु के अतैजसत्व को सिद्ध करने के लिए ''चक्षुर्न तैजसं तम:प्रकाशकत्वात् यत् पुनस्तैजसं तन्न तम:प्रकाशकं यथालोक:'' यह अनुमान प्रस्तुत किया है उसके आलोक में चक्षु का तैजसत्व तभी सिद्ध किया जा सकता है, अगर तैजसत्वानुमान में कोई अनुकूल तर्क विद्यमान हो। परन्तु तैजसत्वानुमान में कोई भी अनुकूल तर्क है नहीं। सो किस तरह से आप चक्षु के तैजसत्व को सिद्ध कर सकेंगे। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि तम कोई अतिरिक्त भाव पदार्थ तो है नहीं, ये तो तेजोऽभाव ही है। आखिर प्रदीप आदि के द्वारा अभाव का प्रकाशन तो होता ही है। इस कारण अगर चक्षु के द्वारा अभाव का प्रकाशन किया जा रहा है तो इस कारण उसके तैजस न होने की बात कहना अनुचित दिखायी देता है। परन्तु उक्त प्रतिपक्षानुसार के उपस्थापन होने के कारण तैजसत्व साधक अनुमान में कोई अनुकूल तर्क होना चाहिए। अन्यथा उक्त अनुमान को निश्चित तौर पर सही नहीं माना जा सकता है। जो व्यभिचार आदि दिखाये गये हैं मैं समझता हूँ कि उनका निवारण करना ज्यादा मुश्किल तो नहीं है। हेतु के स्वरूप में थोड़ा सा परिवर्तन कर देने से उक्त व्यभिचार आदि का निवारण सम्भव हो सकता है। परन्तु मेरा मानना है कि जब तक कोई अनुकूल तर्क इस अनुमान में नहीं दिखाया जाता है तब तक इस अनुमान को वैध मानना अनुचित ही होगा। नैयायिक ऐसे हेतु को स्वयं ही अप्रयोजक हेतु बताते हैं। अगर चक्षु का तैजसत्व सिद्ध नहीं हुआ तो ऐसी स्थिति में किस रीति से चक्षु का प्राप्यकारित्व स्थापित हो सकेगा। अत्यन्तासन्नार्थ प्रकाशकत्व को हेतु बनाकर जो अनुमान प्रभाचन्द्राचार्य चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व को सिद्ध करने के लिए करना चाहते हैं, उसका भी सङ्गतत्व व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता है। अनेक बार त्वचा आदि के द्वारा भी अत्यन्तासन्नार्थ का प्रकाशन नहीं होता है। ऐसी स्थिति में उसको हेतु बनाकर आप चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। जहाँ तक मन की बात है तो नैयायिक तो मन का भी प्राप्तार्थप्रकाशकत्व ही स्वीकार करते हैं। बाह्येन्द्रिय के स्वरूप के विषय में प्रश्न उठाकर जो चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व को सिद्ध करने की कोशिश है उसके खण्डन में सिर्फ इतना कथन ही पर्याप्त होगा कि मनोभिन्नेन्द्रियत्व को ही बाह्येन्द्रिय माना जा सकता है। नैयायिक के मत में तो इस हेतु में मनोभिन्न पद देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि नैयायिक तो मन को भी प्राप्यकारी मानते हैं। परन्तु विपक्षी के मत में मन का अप्राप्यकारित्व स्वीकार्य है। अत: उसके मत में व्यभिचार न हो इसलिए मनोभिन्न यह विशेषण हेतु में दे दिया गया है। वस्तुत: यहाँ पर

विचारणीय दो बिन्दु हैं कि किस तरह से दीवार आदि से व्यवहित के अप्रत्यक्षत्व को व्यवस्थापित किया जा सके तथा किस तरह शाखा और चन्द्रमा के तुल्यकालग्रहण को व्यवस्थापित किया जा सके। मुझे लगता है कि इसको न तो न्यायमत को आधार बनाकर समुचित रीति से व्यवस्थापित किया जा सकता है और न ही जैनादि के मत से चक्षु के अप्राप्यकारित्व को स्वीकार करके किया जा सकता है। चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व को स्वीकार करने पर सबसे बड़ी समस्या यह है कि दीवार आदि से व्यवहित का प्रत्यक्ष किस कारण नहीं होता है? इस प्रश्न का कोई भी सन्तोषजनक उत्तर चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व स्वीकार करनेवालों के पास नहीं है। न्यायमत में सबसे बड़ी समस्या यह है कि इस मत में दीवार आदि से व्यवहित के अप्रत्यक्षत्व की समस्या को तो समुचित रीति से हल कर लिया जाता है परन्तु शाखा और चन्द्रमा के तुल्यकालग्रहण को व्यवस्थापित कर पाना इस मत में सम्भव नहीं होता है। चक्षु के अप्राप्तार्थप्रकाशकत्व को स्वीकार कर इसका व्यवस्थापन भलीभाँति सम्भव होता है। इस समस्या पर नैयायिक कहते हैं कि तेज का वेग अचिन्त्य है इसी कारण चक्षु के द्वारा अत्यन्त शीघ्र ही चन्द्रादिपर्यन्त जाकर चन्द्रादि का ग्रहण सम्भव होता है तथा ऐसा लगता है कि एक साथ ही ये दो प्रत्यक्ष हुए हैं।[३६] परन्तु हम इसको किस तरह स्वीकार कर सकते हैं जब हमें ज्ञात है कि अनेक तारे हमसे इतने अधिक दूरी पर अवस्थित हैं कि उनसे चलकर हम तक आनेवाला प्रकाश बहुत बार तो अनेक वर्षों के बाद हम तक पहुँच पाता हैं। प्रकाश का वेग भी अचिन्त्य नहीं है अपितु उसकी भी एक सीमा है। नैयायिकों की भूल यही है कि वे प्रकाश के वेग को असीमित मानकर विचार करते हैं। अब नवीन शोधों के साहाय्य से यह मानना सम्भव है कि चक्षु प्राप्यार्थकारी है परन्तु न्यायमत में जिस रीति से चक्षु का प्राप्यकारित्व स्वीकारा जाता है उसको तो नहीं माना ता सकता है। तत्तद् वस्तुओं से आनेवाले प्रकाश की चक्षु द्वारा प्राप्ति होकर तत्तद्वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है यह निष्कर्ष तो स्वीकारा जा सकता है। ध्येय है कि न्यायसूत्रों में इस पक्ष को उठाकर खण्डन कर दिया गया है।[३७] परन्तु मैं इसी पक्ष को स्वीकार करने का पक्षपाती हूँ क्योंकि न्यायपरम्परा में वस्तुत: कोई भी निष्कर्ष अन्तिम नहीं है।

यहाँ पर यह और विचारणीय है कि नैयायिक जिस तरह से मन का भी प्राप्यकारित्व स्वीकारने की बात करते हैं क्या वह स्वीकारी जा सकती है ? साथ ही साथ जिस तरह से अभाव के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नैयायिक कल्पित करते हैं क्या उससे सहमत होना उचित होगा ? ये दोनों ही प्रश्न

नैयायिकों की प्राप्यकारित्व की अवधारणा पर सवालिया निशान खड़ा कर देते हैं। अभाव के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष के बिना किस तरह से अन्य दार्शनिकों के मत में भी अभाव का प्रत्यक्ष हो पायेगा ? अगर चक्षु से घटादि के अभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है तो उस स्थिति को छोड़ दें क्योंकि चक्षु का तो प्राप्यकारित्व बौद्धादि दर्शनों में स्वीकार्य नहीं है। परन्तु जहाँ पर त्वचा से घटाभाव का प्रत्यक्ष हो रहा है वहाँ पर कोई न कोई सन्निकर्ष तो घटाभाव के साथ इन्द्रिय का स्वीकारना ही पड़ेगा क्योंकि त्वगिन्द्रिय का तो प्राप्यकारित्व सर्वतोभावेन् ही स्वीकार्य है। तो मैं समझता कि अगर त्वगिन्द्रिय का घटादि के अभाव के साथ सन्निकर्ष सम्भव है तो मन का भी न्यायमत के अनुसार सन्निकर्ष तत्तद्विषयों के साथ स्वीकार कर लेने में कोई दोष नहीं है।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. *पृ. ४२, पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी, स.सं. विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७२.*

२. *अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा। अभिधर्मकोश १/४३.*

३. *तत्त्वार्थसूत्र १/१९.*

४. *अप्राप्य ग्रहणम् - काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः॥ न्यायसूत्रम् ३/१४४.*

५. *न-कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः॥ न्यायसूत्रम् ३/१/४५.*

६. *अप्रतीघातात् सन्निकर्षोत्पत्तेः। न्यायसूत्रम् ३/१/४६.*
आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेपि दाह्येऽविघातात्॥ न्यायसूत्रम् ३/१/४७.

७. *द्रष्टव्य-न्यायभाष्य ३/१/४७ पृ. २६५, न्यायदर्शनम्, सुनन्दाख्यहिन्दीटीका-सहितम्, सम्पादक एवं व्याख्याकार-सच्चिदानन्द मिश्र, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी*

८. *दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः॥ न्यायसूत्रम् ३/१/५०.*

९. *पृ. २०१ न्यायवर्त्तिकम्, न्यायचतुर्ग्रन्थिका, सम्पादक - श्री अनन्तलाल ठाकुर, मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, १९६७.*

१०. *पृथुतरग्रहणाच्च। पृ. २०१, वहीं पर।*

११. *दिग्देशव्यपदेशाच्च। यदि प्राप्यकारि चक्षुर्भवेत्, दिग्देशव्यपदेशो न स्यात्। न हि प्राप्यकारिषु घ्राणादिषु एतदस्तीति। वही*

१२. *सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणाच्च। यत् खलु गतिमद्भवति तत् तां गतिभिन्दत् सन्निकृष्टमाशु प्राप्नोति, विप्रकृष्टं चिरेण। शाखाचन्द्रमसोस्तुल्य-कालग्रहणं दृष्टम, तस्मादप्राप्यकारीति। वही*

१३. *एतदुक्तं भवति। अप्राप्यकारि चक्षुः अप्राप्यग्रहणादिति न प्रतिज्ञार्थाद्भिद्यते। पृ. २०२ वही*

१४. *यत्र शरीरमिन्द्रिय चोभयमर्थेन सम्बध्यते तत्र निरन्तरमिति ग्रहणं भवति। यत्र पुनरिन्द्रियमात्रे सम्बन्धः तत्र सान्तर इति। वही*

१५. सम्बन्धमात्रेण महदण्वोर्ग्रहणात्। ... तदपि शरीरावधिनिमित्तत्वेन प्रयुक्तम्। वही
१६. यत्पुनरेतदुक्तं दिग्देशव्यपदेशादिति, तदपि शरीरावधिनिमित्तत्वेन प्रत्युक्तम्। वही
१७. यत्पुनरेतत् शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणादिति, तदपि न, अनभ्युपगमात्। ...कालभेदस्याग्रहणान्मिथ्याप्रत्यय एष उत्पलशतपत्रभेदवदिति। वही
१८. पृ. २०२-२०३, वही
१९. पृ. २०३, वही
२०. चक्षु: प्राप्यकारि इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत्। वही
२१. करणं वास्यादि प्राप्यकारि दृष्टम्। तथा चेन्द्रियाणि तस्मात् प्राप्यकारीणिति। वही
२२. यदि खल्वेतानि कारणानि परस्परप्रात्यनपेक्षाणि स्वयमनुपजातशक्तिकानि कार्यमारभन्तु इति कस्मात् कार्यं सर्वत्र न भवतीति वक्तव्यम्। अतो न करणमप्राप्याकारि अस्तीति। अनेकदण्डचक्राद्युदाहरणं प्रसिद्धं लोके इति। वही
२३. पृ. ६० न्यायकन्दली,प्रशस्तपादभाष्यम् सम्पादक एवं व्याख्याकार दुर्गाधर झा, स.सं. वि.वि., वाराणसी १९७७.
२४. पृ. ६०-६१, नयायकन्दली
२५. वही
२६. ननु किमिदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम-बहिरर्थाभिमुख्यम्, बहिर्देशावस्थायित्वं वा ? प्रथमपक्षे मनसानेकान्त:। तस्य अप्राप्यकारित्वेपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्येन बाह्येन्द्रियत्वसिद्धे:। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धो हेतु:, रश्मिरूपस्य चक्षुषो बहिर्देशा-वस्थायित्वस्य भवतानभ्युपगमात्। पृ. २२१, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रभाचन्द्राचार्य, सम्पादक महेन्द्र कुमार शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई, १९४१।
२७. तथा चेन्द्रियत्वाविशेषेऽपि मनोऽप्राप्तार्थप्रकाशकं तथा बाह्येन्द्रियत्वाविशेषेऽपि चक्षु: किं नेष्यते ?... ततो मनसि तत्साधने प्रमाणबाधनमन्यत्रापि समानम्। वही
२८. पृ. २२२-२२३, वही
२९. तथा चाञ्जनादे प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धे: परोपदेशस्य दर्पणादेश्च तदर्थस्योपादानमनर्थकमेव स्यात्। पृ. २२३, वही
३०. पृ. २२४, वही
३१. पृ. २२५, वही
३२. पृ. २२५, वही
३३. पृ. २२५, वही
३४. पृ. २२८, वही
३५. पृ. २२९, वही
३६. अचिन्त्यो हि तेजसो लाघवातिशयेन वेगतिशयो यदुदयगिरिशिखरमारोहयत्येव मार्तण्डमण्डले भवनोदरेष्वालोक इत्यभिमानो लौकिकानाम्। ... तस्मात् मिथ्यैव यौगपद्याभिमान इति। पृ. २१७, तात्पर्यटीका, न्यायचतुर्ग्रन्थिका।
३७. न्यायसूत्र ३/१/३९-४०.

3.

मीमांसा दर्शन में इन्द्रियों का सत्सम्प्रयोगजन्य प्राप्यकारित्व

सोमनाथ नेने

भारतीय दर्शन में इन्द्रियवेद्य तथा अनिन्द्रिय वेद्य पदार्थों के ज्ञान की विधा को स्पष्ट करने की प्रक्रिया में इन्द्रियवेद्य पदार्थों के ज्ञान को प्राय: सभी दार्शनिकों ने 'प्रत्यक्ष' माना है। प्रमाणों में प्रथम स्थान पर परिगणित प्रत्यक्ष-प्रमाण में इन्द्रियों के सन्निकर्ष के स्वरूप तथा संख्या के विषय में जिस प्रकार दार्शनिक एकमत नहीं हैं वैसे ही, इन्द्रियाँ अर्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करती हैं या बिना अर्थ को प्राप्त किए ही उनसे अर्थ प्रकाशित हो जाता है ? इस सन्दर्भ में भी दार्शनिक एक मत नहीं हैं। अर्थ को प्राप्त करके इन्द्रियों द्वारा उनके प्रकाशन को 'प्राप्यप्रकाशकारित्व' तथा बिना अर्थ को प्राप्त किए उन्हें प्रकाशित करने के सिद्धान्त को अप्राप्यप्रकाशकारित्व का सिद्धान्त माना जाता है।

भारतीय दर्शन के आस्तिक वर्ग में परिगणित सम्प्रदायों में सांख्य, योग तथा वेदान्त दर्शन में सभी इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है। न्याय तथा वैशेषिक प्रस्थानों में भी सभी बाह्येन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है। मन के विषय में इनमें आन्तरिक मतभेद हैं। कुछ विद्वान् मन को भी संस्कार-लक्षण-प्रत्यासत्ति के बल पर प्राप्यप्रकाशकारी मानते हैं। इसके विपरीत

अन्य वैशेषिक विद्वान् मन को अप्राप्यप्रकाशकारी ही निरूपित करते हैं।[1] मीमांसा-शास्त्र में मन को छोड़कर सभी इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है।[2]

भारतीय दर्शन के नास्तिक वर्ग में विद्यमान बौद्ध दार्शनिक जहाँ चक्षु, श्रोत्र एवं मन को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के विरुद्ध हैं[3] वहीं जैन दार्शनिक भी मन एवं चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते।[4]

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता तथा अप्राप्यप्रकाशकारिता का विवाद बाह्येन्द्रियों के सन्दर्भ में 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' तक परिसीमित है। घ्राण, त्वग् एवं रसना को सभी ने प्राप्यप्रकाशकारी माना है। पञ्चज्ञानेन्द्रियों में 'चक्षु' तथा श्रोत्र को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के पक्ष पर बौद्ध-दार्शनिकों का यह आक्षेप है कि यदि इन दोनों को प्राप्यप्रकाशकारी माना जाए तो इनके प्राप्यप्रकाशकारित्व की सङ्गति दो ही स्थितियों में सम्भव है -

१. चक्षु तथा श्रोत्र, ये दोनों इन्द्रियाँ अपने स्थानों से चलकर विषय देश में जाएँ तथा उनसे सम्बद्ध हों।

२. विषय ही स्वयं चलकर इन्द्रियों के प्रदेश तक आयें और उनसे सम्बद्ध हो जाएँ।

इनमें से प्रथम पक्ष का अनुभव से ही निराकरण हो जाता है। दूसरे पक्ष की स्वीकृति में 'अग्नि' को देखने पर आँख के जल जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। इन तर्कों के आधार पर बौद्ध दार्शनिकों ने इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने वाले दार्शनिकों के समक्ष अपना आक्षेप उपस्थित किया है।

बौद्धों के आक्षेप के निराकरण के लिए जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक, सांख्य तथा योगमतावलम्बी दार्शनिकों ने विचार किया है। उसी प्रकार मीमांसा में भी इस पर विचार उपलब्ध होता है। इस परिप्रेक्ष्य में मीमांसा के अभिमत विचार का निम्न बिन्दुओं के माध्यम से परिशीलन किया जा सकता है।

सूत्रकार तथा भाष्यकार का दृष्टिकोण

मीमांसा शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि ने धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवर्त्तकता (अप्रामाण्य) प्रदर्शित करने के उद्देश्य से "सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्"[5] इस प्रत्यक्ष सूत्र की रचना की है। इस सूत्र के अनुसार विद्यमान विषयों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध से पुरुष में जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उस ज्ञान का साधन प्रत्यक्षप्रमाण है। सूत्र के आधे भाग के इस अर्थ के परिशीलन से यह स्पष्ट है कि महर्षि जैमिनि को इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता ही अभिमत है।

इस सूत्र की व्याख्या में आचार्य भवदास ने 'सत्सम्प्रयोगे' इस पद का

'सता सम्प्रयोग' अर्थ माना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पदार्थ के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न सभी ज्ञान सम्प्रयोगज प्रत्यक्ष हैं। वर्तमान मेघ के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न मेघ के प्रत्यक्ष से भावी वृष्टि के अनुमिति ज्ञान में सत्सम्प्रयोगजत्व होने पर भी विद्यमानोपलम्भनत्व नहीं है, अत: 'प्रत्यक्षं सत्सम्प्रयोगजं विद्यमानोपलम्भ-नत्वात्' यह हेतु बाधित होने के कारण 'सत्सम्प्रयोग' शब्द की व्याख्या 'सता सम्प्रयोग' इस प्रकार तृतीयासमासघटित न मानकर 'संश्चासौ प्रयोगश्च' इस प्रकार अभेदगर्भित कर्मधारयसमास के आधार पर मानने की स्थिति में सम्प्रयोग से केवल मेघ का ज्ञान निष्पन्न होता है। भावी वृष्टि के अनुमान में विद्यमान मेघ के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग की उपयोगिता नहीं है; अत: उक्त अनुमान में विद्यमानोपलम्भनत्व का व्यभिचार नहीं है।[६] विवेचित दोनों मतों में किसी अन्य आधार पर भले ही मतभेद हो परन्तु इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता दोनों ही मतों में समान रूप से ग्राह्य है।

भाष्यकार शबर स्वामी उक्त प्रत्यक्ष सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि ''सतीन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते तत्प्रत्यक्षम्। भविष्यंश्चैषोऽर्थो न ज्ञानकालेऽस्तीति। सतश्चैतदुपलम्भनं नासत:।'' किसी वस्तु के सत् (वर्तमान) रहने पर ही उसका ग्रहण होता है। असत् (भविष्यत्) अर्थ ज्ञानकाल में नहीं रहता। किसी वस्तु के वर्तमान में रहने पर ही उसका ग्रहण होता है, असत् का नहीं।[७]

भाष्यकार शबर स्वामी की इन पंक्तियों के समालोचन से इन्द्रियों का प्राप्यप्रकाशित्व ही इन्हें अभिमत है, यही अर्थ परिलक्षित होता है।

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता विषयक गुरुमत

भाष्यकार शबर स्वामी के अनन्तर मीमांसाशास्त्र का चिन्तन, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर तथा मुरारि मिश्र, इन विद्वानों के द्वारा प्रवर्त्तित त्रिवेणी में प्रवाहित होता रहा है। इनमें गुरु प्रभाकर के अनुयायी विद्वान् शालिकनाथ मिश्र ने प्रकरणपञ्चिका में साक्षात् प्रतीति को प्रत्यक्षलक्षण[८] के रूप में स्थापित किया है - ''साक्षात्प्रतीति: प्रत्यक्षम्''। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आचार्य शालिकनाथ ने आचार्य गौतम द्वारा प्रतिपादित चक्षु के 'प्राप्यप्रकाशकारित्व' का समर्थन किया है। आचार्य शालिकनाथ ने गौतमसम्मत चक्षु के प्राप्यप्रकाशकारित्व-साधक अनुमान को प्रदर्शित किया है -

१. चक्षु प्राप्यप्रकाशकारी है,

२. बहिरिन्द्रिय होने से,

३. त्वगिन्द्रिय के समान।

"प्राप्यकारि चक्षुः बहिरिन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्"[९] इस अनुमान में बहिरिन्द्रियत्व हेतु से चक्षु इन्द्रिय के न्यायशास्त्राभिमत प्राप्यप्रकाशकारित्व का समर्थन किया गया है। आचार्य शालिकनाथ ने सर्वप्रथम गौतम के प्रत्यक्षलक्षण को उद्धृत किया है - 'इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न, जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी तथा व्यवसायात्मक ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।'

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।"[१०] इस प्रत्यक्ष लक्षण में शाब्दबोध में प्रत्यक्षलक्षण की प्रसृति रोकने के लिए अव्यपदेश्य, भ्रमात्मक ज्ञान में प्रसृति न हो इसलिए अव्यभिचारी तथा संशयात्मक ज्ञान में प्रसृति के निवारणार्थ व्यवसायात्मक पद की योजना की गई है। आचार्य शालिकनाथ ने इस प्रत्यक्ष लक्षण को उद्धृत करने के बाद सर्वप्रथम चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी सिद्ध करने के लिए उक्त अनुमान को प्रदर्शित किया तथा इस चक्षु इन्द्रिय की विषय के साथ प्राप्ति सिद्ध करने के लिए इसे न्यायमतानुसार तैजस पदार्थ माना है। इनका कहना है कि चक्षु भी रूप के ज्ञान में दीप के समान कारण होने से तैजस पदार्थ है। चक्षु की रश्मियाँ प्रसृत होकर द्रव्य से संयुक्त हो जाती हैं अर्थात् जुड़ जाती हैं तथा फैल जाने के अपने स्वभाव (पृथ्वग्रता) के कारण बड़े से बड़े पर्वतादि द्रव्यों के साथ इस चक्षु की रश्मियों के माध्यम से प्राप्ति हो जाती है।[११]

चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने के पक्ष में आचार्य शालिकनाथ ने बौद्धों की दृष्टि से तीन आपत्तियों को उपस्थापित कर न्यायमतानुरूप इन तीनों आपत्तियों के समाधान भी प्रस्तुत किए हैं। बौद्धों द्वारा उपस्थापित आपत्तियाँ निम्नलिखित हैं -

(१) चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर जिस प्रकार त्वगिन्द्रिय से समीप में विद्यमान पदार्थ का अवबोध होता है उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा भी समीप के ही विषय का प्रकाशन होगा। दूरवर्ती वस्तु का भी जो उसके द्वारा प्रकाशन होता है, वह चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर असंङ्गत हो जाता है।

(२) चक्षु इन्द्रिय द्वारा काँच, स्फटिक, अभ्रकादि पदार्थों से अन्तरित पदार्थ का प्रत्यक्ष, अनुभवसिद्ध है, परन्तु इसे प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर अन्तरित

पदार्थ के साथ सम्बन्ध न होने से इनका (अन्तरित पदार्थों का) प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जाता है।

(३) इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी मानने की स्थिति में इसके द्वारा एक ही समय में पास तथा दूर के पदार्थों का जो इसके द्वारा प्रत्यक्ष होता है उसकी भी असंङ्गति हो जाती है।

इन तीनों अनुपपत्तियों को प्रदर्शित करने के अनन्तर आचार्य शालिकनाथ ने इनके स्वसमर्थित न्यायदर्शनाभिमत समाधान भी प्रदर्शित किए हैं।

एक काल में समीप तथा दूरवर्ती सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष की सङ्गति के लिए उनका प्रथम समाधान यह है कि समस्त अर्थों के साथ विद्यमान रहने वाले बाह्य तेज के साथ चक्षु की रश्मियों का एकीभाव हो जाने से तेज के इस एकीभाव की ही चक्षुद्वारा एककाल में समीप तथा दूरस्थ पदार्थों के एक साथ ग्रहण में कारणता है।[१२]

समीपवर्ती तथा दूरवर्ती पदार्थों के, चक्षु को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर, एक काल में ग्रहण होने की आपत्ति[१३] का न्यायदर्शनाभिमत समाधान आचार्य शालिकनाथ ने प्रदर्शित किया है। इनका कहना है कि चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ अत्यन्त शीघ्रगामी हैं; अत: सूक्ष्म होने से 'शतपत्र'-भेदन में एक पत्र से दूसरे पत्र के बीच में काल का ग्रहण न हो पाने से सभी पत्तों में एक साथ सूई द्वारा छेद किए जाने का जैसे भान होता है वैसे ही चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ यद्यपि बारी-बारी से समीप तथा दूरवर्ती पदार्थों के साथ संयुक्त होती हैं लेकिन इनकी गति अत्यन्त शीघ्र होने के कारण ही उनसे हम पास तथा दूरस्थ पदार्थों को एक साथ देख रहे हैं, ऐसा मिथ्या यौगपद्याभिमान होता है।[१४]

चक्षु इन्द्रिय के रश्मियों की तीव्रगामिता के आधार पर समीप तथा दूर की वस्तुओं के समकालावबोध की सङ्गति के लिए वे नारायण भट्ट द्वारा प्रतिपादित इस तर्क को स्वीकार करते हैं कि पास तथा दूर में स्थित पदार्थों के ग्रहण में चक्षु की रश्मियों के भेद में अत्यधिक गति होने के कारण कमल के शतदल के भेदन में विद्यमान काल के समान उस गति का बोध न होने से यद्यपि यौगपद्याभिमान माना जा सकता है परन्तु इसके आधार पर पृथ्वी पर विद्यमान वृक्षादि पदार्थ तथा अनेक योजन-अवबोध में इन्द्रिय की गति की कारणता का सिद्धान्त बुद्धिरञ्जक नहीं है।[१५]

इन्द्रिय तेज का बाह्य तेज के साथ एकीभाव मानने पर सर्वदर्शिता की आपत्ति उठती है। चक्षु द्वारा अत्यन्त दूरस्थ सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष होना

चाहिए, परन्तु ऐसा होना अनुभव विरूद्ध है। इस आशङ्का का समाधान आचार्य शालिकनाथ 'अदृष्ट' की योजना द्वारा प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि चक्षु इन्द्रिय के तेज का बाह्य तेज के साथ एकीभाव होने पर भी जितने बाह्य पदार्थों की 'अदृष्ट' द्वारा अवलोकनार्थ प्राप्ति होती है केवल उतने ही पदार्थों का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के तेज (रश्मियों) का बाह्य तेज के साथ एकीभाव हो जाने पर भी प्रत्यक्ष में 'अदृष्ट' की भी कारणता होने से न तो समस्त विश्व की प्रत्यक्षता का प्रसङ्ग उपस्थित होता है और न ही पास तथा दूर के पदार्थों के युगपत् प्रत्यक्ष (सहोपलम्भ) की असंङ्गति होती है। पास तथा दूर के पदार्थों का प्रत्यक्ष युगपत् हो, ऐसे अदृष्ट के अस्तित्व के बल पर इनके सहोपलम्भ-प्रत्यक्ष की सङ्गति हो जाती है।[१६]

चक्षु इन्द्रिय का प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर उसके द्वारा काँच, अभ्रपटल, स्फटिकादि से व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्ष की असङ्गति का जो पक्ष उठाया गया है, उसके समाधान को प्रदर्शित करते हुए आचार्य शालिकनाथ लिखते हैं कि 'काँच,अभ्रक,स्फटिकादि पदार्थ अत्यन्त स्वच्छ रहने के कारण वे चक्षुरूपी इन्द्रिय की किरणों (रश्मियों) के उनसे व्यवहित पदार्थों के साथ सम्बद्ध होने में प्रतिबन्धक नहीं बनते, अतः चक्षु (विषय को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित करता है, इस प्रकार) की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को मानने के पक्ष में चक्षु द्वारा काँच आदि से व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्ष की सङ्गति अक्षुण्ण ही रहती है।[१७]

उक्त विवेचना तक चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता के न्यायदर्शनाभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के अनन्तर चक्षु इन्द्रिय को प्राप्यप्रकाशकारी न मानने वाले बौद्धों के पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए आचार्य शालिकनाथ न्यायदर्शन के पक्ष की ओर से कहते हैं कि "जो (चक्षु इन्द्रिय को) प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते उन बौद्धों के मत में व्यवहित पदार्थ चाहे वह दीवार आदि से भी व्यवहित क्यों न हो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि इनके मत में प्रत्यक्षता के लिए इन्द्रिय को अर्थप्राप्ति अपेक्षित नहीं है। इसी प्रकार अत्यन्त दूरस्थ पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि,उनके मत में प्रत्यक्षता के लिए इन्द्रिय को अर्थप्राप्ति अपेक्षित नहीं है। अनुभव में न तो व्यवहित पदार्थ का प्रत्यक्ष सङ्गत हो पाता है और विप्रकृष्ट दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्ष। इसी प्रकार इन्द्रिय द्वारा अप्राप्त अर्थ के समान दूरस्थ अर्थ का तथा अणु पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए था क्योंकि इनके साथ भी इन्द्रिय (चक्षु) का सम्बन्ध (प्राप्ति)नहीं है।[१८]

इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय की अप्राप्यप्रकाशकारिता के पक्ष में दोषों को प्रदर्शित करने के अनन्तर फिर से चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता के पक्ष में सङ्गति प्रदर्शित करते हुए आचार्य शालिकनाथ लिखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय विषय (अर्थ) को प्राप्त करके ही उसे प्रकाशित करती है, इस सिद्धान्त को मानने में यह समाधान विद्यमान है कि दूरस्थ पदार्थों के साथ चक्षु इन्द्रिय का जब सम्बन्ध होता है, तब दूरी के कारण तेज के अवयवों की कमी होने के कारण ही दूरस्थ पदार्थों के अस्फुट दर्शन (साफ-साफ न दिखने की) भी संङ्गति हो जाती है। इसी प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म अण्वादि पदार्थों में तथा आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा के प्रत्यक्ष में अपेक्षित कारण सामग्री न होने से इनके प्रत्यक्ष न होने की भी सङ्गति हो जाती है। प्रत्यक्ष में जिस प्रकार इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष की कारणता है, उसी प्रकार महतत्त्व, अनेक द्रव्यत्व तथा रूप विशेष की भी कारणता मानी गई है। अणु पार्थिव होने पर भी उनमें महतत्त्व (महत् परिमाण) न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। आकाश, काल,दिक् तथा आत्मा ये द्रव्य परममहत्परिमाण के माने गए हैं। इनमें प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित महत्परिमाण तथा रूपविशेष दोनों नहीं हैं ; अत: इनका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष न होना सर्वथा समीचीन है।[१९]

आचार्य शालिकनाथ ने प्रकरण पञ्चिका में यद्यपि स्वयं अपने पक्ष के रूप में चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता का प्रतिपादन नहीं किया है तथापि दो आधारों पर इन्हें यह सिद्धान्त अभिमत है, यह तथ्य स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

प्रथम आधार यह है कि इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को इन्होंने न्यायदर्शनानुसार प्रदर्शित किया है तथापि, महर्षि गौतम के 'प्रत्यक्षलक्षण' का इन्होंने प्रतिपद निराकरण किया है। परन्तु इसी प्रत्यक्षलक्षण की प्रक्रिया में इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता का सिद्धान्त होने पर भी इसका आचार्य शालिकनाथ ने निराकरण नहीं किया है। अन्यवादिसम्मत अविरूद्ध सिद्धान्त निराकृत न होने पर उसे अभिमत ही माना जाता है।

दूसरा आधार यह है कि न्यायदर्शनाभिमत चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता पर उठी हुई सर्वदर्शिता की उक्त आपत्ति के निराकरणार्थ इन्होंने स्वयं अदृष्ट-सापेक्षत्व का सिद्धान्त स्वाभिमत रूप से प्रस्तुत किया है, ऐसा सप्रमाण कहा जा सकता है।[२०]

इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता विषयक भाट्टमत

जैमिनि महर्षि के प्रत्यक्ष सूत्र के 'सत्सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ इन्द्रियों की 'अर्थप्राप्ति' मानकर इस प्रत्यक्ष-लक्षण की 'श्रोत्र' तथा चक्षु में, इनकी अर्थ-प्राप्ति न होने से, इनसे होने वाले प्रत्यक्ष में अव्याप्ति है, ऐसा बौद्धों का आक्षेप है। इस आक्षेप से जैमिनि के प्रत्यक्ष-सूत्र को अव्याप्ति दोष रहित सिद्ध करने के लिए आचार्य कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्त्तिक के प्रत्यक्ष-सूत्र के वार्त्तिक में वार्त्तिक संख्या ४० से ५१ तक १२ वार्त्तिकों द्वारा बौद्धोक्त 'अव्याप्ति' से प्रत्यक्ष सूत्र के राहित्य-सिद्धि के लिए इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता पर विचार किया है।

बौद्धों द्वारा 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' में सम्प्रयोग रूपी प्राप्ति न होने से लक्षण की इनमें अव्याप्ति होने के आक्षेप के निराकरणार्थ चार समाधान प्रस्तुत किए हैं। इनमें से प्रथम तीन समाधान इन्द्रिय के प्राप्यप्रकाशकारित्व या अप्राप्यप्रकाशकारित्व, इन दोनों स्थितियों में सङ्गत होने से इस विषय में इनके औदासिन्य को ही प्रकट करते हैं। इन तीनों समाधानों का स्वरूप इस प्रकार हैं

१. सामान्यव्यापार मात्र का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन -

कुमारिल भट्ट का कहना है कि बौद्धों द्वारा 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' इन्द्रिय में विषय के साथ सम्प्रयोग रूपी 'प्राप्ति' न होने से जो प्रत्यक्षलक्षण में अव्याप्ति दोष उत्थापित किया गया है वह समीचीन नहीं है। कारण यह है कि जैमिनि के सूत्र में स्थित सम्प्रयोग शब्द का अर्थ प्राप्ति नहीं है, अपितु इन्द्रियों का अर्थ के साथ एक 'सामान्य व्यापार मात्र' सम्प्रयोग शब्द का अर्थ है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) के मध्य एक सामान्य व्यापार उन्हें भी मानना होगा जो इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते। यदि इन्द्रिय के अर्थ के साथ किसी सामान्य व्यापार के बिना इन्द्रिय द्वारा अप्राप्त अर्थ का प्रकाशन माना जायेगा तो ऐसी स्थिति में जिनके साथ इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे अनन्त विषयों का सार्वकालिक प्रकाशन मानना होगा, जो सर्वथा अनुभव के विरूद्ध है। इसलिए सूत्रस्थ सम्प्रयोग शब्द का अर्थ व्यापार सामान्य मानना नितान्त आवश्यक है। व्यापार सामान्य को सम्प्रयोग शब्द का अर्थ मान लेने पर इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता मानी जाए या अप्राप्यप्रकाशकारिता, दोनों ही स्थितियों में बौद्धों द्वारा उत्थापित अव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।[२१]

२. आर्जव (आभिमुख्य) का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन -

आचार्य कुमारिल भट्ट ने आर्जव-स्थिति का सम्प्रयोग शब्द के अर्थ के

रूप में प्रतिपादन करते हुए द्वितीय समाधान प्रस्तुत किया है। 'ऋजो: भाव आर्जवम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर इन्द्रिय (चक्षु) के सीधे सामने विषय के रहने की स्थिति को 'आर्जव' कहते हैं। इन्द्रियाँ विषय को प्राप्त करके प्रकाशित करें या उन्हें बिना प्राप्त किए, दोनों ही स्थितियों में प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय तथा विषय की आर्जव-स्थिति अनिवार्य है। जो लोग इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी नहीं मानते, उनके मत में भी, इन्द्रिय की स्थिति के विपरीत स्थित विषय का प्रत्यक्ष अभिमत नहीं है। इस प्रकार उभयवादिसम्मत 'आर्जव' को सम्प्रयोग शब्द का अर्थ मान लेने पर जैमिनि के प्रत्यक्ष सूत्र पर बौद्धों द्वारा उपस्थापित अव्याप्ति दोष का परिहार हो जाता है।[२२]

३. योग्यता (शक्ति) का सम्प्रयोगार्थ के रूप में प्रतिपादन -

आचार्य कुमारिल भट्ट तीसरा समाधान, योग्यता या शक्ति को सम्प्रयोग शब्द के अर्थ के रूप में उपस्थित करते हुए प्रतिपादित करते हैं। इनका इस सन्दर्भ में कहना है कि इन्द्रियाँ चाहे विषय को प्राप्त करके प्रकाशित करें, चाहे उन्हें बिना प्राप्त किए, दोनों ही स्थितियों में एक तथ्य समान है। वह यह कि सभी इन्द्रियों द्वारा न तो सभी विषयों का प्रत्यक्ष होता है, और न ही कोई विशेष इन्द्रिय किसी विशेष पदार्थ का सदा तथा सभी स्थितियों में प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। विशेष परिस्थिति में विशेष इन्द्रिय द्वारा अर्थविशेष का प्रत्यक्ष हुआ करता है। किस इन्द्रिय में किस समय, किस परिस्थिति में, किस अर्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य रूपिणी योग्यता या 'शक्ति' है, इसका अनुमान उस इन्द्रिय के अर्थ प्रकाशन रूपी कार्य द्वारा लगाया जा सकता है। प्रत्यक्ष रूपी कार्य द्वारा अनुमित इस 'शक्ति' या योग्यता को ही 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ मान लेने से भी इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता एवं अप्राप्यप्रकाशकारिता दोनों मतों की दृष्टि से सूत्र में उपस्थापित अव्याप्ति निरस्त हो जाती है।[२३]

सांख्यमतानुरूप समाधान

जैमिनि के प्रत्यक्ष सूत्र पर बौद्धों द्वारा उपस्थापित अव्याप्ति दोष के निराकरणार्थ उक्त तीनों समाधानों के प्रतिपादन के बाद कुमारिल भट्ट का कहना है कि इन समाधानों के रहते हुए भी यदि बौद्ध 'सम्प्रयोग' शब्द का प्राप्तिरूप अर्थ मानते हुए सूत्र पर अव्याप्ति दोष स्थापित करने पर ही यदि अड़े रहते हैं तो, ऐसी स्थिति में 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' की अप्राप्यप्रकाशकारिता सिद्ध करने के लिए उन्हें इन्द्रियों की 'प्राप्यप्रकाशकारिता' मानने वाले सांख्यों के पक्ष का खण्डन करना होगा। इस उपालम्भ के साथ दोनों इन्द्रियों के विषय में बौद्धों के

अप्राप्यप्रकाशकारित्व के सिद्धान्त के निराकरणार्थ 'मन' के अतिरिक्त सभी इन्द्रियों के, सांख्यशास्त्राभिमत, प्राप्यप्रकाशकारित्व के सिद्धान्त को कुमारिल भट्ट ने निम्न अनुमान द्वारा प्रदर्शित किया है -

१. 'श्रोत्र' तथा 'चक्षु' भी प्राप्यप्रकाशकारी हैं ,

२. इन्द्रिय होने से,

३. 'त्वग्' इन्द्रिय के समान।

बौद्ध इस अनुमान को प्रत्यक्ष-विरूद्ध मानकर इसका निराकरण करते हैं। उनका कहना है कि चक्षु तथा श्रोत्र ये दोनों शरीर के चक्षुगोलक तथा कर्ण शष्कुली में ही विद्यमान रहते हैं। न तो चक्षु इन्द्रिय घटादि विषयों के पास पहुँचती है और न ही श्रोत्रेन्द्रिय शब्द के देश में जा पाती है, यह तथ्य तो प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है। इस प्रबल प्रमाण का अनुभव के विरुद्ध होने से इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता का साधक अनुमान असिद्ध है।

बौद्धों द्वारा उत्थापित प्रत्यक्षानुभवविरोध रूपी आक्षेप का समाधान आचार्य कुमारिल भट्ट सांख्यों के वृत्ति-सिद्धान्त द्वारा करते हैं। सांख्यशास्त्र के अनुसार 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' अपने स्थान को छोड़े बिना भी प्रदीप के समान शरीर से निकलकर घटादि विषयों के आकारों में परिणत हो जाते हैं। घटादि विषयों के आकार में परिणाम को प्राप्त करना ही इन्द्रियों की वृत्ति कही जाती है। इस वृत्ति के माध्यम से अपना स्थान छोड़े बिना भी विषय के साथ उनके प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सङ्गति हो जाती है।[२४]

इस समाधान पर भी बौद्धों की यह आपत्ति है कि यदि चक्षु एवं श्रोत्र अपने स्थान से बाहर जाकर विषय से प्राप्ति-सम्बन्ध स्थापित कर पाते तो ऐसी स्थिति में कभी उनमें दोष आने पर उनके स्थान में चिकित्सा न कर अन्यत्र भी उनकी चिकित्सा का होना सम्भव हो पाता परन्तु ऐसा होता नहीं है। अत: यही सिद्ध होता है कि ये चक्षु तथा श्रोत्र अपने अधिष्ठान, 'चक्षुगोलक' तथा 'कर्णशष्कुली' से भिन्न नहीं हैं।[२५]

बौद्धों द्वारा उत्थापित इस आक्षेप के समाधानार्थ कुमारिल भट्ट का कहना है कि 'चक्षुगोलक' तथा कर्णशष्कुली में जो चिकित्सा की जाती है वह उनमें रहने वाली इन्द्रियों के लिए ही की जाती है। अत: इस आधार पर इन्द्रियाँ अपने स्थानों से अभिन्न हैं, ऐसा तथ्य सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'चक्षु' के उपकार के लिए पाँव में भी तैलमर्दन किया जाता है जो 'चक्षु' इन्द्रिय की उसके अधिष्ठान से भिन्नता को ही सिद्ध करता है। अत: 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र'

अपने स्थानों को छोड़कर घटादि विषयदेश में नहीं जा सकते, ऐसा नहीं कहा जा सकता।[२६]

सान्तराग्रहण एवं दूरग्रहण की अनुपपत्तियों का समाधान

बौद्धों ने इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता पर 'सान्तरग्रहण' तथा दूरग्रहण की अनुपपत्ति का आक्षेप किया है। इन दोनों आक्षेपों में से प्रथम 'सान्तराग्रहण' का आक्षेप यह है कि इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर समीप तथा दूर दोनों प्रकार के विषयों के साथ इन्द्रियों का समान रूप से सम्बन्ध होने पर यह विषय पास है तथा यह विषय दूर है, ऐसा जो (सान्तरग्रहण) भान होता है उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।

दूसरा आक्षेप यह है कि इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर इन्द्रिय के अधिष्ठान चक्षुगोलक से बड़े आकार के पर्वतादि पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। जो होता है उसकी उनुपपत्ति हो जाती है।[२७]

प्रथम आपत्ति का समाधान

सान्तराग्रहण के आक्षेप पर कुमारिल भट्ट सांख्यामतानुसार यह समाधान देते हैं कि जिस प्रकार आत्मा सर्वगत होने पर भी शरीर में समझी जाती है तथा इसीलिए मृतावस्था में शरीर से इसकी विच्छेद-बुद्धि की उपपत्ति हो जाती है उसी प्रकार इन्द्रियाँ वृत्ति के माध्यम से सर्वगामी होने पर भी उन्हें उनके अधिष्ठान में ही मानने की रूढ़ि होने से उनसे यह पदार्थ समीप, तथा यह पदार्थ दूर, ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुआ करती है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह स्थिति 'चक्षु' तथा 'श्रोत' इनमें केवल 'चक्षु' तक ही सीमित है। श्रोत्र के सन्दर्भ में मीमांसा का मत है कि चूँकि केवल श्रोत्र में ही शब्द का ग्रहण होता है, अत: शब्दज्ञान में दूरत्व एवं समीपत्व की जो प्रतीति होती है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु भ्रामक है।[२८]

द्वितीय आपत्ति का समाधान

इन्द्रियों को प्राप्यप्रकाशकारी मानने पर उनसे अधिक विस्तृत आयतन वाले तथा दूरस्थ विषय के प्रत्यक्ष पर बौद्धों द्वारा जो आपत्ति प्रस्तुत की गई है उसके निराकरणार्थ 'चक्षु' इन्द्रिय के सन्दर्भ में सांख्यमत का अवलम्बन करते हुए कुमारिल भट्ट कहते हैं कि इन्द्रिय (चक्षु) दीपप्रभा के समान काम करती है। जिस प्रकार दीपप्रभा पदार्थ की दीर्घता तथा विस्तार के अनुरूप ही उसे प्रकाशित करती है, अपनी दीर्घता तथा विस्तृति से नहीं, उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय भी (वृत्ति के माध्यम से) पदार्थ की दीर्घता तथा विस्तार के अनुरूप ही

उसे प्रकाशित करती है। इन्द्रिय की यह वृत्ति जिस प्रकार दूरस्थ पदार्थ तक फैलती है वैसे ही पदार्थ के स्वरूप के समान भी इसके फैलने के कारण इन्द्रिय की इस वृत्ति के माध्यम से दूरस्थ पदार्थ तथा इन्द्रियाकार से अधिक आकार के पदार्थों के भी प्रत्यक्ष होने की सङ्गति बन जाती है।[२९]

वृत्ति के माध्यम से चक्षु इन्द्रिय का दूरस्थ विषय के साथ सम्बन्ध मानने पर बौद्धों की यह आपत्ति है कि ऐसी स्थिति में इन्द्रियाँ अत्यधिक दूर के अर्थ को प्रकाशित क्यों नहीं करती ? इस प्रश्न का समाधान भी श्लोकवार्त्तिक की न्यायरत्नाकर व्याख्याकार पार्थसारथि मिश्र ने दीपप्रभा के दृष्टान्त के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। इनका कहना है कि इन्द्रिय (चक्षु) से जितने दूर के अर्थ का ग्रहण होता है इस कार्य से इन्द्रियवृत्ति की दूरगति (रूपकारण) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैसे दीपप्रभा अपने स्थान पर रहते हुए निश्चित दूरी तक ही जा सकती है, वैसे ही इन्द्रियवृत्ति भी इन्द्रियस्थान पर रहते हुए उससे एक निश्चित दूरी तक ही जा सकती है। अपने इस समाधान के प्रदर्शन के बाद पार्थसारथि मिश्र प्रतिपक्षी बौद्धों पर ही उलट कर यह आक्षेप करते हैं कि इन्द्रियों को अप्राप्यप्रकारी मानने पर इन्द्रिय के संयोग का अभाव जिस प्रकार समीपस्थ वस्तु के साथ है वैसा ही दूरस्थ पदार्थ के साथ भी है, अत: दूरस्थ तथा व्यवहित पदार्थ के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति बौद्धों के मतमें ही अधिक प्रभावी है।[३०]

बौद्धों के पक्ष से आचार्य कुमारिल भट्ट ने यह प्रश्न भी उपस्थापित किया है कि यदि इन्द्रियों की वृत्तियाँ विषय प्रदेश में जाकर उन्हें प्रकाशित करती हैं तो ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के अधिष्ठान गोलकादि के नष्ट हो जाने पर भी उन्हें विषय का प्रकाशन करना चाहिए था? परन्तु ऐसा नहीं होता।

आचार्य कुमारिल भट्ट इस आपत्ति का समाधान भी दीपप्रभा के दृष्टान्त द्वारा पस्तुत करते हैं। इनका कहना है कि जैसे तैलवार्तिक आदि का नाश हो जाने पर दीपप्रभा भी नष्ट हो जाती है उसी प्रकार इन्द्रिय से बाहर जाने वाली इन्द्रिय की वृत्ति भी उस इन्द्रिय के अधिष्ठान गोलकादि के नष्ट हो जाने से या उसके आच्छादित होने की स्थिति में भी चक्षु इन्द्रिय की रश्मियाँ, पुरुष के प्रयत्न से रहित हो जाने के कारण, आत्मा को अर्थ का समर्पण नहीं करा पातीं।[३१]

समाकलित विमर्श

मीमांसा दर्शन, धर्म रूपी विषय के प्रतिपादनार्थ प्रवृत्त हुआ है। धर्म में एकमात्र वेद की प्रामाणिकता प्रतिपादित की गई है। वेदातिरिक्त प्रत्यक्षादि प्रमाण धर्मप्रमा के प्रतिपादन में असमर्थ हैं, इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए ही

महर्षि जैमिनि ने प्रत्यक्ष सूत्र की रचना की है। इस सूत्र में विद्यमान 'सम्प्रयोग' शब्द का प्राप्तिरूप अर्थ मानकर 'चक्षु' तथा 'श्रोत्र' में सूत्रस्थ सम्प्रयोग शब्द का अर्थविषयप्राप्ति की असङ्गति दिखाकर बौद्धों ने प्रत्यक्ष सूत्र की समीचीनता पर प्रश्न उपस्थित किया था। इस असमीचीनता के आक्षेप से ही यह विषय मीमांसा में विचारार्थ उपस्थित हुआ है। सूत्र की समीचीनता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से ही मीमांसा दर्शन के गुरू तथा भाट्ट, दोनों सम्प्रदायों ने अवान्तर रूप से प्राप्यकारित्व की समस्या पर विचार किया है।

प्रभाकर मतावलम्बी मीमांसक आचार्य शालिकनाथ ने इन्द्रिय द्वारा अर्थ की प्राप्ति को 'सम्प्रयोग' शब्द का अर्थ मानकर बौद्धों द्वारा उत्पादित आक्षेप के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रिय (चक्षु) की प्राप्यप्रकाशकारिता की सिद्धि में न्याय दर्शन में दिए गए सिद्धान्तों का समर्थन करते हुए इस सिद्धान्त के साथ अपनी सहमति प्रकट की है तथा इन्द्रिय के प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को मानने पर सभी पदार्थों के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति के समाधान में 'अदृष्ट' की सहकारिता का सिद्धान्त अपनी तरफ से संयोजित करके भी इस सिद्धान्त में अपनी विशिष्ट सहमति प्रदर्शित कर दी है।

मीमांसा में भाट्टमत के प्रवर्त्तक कुमारिल भट्ट ने इस सन्दर्भ में प्रथमतया अपने पक्ष को जैमिनि के प्रत्यक्षसूत्र पर उत्पादित आपत्ति के निराकरण पर्यन्त सीमित रखकर दोनों मतों में स्वीकार्य (इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता तथा अप्राप्यप्रकाशकारिता इन दोनों मतो में समान रूप से समन्वित) तीन समाधान प्रदर्शित किये हैं। इसके बाद सांख्यमत का अवलम्बन करते हुए इन्द्रिय (चक्षु) की प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को प्रदर्शित किया है। यदि कुमारिल भट्ट को इन्द्रिय की प्राप्यप्रकाशकारिता अभिमत न होती तो वे अपने तीनों समाधानों के प्रदर्शन के साथ ही अपने विचार को यहीं विराम दे सकते थे परन्तु इन्होंने अपने पक्ष के प्रतिपादन के अनन्तर बौद्धों को सांख्याभिमत इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के खण्डन को चुनौती देते हुए[३२] सांख्यदर्शन की दृष्टि से चक्षु इन्द्रिय की 'वृत्ति' के माध्यम से प्राप्यप्रकाशकारिता के सिद्धान्त को प्रदर्शित करते हुए इस सिद्धान्त में अपनी विशेष अभिरुचि को भी प्रदर्शित किया है। इस संदर्भ में इतना अवश्य ध्यान देने योग्य है कि 'चक्षु' इन्द्रिय की विषय के साथ वृत्ति के माध्यम से प्राप्ति का सिद्धान्त सांख्य-दर्शन की दृष्टि से ही कुमारिल भट्ट ने प्रदर्शित किया है। मीमांसा दर्शन में वृत्ति का सिद्धान्त अभिमत नहीं, अत: इनके मत में 'चक्षु' को भौतिक तैजस पदार्थ मानकर ही इसमें विषय

की प्राप्यप्रकाशकारिता मानी गई है। यद्यपि इस सन्दर्भ में स्वयं कुमारिल भट्ट ने कुछ नहीं लिखा है तथापि, इनके अनुयायी विद्वान् नारायण भट्ट ने 'मानमेयोदय' में चक्षु को भौतिक तैजस पदार्थ मानकर ही उसकी (विषय की) प्राप्यप्रकाशकारिता प्रदर्शित की है। न्यायमतानुरूप इनका भी यही कथन है कि चक्षु तेजस होने से (तैजस पदार्थ के), स्वभाव के कारण इसके द्वारा अपने से बड़े तथा दूरवर्ती पदार्थ के प्रत्यक्षत्व की भी सङ्गति हो जाती है।[३३] 'श्रोत्र' इन्द्रिय के सन्दर्भ में श्लोकवार्त्तिक में ही दूर तथा पास की अनुभूति को भ्रामक निरूपित किया गया है। मीमांसा में सभी शब्दों को श्रोत्र में ही प्रत्यक्ष माना गया है।

इस प्रकार 'न्याय' तथा 'सांख्य' के सिद्धान्तों का अवलम्बन करते हुए, इन्द्रियों की प्राप्यप्रकाशकारिता के विषय में, आचार्य शालिकनाथ, आचार्य कुमारिल भट्ट तथा नारायण भट्ट के प्रतिपादन, मीमांसा को इन्द्रियों के प्राप्यप्रकाशकारित्ववादियों की श्रेणी में स्थापित कर देते हैं।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. द्रष्टव्य - तर्कभाषा की म.म. गजाननशास्त्री मुंसलगाँवकरकृत माधुरी व्याख्या, पृ. २१६.

२. बहिर्मनोऽस्वतन्त्रत्वात्। विधिविवेक, पृ. ८५, तारा बुक एजेन्सी वाराणसी १९७८.

३. अप्राप्तान्यक्षिमनःश्रोत्राणि त्रयमन्यथा, अभिधर्मकोश २/४२.

४. द्रष्टव्य-तर्कभाषा-माधुरी पृ. २१५.

५ सत्सम्प्रयोगे. जैमिनिसूत्र ०१.०१.०४.

६. द्रष्टव्य-मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, पृ.२३७.
कामेश्वरसिंह दरभंङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंङ्गा, १९७९.

७ मीमांसादर्शन-शाबरभाष्य, पृ.१७.
चौरखम्बा सुरभारती-प्रकाशन, वाराणसी, १९७७.

८. ''साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षम्'' प्रकरणपञ्चिका, पृष्ठ १४६, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,१९६१.

९ प्राप्यकारि. प्रकरणपञ्चिका, पृ. १२९.

१०. ''इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'' न्यायसूत्र ०१.०१.०४.

११. प्राप्यकारि चक्षुः बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत्। तैजसं तद् रूपप्रतीतिर्हेतुत्वात् दीपवत्। तस्य रश्मयः प्रसरन्तो द्रव्येण संयुज्यन्ते। ते च पृथ्वग्रा इति पृथून्यपि द्रव्याणि प्राप्नुवन्ति। प्रकरण पञ्चिका पृ. १२९.

१२. सकलानर्थान्प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा सहैकीभूतास्ते चक्षुषा रश्मयो युगपदग्रहण हेतव इति। प्रकरण पञ्चिका पृ. १२९.

१३. तदन्ये दूषयन्ति - इत्यं प्राप्तावभ्युपगम्यमानायातिदूर-व्यवहितानामप्यर्थानां ग्रहणं दुर्निवारम्, प्रकरण पञ्चिका पृ. १३०.

१४. अन्येत्वाहु: - क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहा-यौगपद्याभिमान इति। प्रकरण पञ्चिका, पृ. १३०.

१५. तदपरे नानुमन्यन्ते। अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकाल-भेद: पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि। अनेकयोजन-सहस्रान्तरितेषु भूमिष्ठेष्वर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिमनुरञ्जयति। प्रकरण पञ्चिका पृ. १३०.

१६. वयंतु वदाम: - अदृष्टसापेक्षत्वाददोष:। नयनरश्मिभिरेकीभूतेऽपि बाह्ये तेजसि यावानेव तस्य भागोऽदृष्टवशेनोपलब्धिहेतुतयोपात्त:। तावानेवोपलब्धये प्रभवति, न सर्व इति, न सर्वोपलम्भो युगपत् भौमध्रुवादि सिद्धिश्च। प्रकरण पञ्चिका पृ. १३०.

१७. ननु प्राप्यकाकारिणि नायने तेजसि काचाभ्रपटलतिमिरान्तरितेषु कथमुपलब्धि: तैर्नयनरश्मेरप्रतिघातात्। प्रकरण पञ्चिका पृ. १३१.

१८. ये पुनरप्राप्यकारि चक्षुराहुस्तेषां व्यवहितविप्रकृष्टार्थग्रहणं दुर्निर्वारम्। सन्निधान इव विप्रकर्षेऽपि स्फुटतरमणीयांसोऽप्यर्था गृह्येरन्। प्रकरण पञ्चिका,पृ. १३१.

१९. प्राप्यग्रहणे तु तेजोवयवानामप्रचुरतया युक्तमस्फुटदर्शनं दवीयसाम्, क्षोदिष्ठानामदर्शनम्। अथ कस्मादणु पार्थिवादि आकाशकालदिगात्मनश्च न प्रत्यक्षेण गृह्यन्ते। उच्यते- महत्त्वमनेकद्रव्यत्वं रूपविशेषश्च सन्निकर्ष इव प्रत्यक्ष हेतु:।

२०. द्रष्टव्य बिन्दुक्रमांङ्ग १६ का सन्दर्भ।

२१. ततश्चाप्राप्यकारित्वाद् यद् बौद्धै: श्रोत्रचक्षुषो:।
लक्षणाव्याप्तिसिद्धमर्थं संयोगो नेतिकीर्त्यते॥
व्यापार मात्र वाचित्वादविरूद्धं तदत्र न:॥
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, पृ. २४७-२४९.

२२. "यदि आर्जव स्थानं सम्प्रयोगोऽत्र वर्ण्यते।"
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, पृ. २४९.

२३. योग्यतालक्षणो वाच्य: संयोग: कार्यलक्षित:।
मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, पृ. २४९.

२४. तयोश्च प्राप्यकारित्वमिन्द्रियत्वात् त्वगादिवत्।
केचित् तयो: शरीराच्च बहिर्वृत्तिं प्रचक्षते॥
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २५०.

२५. चिकित्सादि प्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते।
मीमांसा श्लोकवातिर्त्तक, पृ. २५१.

२६. सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारक:।
तद्देशश्चापि संस्कार: सर्वव्याप्त्यर्थ उच्यते।
चक्षुरायुपकारश्च पादादावपि दृश्यते।
तस्मान्नैकान्तत: शक्यं संस्काराात्तत्र वर्तनम्।
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २५१.

२७. प्राप्यग्रहणेपक्षे सान्तराग्रहणं किल।
अधिष्ठानाधिकश्चार्थो न गृह्यते त्वागादिवत्॥
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २४८.

२८. विच्छिन्न इति बुद्धिस्यादधिष्ठानमपेक्ष्य च।
शब्दे त्वाधिक्यविच्छेदौ भ्रान्तैरोक्तवसम्भवात्॥
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक पृ. २५३.

२९. बहिर्वृत्तितस्तयोश्चेष्टा पृथ्वग्रा सन्ततापि च।
अधिष्ठानाधिकं तेन गृह्यते यत्र यादृशम्॥
पृथुत्वे वृत्तिभागे स्याद् दूरेऽपि ग्रहणं तथा॥
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २५२.

३०. दीपप्रभैवात्र दृष्टान्तः। तेन यादृशं पार्थवं पृथुत्वं तत्र तावदधिकं गृह्यत् इति। न च वाच्यम्-यदि वृत्तिर्गत्वार्थं प्रकाशयति, किमतिदूरं न गच्छतीति, कार्यगम्या हि तदगतिः, अतो यथाकायमवतिष्ठत इति नातिदूरगमनम्। तत्रापि दीपप्रभैव निदर्शनम्, प्रत्युताप्राप्यकारित्ववादिनामेवातिदूर व्यवहितग्रहणप्रसंङ्ग इति। न्यायरत्नाकरव्याख्या, श्लोकवार्त्तिकम्, पृ. १०७ तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७८.

३१. दीपप्रभा यथा तस्मिन् विनश्यति विनश्यति।
तथा बहिर्गताप्येषा मूलच्छेदाद् विनश्यति॥
अधिष्ठानपिधाने तु सत्यत्युच्छिन्नयत्नया।
तथाथोऽनुपनीतत्वादात्मना नानुभूयते॥
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २५३.

३२. सांख्यादीन् वा विनिर्जित्य प्राप्तिपक्षोऽत्र दूष्यताम्।
मीमांसा श्लोकवार्त्तिक, पृ. २४९.

३३. ततश्च चक्षुषः पृथुतरपृथिवी धरादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेजः स्वभाव सिद्धमाश्रयणीयम्। मानमेयोदय,पृ. १४, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९९६.

4.

अद्वैत वेदान्त में
इन्द्रियों का विषयाकारमूलक प्राप्यप्रकाशकारित्व

आनन्द मिश्र

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण को सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ और उनका उपजीव्य माना गया है। प्रत्यक्ष की यह ज्येष्ठता उस लोकविश्रुत उक्ति में परिलक्षित होती है जिसमें कहा गया है -प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्। प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों का मूल हैं, यह किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता, बल्कि अन्य दूसरे प्रमाण ही इसकी अपेक्षा रखते हैं। इसी को ध्यान में रखते हुए प्रत्यक्ष का लक्षण कर दिया जाता है-ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।[१] प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति है -प्रति+अक्ष्ण। अर्थात् जो आँखों के सामने हो। अथवा ये अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्-आँख, कान आदि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जाहिर है इसी कारण प्रत्यक्ष सारे प्रमाणों में प्रथम है। जो आँखों के सामाने हो उसके लिए प्रमाण देने की क्या आवश्यकता। दूसरे प्रमाणों के द्वारा भी ज्ञान होता है पर उनसे इस प्रकार का वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता। इसी कारण गंगेश प्रत्यक्ष का लक्षण ही करते हैं-प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्।[२] यह लक्षण प्रत्यक्ष के सिवा और किसी प्रमाण में नहीं जाता। प्रत्यक्ष सीधे वस्तु की उपलब्धि करा देता है, उसके बाद उस सम्बन्ध में कोई जिज्ञासा नहीं रह जाती। आप्त वाक्य से जानी गयी वस्तु को अनुमान

द्वारा जानने की इच्छा होती है। अनुमान द्वारा ज्ञात हुई वस्तु को प्रत्यक्ष द्वारा देखने की इच्छा होती है। परन्तु प्रत्यक्ष हो जाने पर सारी जिज्ञासा, शंका समाप्त हो जाती है। वात्स्यायन न्यायभाष्य में कहते हैं - सा चेयं प्रमिति प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितअर्थ- माप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षति, प्रत्यक्षत् उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते।[३]

'प्रत्यक्षं' शब्द में प्रयुक्त अक्ष का अर्थ आँख होता है, अत: प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो आँख के सामने हो। यहाँ अक्ष केवल आँख का ही नहीं कान, जिह्वा आदि इन्द्रियों का भी बोधक है। अत: प्रत्यक्ष का तात्पर्य है आँख,कान आदि इन्द्रियों के सम्मुख विषय के आने से जो ज्ञान होता है। अस्तु प्रत्यक्ष का व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ हुआ इन्द्रिय सम्बद्ध ज्ञान। प्रत्यक्ष का यह व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ उन लक्षणों के मूल में है जिनसे भारतीय दार्शनिक 'प्रत्यक्ष' को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। अधिकतर भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष की परिभाषा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के रूप में करते हैं। सर्वप्रथम इस तरह की स्पष्ट परिभाषा न्यायसूत्र में उपलब्ध होती है जहाँ गौतम कहते हैं -इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यसायात्मकं प्रत्यक्षम्।[४] प्रत्यक्ष को इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के रूप में लेने के गौतमीय प्रस्ताव को कणाद, जैमिनि , प्रशास्तपाद, उद्योतकर, कुमारिल या सांख्यतत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र पर्यन्त स्वीकार करते हैं। जैमिनि मीमांसासूत्र में प्रत्यक्ष का विवेचन करते हुए कहते हैं -सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्त्वात्।[५] इस सूत्र के अर्थ को लेकर मीमांसा परम्परा में विवाद है। सूत्र के प्रथम भाग को -सत्सप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्-भवदास प्रत्यक्ष की परिभाषा के रूप में देखते हैं। भवदास के इस मत से बाद के आचार्य असहमत हो सकते हैं, पर उपवर्ष से लेकर कुमारिल तक इस सूत्र से जो निष्कर्ष निकालते हैं वह यह कि प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक है कि ज्ञानेन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध हो। कुमारिल कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्यक् सम्बन्ध (संप्रयोग) होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है।[६] इसी तरह प्रशास्तपाद के अनुसार प्रत्यक्ष का आशय है 'इन्द्रियों पर आधारित' तो वहीं उद्योतकर का आशय है 'इन्द्रियों से सम्बन्धित'।[७] यहाँ तक कि वाचस्पति मिश्र सांख्यतत्त्वकौमुदी में कहते हैं - अर्थसन्निकृष्टेन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष है।[८]

अब गौतम द्वारा प्रस्तावित प्रत्यक्ष की यह परिभाषा कि इन्द्रियों का

उनके विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष है, यद्यपि अधिकांशत: स्वीकृत हुयी फिर भी दिङ्नाग प्रभृति बौद्ध दार्शनिकों को इस परिभाषा को लेकर गंभीर आपत्ति है। दिङ्नाग का आक्षेप है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता है। वस्तुत: यह सन्निकर्ष हो ही नहीं सकता है क्योंकि चक्षु और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं। बौद्धों का कहना है कि त्वक्, रसना और घ्राण इन्द्रियों के साथ तो यह कहना ठीक हो सकता है कि वे अपने विषयों को प्राप्त कर उनसे सम्बन्धित हो उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं, पर जहाँ तक श्रोत्र और चक्षु का प्रश्न है तो यह मानना कि शरीर स्थित चक्षु और श्रोत्र अपने विषयदेश तक गमन करते हैं, मूर्खता होगी। बौद्धों का कहना है कि यदि चक्षु और श्रोत्र अपने विषय को प्राप्त कर उनका ग्रहण करने लगें तब तो फिर दूर स्थित वस्तु का ग्रहण ही नहीं हो पायेगा, निकट एवं दूर का बोध ही समाप्त हो जायेगा, वस्तुओं के दिग्देश का व्यवहार नहीं हो पाएगा, उन चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों से पृथुतर पर्वतादि का ग्रहण ही नहीं हो पायेगा, साथ ही सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट का एक साथ प्रत्यक्ष होगा। अस्तु चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्ष में इन्द्रियों का विषय से सन्निकर्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि ये आप्राप्यकारी हैं। अत: नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की परिभाषा अव्याप्ति दोष से दूषित है। प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्यादियोजनारहित ज्ञान है।[९] या जैसा कि धर्मकीर्ति ने कहा है- प्रत्यक्ष कल्पना से रहित अभ्रान्त ज्ञान हैं-प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।[१०] आगे चलकर धर्मोत्तर इन परिभाषाओं को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष की ये सब परिभाषाएँ वस्तुत: इस मत का ही अनुवाद हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है जो विषय का सीधे साक्षात्कार करा देता है- यत्किंचिदर्थस्य साक्षात्कारि ज्ञानं तत् प्रत्यक्षमुच्यते।[११] प्रत्यक्ष का प्रत्यक्षत्व वस्तुत: उसका अपरोक्षत्व है। शालिकनाथ, गंगेश, धर्मराजाध्वरीन्द्र सभी इसीलिए प्रत्यक्ष को साक्षात्कारी ज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं।[१२] इन्द्रियार्थसन्निकर्षत्व के रूप में प्रत्यक्ष को परिभाषित करने से किस तरह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति हो जाती है, इस पर गंगेश आदि ने विस्तार से प्रकाश डाला है। अस्तु, हम देख सकते हैं कि इन्द्रिय प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समस्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रत्यक्ष के विश्लेषण से जुड़ी हुई है। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष के स्वरूप एवं लक्षण के क्रम में इन्द्रिय और उनकी प्राप्यकारिता का विशद् विवेचन हुआ है।

इन्द्रियप्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर जब हम विभिन्न भारतीय दार्शनिक मतों पर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें चार वर्गों में विभाजित कर

सकते हैं। जैसा कि स्पष्ट किया गया है, यह विभाजन इस आधार पर है कि विभिन्न इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को प्राप्त कर उनका ग्रहण करती हैं अथवा बिना प्राप्त किए अपने अर्थों को ग्रहण करती हैं। यहाँ आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट कर देनी चाहिए कि सम्पूर्ण विवाद केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय को लेकर ही है, क्योंकि रसना, त्वक् और घ्राण इन्द्रियाँ अपने विषय को प्राप्तकर ही उनका ग्रहण करती हैं, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है। प्राप्यकारित्ववादी जहाँ यह मानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राप्त कर उनका ग्रहण करती हैं, एवं प्रकारेण वे इन्द्रिय और अर्थ के वास्तविक संयोग को स्वीकार करते हैं वहीं अप्राप्यकारित्ववादी इस तरह के किसी वास्तविक संयोग या सम्बद्धता को नकारते हुए यह मानते हैं कि इन्द्रियाँ वस्तुओं को बिना प्राप्त किये ही उनका ग्रहण कर लेती हैं। यद्यपि सभी वैदिक दर्शन प्राप्यकारित्ववादी हैं और वे सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, पर इनमें भी न्याय, वैशेषिक और मीमांसा का मत समान सा है वहीं सांख्य, योग और वेदान्त की एतद्विषयक अवधारणा एक जैसी है। दूसरी ओर बौद्ध दार्शनिक अप्राप्यकारित्ववाद को मानने वाले हैं जिनके अनुसार चक्षु और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं। जैन इस अर्थ में विलक्षण है कि वे केवल चक्षु को अप्राप्यकारी बतलाते हैं। अप्राप्यकारी बौद्धों के मत के पीछे हम लोगों ने संक्षिप्त चर्चा की थी। बौद्धों का कहना है कि त्वक्, रसना और कदाचित् घ्राण भी प्राप्यकारी हैं। पर इन इन्द्रियों की समता के आधार पर चक्षु और श्रोत्र को भी प्राप्यकारी मानना उचित नहीं होगा। चक्षु और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं। दिङ्नाग चक्षु की अप्राप्यकारिता के लिए तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं-

सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादियोगत: ॥
सत्यपि च बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे ।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद् ॥[13]

सान्तग्रहण होने से, पृथुतरग्रहण होने से, दिग्देशव्यपदेश होने से, सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट का तुल्य काल में ग्रहण होने से चक्षु प्राप्यकारी नहीं है-सान्तरग्रहणात् पृथुतरग्रहणाच्चेति --- दिग्देशव्यपदेशाच्च---सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकाल ग्रहणाच्च। वस्तुत: दिङ्नाग द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का आधार यह है कि वे शरीर में स्थित जो बाह्य दृश्यमान चक्षुगोलक, कर्णविवर हैं उन्हीं को चक्षु इन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय समझते हैं। इन्द्रियविषयक एतद् दृष्टि असम्भव, अप्रामाणिक और अतर्कसम्मत है। अब चूँकि चक्षु शरीर स्थित चक्षुगोलक ही है, अत: जाहिर है वह दूर चन्द्र आदि तक या नजदीक भी वृक्ष

आदि तक कैसे पहुँच सकता है ? अपने गोलक (स्थान) में ही अर्थात् शरीर के नियत स्थान में स्थित चक्षु इन्द्रिय है, यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि उसी स्थान पर उसकी चिकित्सा आदि की जाती है। अत: चक्षु आदि इन्द्रिय का अपने गोलक से बाहर जाना संभव नहीं है। और कदाचित् यह यदि संभव मान भी लिया जाए तो ये बाहर विषयदर्शन की शक्ति नहीं रखते। यदि बाहर जाती हुई भी चक्षुवृत्ति विषयदर्शन की शक्ति रखती है तो एक बार आँख खोलकर फिर आँख बन्द कर लेने पर भी रूप दर्शन होना चाहिए, जो कि होता नहीं।

अस्तु, चक्षु और श्रोत्र अप्राप्यकारी हैं। परपक्षियों का आरोप है कि यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी होंगी तब तो व्यवहित और विप्रकृष्ट का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। चूँकि चक्षु बिना वस्तु की प्राप्ति किए (अप्राप्य) ही उनका ग्रहण करती है तब तो फिर चटाई, दीवार से ढकी वस्तु और निकट की वस्तु दोनों ही समान रूप से अप्राप्त हैं, तो दूर की वस्तु की भी उपलब्धि होनी चाहिए तथा निकट की वस्तु भी न दिखाई देनी चाहिए। इस आपत्ति के समाधान में बौद्धों का कहना है कि जो चक्षु का विषय होता है उसकी उपलब्धि होती है, जो विषय नहीं होता है उसकी उपलब्धि नहीं होती है। व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुएँ चक्षु आदि का विषय नहीं हैं। वस्तुओं का ग्रहण 'विषयीभाव' से तो होता है, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। बौद्धों के तर्क की बौद्धेतर दार्शनिक जमकर आलोचना करते हैं। उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में और कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में बौद्धों के अप्राप्यकारित्व की जमकर आलोचना की है। वाचस्पति, उदयन और जयन्तभट्ट इन्हीं तर्कों को और आगे बढ़ाते हैं। न्यायादि दर्शनों का मानना है कि जैसे रसना, त्वक् या घ्राणेन्द्रिय अपने विषय को प्राप्त कर ही उनका ग्रहण करती हैं उसी तरह चक्षु और श्रोत्र भी इन्द्रिय होने से अपने-अपने अर्थों का ग्रहण उनको प्राप्त करके ही करती हैं। बौद्धों की यह गलत समझ है कि चक्षुगोलक या कर्णविवर ही इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियाँ तो वस्तुत: इन गोलकों में अधिष्ठित द्रव्यान्तर अथवा अन्य शक्ति विशेष ही हैं। अत: इन्द्रियों के विषय तक गमन को लेकर जो आपत्ति उठायी जाती है वह ठीक नहीं है। जो यह तर्क दिया जाता है कि चक्षु आदि इन्दियों में विकार उत्पन्न होने पर चक्षुगोलक या कर्णशष्कुली में ही चिकित्सा की जाती है, अत: वे ही इन्द्रियाँ हैं, यह ठीक नहीं है, कारण कि गोलकादि में किये गये चिकित्सा स्वरूप संस्कारों से चक्षु में उपकार देखा जाता है।[१४] अत: चक्षुगोलक या कर्णविवर ही चक्षु या श्रोत्र इन्द्रियाँ हैं, यह कहना उचित नहीं है। फिर चक्षु इन्द्रिय तो तैजस रूप है, दीपप्रभा की तरह चक्षुरश्मि का वस्तु तक पहुँचना कहीं से भी अस्वाभाविक

नहीं है। जो यह तर्क दिया जाता है कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने पर सान्तरग्रहण की व्याख्या नहीं होगी, 'वस्तु दूर है' इसकी व्याख्या नहीं हो पाएगी वह उचित नहीं है क्योंकि सान्तरग्रहण का निमित्त इन्द्रियप्राप्यत्व या अप्राप्यत्व न हो कोई अन्य ही है - शरीर है जैसा कि उद्योतकार कहते हैं अथवा आत्मभावयुक्त शरीर है जैसा कि वाचस्पति कहते हैं। उद्योतकार का कहना है कि शरीर को अवधि करके, शरीर की सीमा के प्रसङ्ग में 'सान्तर' या 'निरन्तर' ये ज्ञान होते हैं, इन्द्रिय द्वारा प्राप्ति और अप्राप्ति की अपेक्षा से नहीं - शरीरमवधिं कृ त्वा सान्तर निरन्तरे भवतः, न पुनरिन्द्रियप्राप्त्यप्राप्त्यपेक्षे।[१५] जहाँ शरीर और इन्द्रिय दोनों विषय से सम्बद्ध होते हैं वहाँ 'सान्तरग्रहण' नहीं होता जैसे स्पर्श में, पर जहाँ केवल इन्द्रिय से विषय का सम्बन्ध होता है जैसे चक्षु और श्रोत्र में, वहाँ 'सान्तरग्रहण' होता है। और इसी समाधान से इस आपत्ति का भी समाधान हो जाता है कि चाक्षुष प्रत्यक्ष में यदि चक्षु विषय से सन्निकृष्ट होगा तो फिर वस्तु की दैशिक स्थिति का, उसके दिग्देश का, दूर समीप्य का बोध नहीं होगा। जहाँ केवल इन्द्रिय ही विषय से सम्बद्ध होगी वहाँ शरीर को अवधि करके (शरीर की सीमा के निमित्त से) दिग्देश की प्रतीति, निकट-दूर की प्रतीति हो जायेगी। हाँ, यदि इन्द्रिय और शरीर दोनों से विषय सन्निकृष्ट हो तो वहाँ यह बोध नहीं होगा यथा त्वाचिक प्रत्यक्ष में। जहाँ जक पृथुतरग्रहण का प्रश्न है, तो चक्षु का स्वरूप तैजस है। जैसे दीप की प्रभा अपने से सम्बद्ध द्रव्यों को उनके विस्तार के अनुसार प्रकाशित करती है अपने विस्तार के अनुसार नहीं, वैसे ही चक्षु अपने से सम्बद्ध द्रव्यों को उनके विस्तार के अनुसार प्रकाशित करता है अपने विस्तार के अनुरूप नहीं। अतः चक्षु इन्द्रिय अपने सम्बन्ध में आने वाली अणु या महत् का समान रूप से ग्रहण करने में समर्थ होती है। बौद्धों की इस आपत्ति पर कि चक्षु यदि प्राप्यकारी होगा तब तुल्यकाल में शाखा और चन्द्र का ग्रहण नहीं हो पायेगा, उद्योतकार का कहना है कि कौन बुद्धिमान यह स्वीकार करेगा कि इनका तुल्य काल में ग्रहण होता है। दूरस्थ चन्द्र और समीप के वृक्ष के ग्रहण में कालभेद तो होता ही है, भले ही शतदलकमल के भेदन के समान यहाँ काल भेद का हम ग्रहण न कर पाएँ। वस्तुतः चक्षुरश्मि की गति इतनी तीव्र होती है कि हम इसे नहीं समझ पाते।[१६]

इन्द्रियाँ दूर तक जाती हैं तो फिर अत्यन्त दूर तक, बहुत दूर तक क्यों नहीं जातीं, इस पर पार्थसारथि का कहना है कि वस्तुओं के स्वभाव के प्रसङ्ग में यह अभियोग नहीं किया जा सकता कि इससे अमुक कार्य ही क्यों होता है, अमुक क्यों नहीं। फिर, यहाँ तो चक्षुरश्मि अधिक दूर तक जाते-जाते क्रमशः

क्षीण हो जाती है, जिस तरह दीपप्रभा कुछ ही दूर तक वस्तुओं के ग्रहण में समर्थ होती है, अत: उससे अत्यन्त दूर की वस्तु का ग्रहण न होना स्वाभाविक है। हाँ, उलटे अप्राप्यकारित्ववाद पक्ष में अवश्य यह समस्या उठेगी कि क्यों नहीं अत्यन्त दूर की वस्तु का ग्रहण हो पाता है।[१७]

वार्तिकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार दीप की ज्योति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बाहर घटादि विषयों में रहने पर भी इन्द्रियों की वृत्तियाँ गोलकादि अधिष्ठानों के विनष्ट हो जानेपर विनष्ट हो जाती हैं। चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठान गोलक के ढंके रहने पर या विनष्ट हो जाने पर इसी कारण विषय का भान नहीं हो पाता। फिर, चक्षुरिन्द्रिय की रश्मियाँ पुरुषप्रयत्न के सम्बन्ध से युक्त होकर ही आत्मा को अर्थ का समर्पण कर पाती हैं, जहाँ वे पुरुष प्रयत्न से शून्य होती हैं वहाँ आत्मा को अर्थ का समर्पण नहीं कर पातीं।[१८]

अस्तु, चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय में उठायी गयी बौद्धों की यह आपत्ति कि वे प्राप्यकारी नहीं है, तार्किक नहीं है। चक्षु और श्रोत्र भी अन्य तीन बाह्य इन्द्रियों के समान ही प्राप्यकारी हैं, विषय को प्राप्त करके ही, उससे सम्बद्ध होकर ही अर्थ का ग्रहण कराती हैं। समस्या वस्तुत: इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने में ही है। यदि इन्द्रिय वस्तु के पास न जाकर तथा बिना उसके पास आए हुए (अप्राप्त) अर्थ का ग्रहण करती है तब तो दीवार, चटाई आदि के आवरण से आवृत्त वस्तु का भी ग्रहण होना चाहिए। इसी तरह इन्द्रियाँ यदि अप्राप्यकारी होंगी तो अत्यन्त दूर की वस्तुएँ भी दिखलाई पड़नी चाहिए। तथा निकट की वस्तु को भी न दिखाई देना चाहिए। क्योंकि दूर की वस्तु और निकट की वस्तु दोनों ही समान रूप से अप्राप्य हैं। अत: इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानने पर व्यवहित और विप्रकृष्ट का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, जो कि होता नहीं है।[१९] इसलिए यही मानना उचित होगा कि प्रत्यक्ष उसी का होता है जिसे इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं, जिससे इन्द्रियाँ किसी विध सम्बद्ध होती है अर्थात् जैसा कि नैयायिक कहते हैं जिससे उनका सन्निकर्ष होता है। न्यायादि द्वारा उठाये गये इन दो आपत्तियों का, कि अप्राप्यकारित्ववाद में व्यवहित और विप्रकृष्ट का भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, बौद्ध यह समाधान देते हैं कि जो चक्षु का विषय होता है उसकी उपलब्धि होती है और जो उसका विषय नहीं होता है उसकी उपलब्धि नहीं होती है। व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरी पर स्थित अर्थ) चक्षु के विषय नहीं होते हैं, इसलिए उनका ग्रहण नहीं होता है।[२०] बौद्धों का यह समाधान नैयायिकादि को स्वीकार नहीं है। उद्योतकार का कहना है कि सम्बन्ध के अतिरिक्त विषयीभाव और क्या हो सकता है। केवल नाम मात्र का भेद है। न्याय जिसे

सम्बन्ध (सन्निकर्ष) कहता है, बौद्ध दर्शन उसे विषयीभाव कह देता है। इसमें कोई भेद नहीं है। वाचस्पति भी अनुगमन करते हुए कहते हैं कि बिना सन्निकर्ष के विषयीभाव नहीं बनता।[21] अत: प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यह मानना आवश्यक है कि इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध होता है, संयोग होता है, सन्निकर्ष होता है।

यद्यपि न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि सभी वैदिक दर्शन इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व को स्वीकार करते हैं, पर जैसा कि पीछे बताया गया है कि इन्द्रियों के स्वरूप और उनके प्राप्यकारित्वादि को लेकर विभिन्न भारतीय दर्शनों में मतभेद है। न्याय. वैशेषिक और मीमांसा का मत जहाँ एक जैसा है वहीं दूसरी ओर सांख्य, योग और वेदान्त की एतद् विषयक अवधारणा मोटे तौर पर एक जैसी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बौद्धों के अप्राप्यकारित्ववाद के सर्वाधिक मुखर आलोचक सांख्य परिवार के दर्शन हैं। संभवत: इसीलिए कुमारिल बौद्धों के अप्राप्यकारित्ववाद का खण्डन सांख्यों द्वारा उपस्थापित प्राप्यकारित्ववाद समर्थक युक्तियों से करते हुए कहते हैं कि बौद्धों के पास वस्तुत: प्राप्यकारित्ववादी सांख्यों का कोई उत्तर नहीं है।[22] कुमारिल के इस कथन से कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि इन्द्रिय प्राप्यकारित्ववाद का सिद्धान्त मूल रूप से सांख्यों द्वारा उपस्थापित है। देखा जाए तो न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों की अपेक्षा सांख्य, वेदान्त आदि ही इन्द्रियप्राप्यकारित्ववाद के वास्तविक पोषक हैं। इन्द्रियप्राप्यकारित्व का वास्तविक अर्थ वस्तुत: यह है कि इन्द्रियों की विषय में व्याप्ति हो, इन्द्रियाँ तदाकार हो जाएँ। इन्द्रियों का विषय से संयुक्त होने का तब तक कोई मतलब नहीं जब तक यह नहीं माना जाए कि इन्द्रियाँ विषय को व्याप्त कर लें। और सांख्यों का कहना है कि यह इन्द्रियवृत्ति द्वारा ही संभव है। सांख्य का मत है कि इन्द्रियाँ सात्विक अहंकार से जन्य होने के कारण स्वभावत: लघु और प्रकाशक होती हैं। ज्यों ही विषयों से उनका सम्पर्क होता है वे विषय के आकार में आकारित हो जाती हैं। इन्द्रियों का विषय के आकार में आकारित होना ही उनकी वृत्ति है। इन वृत्तियों से विषय का आलोचन होता है, उनका प्रकाश होता है। सांख्य इस बात का खण्डन करता है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं, उनकी उत्पत्ति भूतों से होती है। सांख्य का कहना है कि यदि इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न होतीं तो वे जड़ होतीं और फलत: वे प्रकाश नहीं कर पातीं। भूत परमाणुओं से उत्पन्न वस्तु भला प्रकाश कैसे कर पायेगी। फिर भूतों से उत्पन्न होने पर वे स्थूल होंगी, सूक्ष्म नहीं हो पायेंगी। फलत: उनमें विषयप्रवणता नहीं हो पाएगी, वे विषयदेश तक नहीं जा पाएंगी। और इस तरह प्राप्यकारिता संभव नहीं हो पाएगी। इन्द्रियाँ यदि भूतों से जन्य होंगी

तो जिस प्रकार के भूतों से उत्पन्न होंगी उन्हीं को ग्रहण करेंगी। फलत: सूक्ष्म भूत से आरब्ध होने पर सूक्ष्मग्राही ही होंगी स्थूलग्राही नहीं। यदि स्थूल भूतों से उत्पन्न होंगी तो स्थूलग्राही होंगी पर तब स्वयं स्थूल होंगी। फलत: गोलक को ही इन्द्रिय कहना पड़ेगा, फिर तो वे सारे दोष आ जायेंगे जो बौद्धों पर उठाये जाते हैं। यदि इन्द्रियों को प्रदीप के समान भौतिक माना जाए तब तो वे तत् तुल्य स्वप्रकाश भी हो जायेंगी। पर इन्द्रियाँ अर्थप्रकाशक मात्र हैं, स्वप्रकाशक नहीं। स्वयं तो अतीन्द्रिय हैं। अत: इन्द्रियों को भौतिक न मानकर अहंकार से जन्य ही मानना उचित होगा। अहंकार जन्य होने से उनमें स्वविषयग्राहकता सिद्ध हो जाती है। आहंकारिक होने से व्यापक इन्द्रियों का विषयाकार परिणाम होने से दूरवर्ती विषयों में उनकी व्याप्ति हो सकती है, उनका ग्रहण भी संभव हो पाता है। सूक्ष्म-स्थूल का ग्रहण भी इस पक्ष में उपपन्न हो जाता है। सात्त्विक अहंकार से जन्य होने के कारण इन्द्रियाँ भी प्रकाश रूप होंगी। यह प्रकाशरूपता सारे इन्द्रियों की होगी, मात्र चक्षु की नहीं। फलत: सारे इन्द्रियों की विषयप्रवणता, उनके विषयाकाराकारिता की सम्यक् व्याख्या हो सकेगी। अहंकार चूँकि व्यापक है, अत: इन्द्रियाँ भी व्यापक होंगी। सर्वत्र उनका सद्भाव होने से विषयों का ग्रहण हो पाएगा। भौतिकत्व पक्ष में यह प्राप्यकारित्व नहीं घटित हो पाएगा। भौतिक इन्द्रियाँ विषय का आलोचन नहीं कर पाएंगी क्योंकि वे तो स्वयं अप्रकाशरूप हैं। सांख्यों का मत है कि इन्द्रियाँ आलोचन करती हैं। आलोचन का अर्थ है विषय-प्रकाश। यह विषयाकार परिणाम रूप ही है। सभी इन्द्रियों का विषय सम्बन्ध होने पर शब्दादि (आकार) परिणाम सांख्य मत में माना जाता है। मन एवं बुद्धि का भी विषयाकार परिणाम माना जाता है। इसी विषयाकार परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इन्द्रिय,मन, अहंकार और बुद्धि का परिणाम रूप वृत्ति असम्भव नहीं है। प्रतिपक्षी न्याय, मीमांसा आदि कह सकते हैं कि इन्द्रिय,मन आदि का विषयाकार परिणाम मानना व्यर्थ है। इन्द्रियाँ भूतविकार हैं, उनका विषयों के साथ संयोग मात्र होता है, विषयाकार परिणमन नहीं। मन परमाणु है, उसका भी परिणाम नहीं हो सकता है क्योंकि वह नित्य, निरवयव है। अहंकार एवं बुद्धि आत्मसमवायिज्ञान रूप है, उसकी भी वृत्ति कल्पना अप्रामाणिक एवं निरर्थक है। अत: यही कल्पना लघु है कि इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध एवं उनके साथ परिणामी मन का सम्बन्ध तथा उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध ही ज्ञान का जनक है। यह जो कहा जाता है कि इन्द्रियाँ आलोचन करती हैं, वह उचित नहीं है। विषयप्रकाशक तो बुद्धि है जो विषयेन्द्रियमन: संयुक्तात्मा में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होती है।

विषयालोचन इन्द्रियों का कार्य कैसे हो सकता है ? फिर इन्द्रियाँ ही विषयों का प्रकाश कर दें तो मन, अहंकार और बुद्धि का क्या प्रयोजन रहेगा ? उपर्युक्त आपत्तियों के सन्दर्भ में सांख्य का कहना है कि इन्द्रियों से पहले आलोचना होती है अर्थात् वस्तुमात्र ग्राही 'इंदम्' इस तरह की निर्विकल्पक प्रतीति तदन्तर मन उसमें विकल्प कर उसे सविकल्पक रूप देता है, फिर अहंकार उसे अहंकार एवं ममकार से भूषित करता है, पश्चात् बुद्धि उसे निश्चित करती है।[२३] इस तरह बुद्धि ही ज्ञान की पूर्णताप्रदायिनी है। इन्द्रियों के विषयाकार परिणाम होने पर मन के द्वारा मम एवं अहंकार से अहंकृत होने पर जो बुद्धिगत सत्त्वगुण का उत्कर्ष है, वही अध्यवसाय या ज्ञान है। अत: आलोचना इन्द्रिय का व्यापार है और ज्ञान होता है बुद्धि द्वारा। इन्द्रिय का विषयाकार परिणाम असम्भव नहीं है। जैसे जल नाली से निकलकर क्षेत्र में क्षेत्राकार होता है, उसी प्रकार इन्द्रिय आदि का भी परिणाम समझना चाहिए।

एवं प्रकारेण सांख्य दर्शन विभिन्न इन्द्रियों की विषयाकारा परिणामरूप वृत्ति- चक्षुवृत्ति, श्रोत्रवृत्ति आदि- को स्वीकार कर प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में इन्द्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका को अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से चित्रित करता है। यह सांख्यीय प्रक्रिया चाक्षुष प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य ऐन्द्रिक प्रत्यक्षों में विभिन्न इन्द्रियों की भूमिका को तद्विध ही महत्त्वपूर्ण मानकर उसका सम्यक् उपपादन करती है। यदि चक्षु इन्द्रिय विषयप्रवण है तो फिर अन्य इन्द्रियाँ क्यों नहीं ? यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष में चक्षु विषय को व्याप्त करती है तो फिर अन्य घ्राणज, रासन, त्वाचिक आदि में भी ऐसा ही माना जाना चाहिए। भले ही अर्थ किसी विध स्वयं इन्द्रियों तक पहुँचे, पर ज्ञानात्मक प्रक्रिया में इन्द्रियाँ ही विषय को व्याप्त करती है, न कि विषय इन्द्रियों को। इन्द्रियप्राप्यकारित्व का वस्तुत: कोई मतलब नहीं है यदि केवल विषय-इन्द्रिय संयोग माना जाये। सांख्य का यह मानना उचित ही है कि इस संयोग द्वारा वस्तुत: इन्द्रिय विषय को व्याप्त करती है, अधिगत करती है और ऐसा वह तदाकारित होकर ही कर पाती है।

सांख्यों का मत अपनी तमाम अच्छाईयों के बावजूद सुग्राह्य नहीं प्रतीत होता है। सांख्यकीय ज्ञानोत्पत्ति प्रक्रिया अनावश्यक के विस्तार से, गौरव से दूषित है। किसी वस्तु के ज्ञान में सांख्य एक साथ ही इन्द्रियवृत्ति, मनोवृत्ति, अहंकारवृत्ति और बुद्धिवृत्ति को स्वीकार कर उसे अनावश्यक ही जटिल बना देते हैं। यह सही है कि इन्द्रियप्राप्यकारित्व का तब तक कोई अर्थ नहीं जब तक यह नहीं माना जाए कि इन्द्रियों द्वारा विषय अधिगत होता है। पर यह अधिगत

मात्र है, करण मात्र है। इन्द्रियाँ तो वे माध्यम हैं, वह प्रणाली है जिसके द्वारा अन्त:करण विषय तक पहुँचता है और तदाकारित होता है। ज्ञान प्राप्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रमाता के अन्त:करण की होती है, यह अन्त:करण ही चक्षुरादि इन्द्रिय द्वार से निकलकर विषय तक पहुँचकर उसके आकार में आकारित होता है। यह अन्त:करणवृत्ति ही जब चिदाभास से युक्त होती है, चैतन्य से प्रतिबिम्बित होती है तो विषय का बोध होता है। न्याय, मीमांसा आदि ज्ञान प्रक्रिया में मन की महत्त्वपूर्ण भूमिका को नहीं देख पाते। सांख्य इस भूमिका के महत्त्व को तो पहचानता है पर यह विभिन्न इन्द्रियवृत्तियों को स्वीकार कर अनावश्यक की जटिलता को बढ़ा देता है। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का कोई अर्थ नहीं जब तक मन को भी प्राप्यकारी नहीं माना जाए। देखा जाये तो विषय की अधिगति तो वस्तुत: मन ही करता है, वही विभिन्न विषयों के आकार में आकारित होता है। चिदाभास से युक्त ये वृत्तियाँ ही हमारे प्रत्यय हैं, ज्ञान हैं। अनुमानादि परोक्ष ज्ञान स्थलों में इस अन्त:करण का विषय तक निर्गम नहीं हो पाता है। परंतु प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय के माध्यम से वह विषय तक पहुँचकर उसके आकार में आकारित होता है।

बाह्य प्रत्यक्ष में मन इन्द्रियपरतन्त्र है। इसीलिए अन्धों को रूप का और बहरों को शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। बाह्य वस्तुजगत् तक जो स्वरूपेण भौतिक है, पहुँच भौतिक इन्द्रियों की ही हो सकती है। इस इन्द्रिय के रास्ते ही अन्त:करण विषय तक पहुँच पाता है। इन्द्रियों के स्वरूप को जो सांख्य आहंकारिक मानते हैं, वह उचित नहीं है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं। भौतिक इन्द्रियाँ ही भौतिक विषय तक पहुँच पाती है। यदि इन्द्रियों को आहंकारिक मानेंगे तो तद्-तद् इन्द्रियों के विषय-विशेष ग्रहण का नियम न हो सकेगा। भौतिक पक्ष में नियम यह होगा कि जिस भूत से जो इन्द्रियाँ उत्पन्न होंगी उसी से सम्बद्ध गुण की वे ग्राहक होंगी -जैसे पार्थिव घ्राण गन्ध मात्र का ग्राहक होता है, रस का नहीं। रसनेन्द्रिय रस मात्र की ग्राहक होती हैं -रूपादि का नहीं। अहंकार पक्ष में इस तरह के नियम की प्राप्ति नहीं हो पायेगी -अनियम प्राप्त होगा। अहंकार तो सभी भूतों का जनक है। फलत: अहंकार से जन्य इन्द्रियाँ स्वजनक अहंकार से सम्बद्ध सभी को ग्रहण करने लगेंगी। अर्थात् घ्राण भी रूपादि का ग्रहण करने लगेगा। पाँचों विषय पञ्चेन्द्रियग्राहय होंगे। विषयग्रहणसांकर्य होगा। अत: इन्द्रियों को आहंकारिक मानना ठीक नहीं है। श्रुति भी कहती है-'अन्नमयं हि सोम्यमन अपोमय: प्राणस्तेजोमयी वाक्।'[२४] मन अन्न का विकार है, प्राण जल का, वाणी तेज का। अत: वेदान्त पक्ष ही साधु है जो कहता है - तदैव भौतिकानि

परिच्छिन्नानि प्राप्यकारीणीन्द्रियानि सन्तीति।[२५] इन्द्रियाँ भौतिक हैं, परिच्छिन्न हैं तथा प्राप्यकारी हैं।

वेदान्त प्राप्यकारित्ववाद को उसकी तार्किक निष्पत्ति तक पहुँचाता है। सभी इन्द्रियाँ विषयों को व्याप्त कर उसे प्राप्त करती हैं। एवं कारणेन वे प्राप्यकारी हैं। घ्राणज, रासन और त्वाचिक प्रत्यक्ष में भले ही यह उपर से लगे कि विषय इन्द्रिय तक पहुँचते हैं, पर ज्ञानात्मक गति इन्द्रियों की ही होती है। वहाँ भी इन्द्रियाँ विषय को व्याप्त करती हैं न कि विषय इन्द्रिय को। इसी अर्थ में कहा जाता है कि इन्द्रिय विषयाकारित होती है न कि विषय इन्द्रियाकारित। विषयोन्मुखता उन इन्द्रियों में होती है। चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्ष में इन इन्द्रियों की विषय तक गति एक दम सुस्पष्ट है। वस्तुत: जैसे चक्षु दूर स्थित विषय देश तक गमन करता है, वैसे ही श्रोत्र भी शब्द रूप विषयों तक पहुँचकर उसे प्राप्त करता है। नैयायिकादि का यह सोचना कि शब्द ही वीचीतरङ्गन्यायेन अथवा कदम्बमुकुल न्यायेन कर्णप्रदेश तक पहुँचते हैं, वह ठीक नहीं है। नैयायिकादि का कहना है कि जैसे जल में उत्पन्न हुयी प्रथम तरंग क्रमश: दूसरी-दूसरी तरङ्गों को उत्पन्न करती हुयी परम्परा से तट तक पहुँच जाती है, वैसे ही प्रथम उत्पन्न हुआ आकाशसमवायी शब्द क्रमश: दूसरे-दूसरे शब्दों को उत्पन्न करता हुआ कर्णेन्द्रिय तक अपना सम्बन्ध प्राप्त करता है। वेदान्त का कहना है कि यह प्रक्रिया तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यदि 'वीचीसन्तानवत् परम्परया' शब्द कान तक पहुँचते हैं तो फिर 'इह श्रोत्रे शब्द:' -इस कान में शब्द हैं ऐसी प्रतीति होती, परन्तु प्रतीति तो होती है कि वहाँ -अमुक प्रदेश में शब्द हो रहा है 'तत्र शब्द: ।' अत: यही मानना उचित होगा कि कर्णेन्द्रिय भी चक्षु इन्द्रिय की तरह विषयप्रदेश तक पहुँचकर उसका ग्रहण करती है। पुन: यदि कर्णेन्द्रिय का विषयदेश तक गमन न स्वीकार करें तो 'मृदंग की ध्वनि हो रही है' जैसे कथनों की व्याख्या दुष्कर हो जायेगी। क्योंकि कर्णप्रदेश में जो ध्वनि आएगी वह मृदंग से उत्पन्न शब्द से जायमान, पुन: जायमान इस परम्परा से प्राप्त शब्दान्तर है, न कि वह शब्द जो वहाँ उत्पन्न हुआ, या वक्ता के द्वारा बोला गया। इसके बचाव में यह तर्क दिया जाता है कि वस्तुस्थिति ही ऐसी होती है, हम मूल शब्द न सुनकर, उससे जायमान फिर उससे जायमान तद् सदृश शब्द ही सुनते हैं , ऐसा सुनने के बाद भी हम जो यह समझते हैं कि हम मृदंग की ध्वनि सुन रहे हैं, वह भ्रम है। यह तर्क उचित नहीं कहा जा सकता है। इन्द्रियाँ वस्तु को यथार्थ रूप में प्राप्त करती है, अयथार्थ रूप में नहीं। अत: यही मानना उचित होगा कि

कर्णेन्द्रिय शब्ददेश तक गमन कर उसे ग्रहण करती है। न्यायादि का यह मत उचित नहीं है कि शब्द कर्णेन्द्रिय तक पहुँचते हैं।[२६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि चक्षु और श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का जो पक्ष बौद्धों के द्वारा प्रस्तुत हुआ था, उसका सर्वाधिक युक्तिपूर्ण प्रत्युत्तर वेदान्त में ही प्राप्त होता है। चक्षु और श्रोत्रेन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, वे विषयदेश तक गमन कर उन विषयों को प्राप्त कराती हैं। चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का कोई अर्थ नहीं है यदि हम 'मन' को भी प्राप्यकारी न माने। वस्तुत: यह मन ही है जो इन्द्रियों के माध्यम से विषय तक पहुँच कर तदाकारित होता है। इन्द्रियाँ तो सिर्फ द्वार हैं, प्रणाली हैं, माध्यम हैं विषय तक पहुँचने का। कोई इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कोई इन्द्रियार्थ संयोग कोई इन्द्रियवृत्ति तब तक कोई अर्थ नहीं रखता जब तक मन को भी प्राप्यकारी न माना जाए। मन को भी प्राप्यकारी माना जाए, यह क्यों कहा जाए बल्कि यही कहना उचित होगा कि मन को ही प्राप्यकारी माना जाए।



सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. *विश्वनाथ पञ्चानन, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, सं. नारायणचरण शास्त्री एवं श्वेतवैकुण्ठ शास्त्री, चौखम्मा संस्कृत संस्थान, वाराणसी १९९०, पृ. १८३.*

२. *गंगेश, तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्ष खण्ड, सं. श्री कामाख्यानाथतर्कवागीश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९०, पृ. ५४३.*

३. *वात्स्यायन, न्यायभाष्य, १/१/३.*

४. *गौतम, न्यायसूत्र, १/१/४.*

५. *जैमिनि, मीमांसासूत्र, १/१/४.*

६. *देखें, कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक , ४/३८-३९.*

७. *अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्।*
प्रशस्तवाद पदार्थधर्मसंग्रह, श्रीधरकृत न्यायकन्दली सहित, सं. एवं अनु. पं. दुर्गाधर झा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७७. पृ. ४४१ अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्ति : प्रत्यक्षम् । देखें, वात्स्यायन एवं उद्योतकर, न्यायभाष्यवार्त्तिक, १/१/३.

८. *वाचस्पति मिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदी, सं. एवं व्या. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवटवृक्षप्रकाशन, इलाहाबाद, १९८८, पृ. १०३.*

९. *प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् - दिङ्नाग, प्रमाणसमुच्चय, १/३.*

१०. *धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, १/४*

११. *धर्मोत्तर, न्यायबिन्दुटीका, १/३.*

१२. *साक्षात्प्रतीति : प्रत्यक्षम् । प्रभाकर, देखें शालिकनाथ, प्रकरणपञ्चिका, सं. श्री*

सुब्रह्मण्यशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१, पृ. १४६.प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम्। गंगेश, तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्ड।
सं. श्री कामाख्यानाथर्तकविागीश, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, १९९०, पृ. ५४३.
प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव। 'यत्साक्षादपरोक्षादब्रह्म' इति श्रुतेः।
धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्त परिभाषा, सं. श्री राम शास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, १९८३, पृ. २०.

१३. वाचस्पति, मिश्र कृत न्यायवार्त्तिकातात्पर्यटीका-१/१/४ से उद्धत। एच.आर. आर. आयंगर द्वारा संकलित प्रमाण समुच्चय के प्रथम परिच्छेद में मात्र एक कारिका ही उपलब्ध होती है-
सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बर्हिर्नाक्षं न शक्तिर्विषये क्षणे॥

१४. देखें, कुमारिल भट्ट श्लोकवार्त्तिक ४/४०-५१.

१५. उद्योतकार, न्यायवार्त्तिक, १/१/४.

१६. यत्पुनरेतत् शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणादिति, तदापि न अनभ्युपगमात्, को हि स्वस्थात्मा शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं प्रतिपद्यते । कालभेद-स्याग्रहणान्मिथ्याप्रत्यय एष उत्पलदलशतव्यतिभेदवदिति। उद्योतकार, न्यायवार्त्तिक, १/१/४.

१७. देखें, दुर्गाधर झा. मीमांसाश्लोकवार्त्तिक, कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय,दरभंगा,१९७९. पृ.२५२. पर पादटिप्पणी.

१८. कुमारिलभट्ट, श्लोकवार्त्तिक, ४/४९-५०.

१९. देखें, उद्योतकार. न्यायवार्त्तिक, १/१/४.

२०. विषयीभावात् --- यः चक्षुषोर्विषयीवत्यर्थः स उपलम्यते। यस्तु न भवति नासावुपलभ्यते इति। न च व्यवहितानां दूरास्थितानां वार्थानां चक्षुषो विषयीभावोऽस्ति, तस्मात न ते गृह्यन्ति। उद्योतकार, न्यायवार्त्तिक १/१/४.

२१. तस्मान्न सम्बन्धमन्तरेण विषयीभाव सूक्तम्।
वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, १/१/४.

२२. देखें, कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्त्तिक, ४/४३.

२३. देखें, वाचस्पति मिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका २७ की टीका में।

२४. छान्दाग्योपनिषद् - ६/५/४.

२५. विद्यारण्य, विवरणप्रमेयसंग्रह, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९९९, पृ. ६२३.

२६. सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्व-विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति । तत्र घ्राणरसनत्वगिन्द्रिययाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोलम्भाञ्जनयन्ति । चक्षुःश्रोत्रे तु स्वत एव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृहीतः । श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतयाभेर्यादिदेशगमनसम्भात् । अत एवानुभवो भेरीशब्दो मया श्रुत इति । वीचितरङ्गादिन्यायेन कर्णशिष्कुलीप्रदेशेऽनन्त शब्दोत्पत्ति कल्पना- गौरवम्, भेरीशब्दो मया श्रुत इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वकल्पनागौरवं च स्यात्। धर्मराजा ध्वरीन्द्र, वेदान्त परिभाषा, पृ. १४४-१४५.

5.

शुद्धाद्वैतवाद में
चक्षु का चाक्षुष विषय देश में प्राप्यप्रकाशकारित्व

श्याम मनोहर गोस्वामी

उपक्रम

इन्द्रियों की संज्ञानात्मक भूमिका के बारे में, नामत: चक्षु और श्रोत्र के बारे में, विभिन्न दर्शन-प्रस्थानों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होता है कि ये इन्द्रियाँ विषयदेश में पहुँचकर अपने विषयों को प्रकाशित करती हैं या विषयदेश में पहुँचे बिना ही विषय-प्रकाशन करती हैं।

'प्राप्य-प्रकाशकारित्व' पदावली में 'प्राप्य' पद ''आप्लृ=व्याप्तौ'' स्वादिगणपठित धातु के साथ 'प्र' उपसर्ग के साथ निष्पन्न होने से 'ल्यप्' प्रत्ययान्त प्रयोग है। तदनुसार प्राप्यप्रकाशकारिता को स्वीकारने पर चक्षुरादि द्वारा प्रकाश्य विषय के देश-काल में इन इन्द्रियों का विद्यमान होना अपरिहार्य हो जाता है। विषय और इन्द्रिय के देश और काल में, परन्तु, मात्र सामानाधिकरण्य की स्वीकृति जितनी छोटी सी कथा इस चर्चा में प्रमुख विवादास्पद मुद्दा नहीं है। क्योंकि उनके बीच परस्पर संयोगरूपा या अन्यादृशी किसी प्रत्यासत्ति के अभाव में ये इन्द्रियाँ समानदेशकालवर्ती होने पर भी विषयप्रकाश में सक्षम नहीं हो पातीं।

इस प्राप्यप्रकाशकारिता की चर्चा ऐसा लगता है कि न्यायसूत्रकार गौतम

ऋषि ने ही इदम्प्रथमतया छेड़ी होगी। बाद में बाह्य चिन्तक बौद्ध-जैनों के द्वारा इसके प्रत्याख्यानवश यह चर्चा और अधिक जारे-शोर से बढ़ती चली गयी।[१] अतएव श्लोकवार्त्तिककार कुमारिल भट्ट भी कहते हैं "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना। सामान्यं वा विशेषो वा ग्राह्यं नातोऽत्र कल्प्यते"॥ (श्लो. वा.प्र.सू.८४)

अत: विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्यों की तरह संयोगरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्बप्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी, अथवा सदृश वस्तुदर्शनोदबुद्ध संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक इस उद्दीप्यभाव रूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी अथवा गन्ध स्पर्शादि और त्वचानासिकादि इन्द्रिय की तरह ग्राह्य-ग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति, अथवा घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशकभावरूपा अथवा आत्मवचेतना और अहंकार की तरह अधिष्ठान-आरोपरूपा इतरेतराध्यासरूपा प्रत्यासत्ति स्वीकारनी ? ये सभी मौलिक मुद्दे हैं जो एतद्विषयक विवाद को पर्याप्त जटिल बना देते हैं।

साथ ही साथ इस चर्चा में एक दूसरा गम्भीर मुद्दा यह भी उलझा हुआ है कि इन्द्रियों का संयोग धर्मिभूत विषय के साथ आवश्यक मानना या उस विषय के धर्मभूत जात्याकृति-गुण-क्रिया आदि के साथ भी। क्या इसे संयोग या तत्परम्पराप्रयुक्त बाह्य सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना अथवा अन्य ही कोई आभ्यन्तर सम्बन्ध द्वारा शक्य मानना? अर्थात् धर्मी या धर्म के बीच क्या कोई एक ही वास्तविक होता है और अन्य या तो उस अनुभूत वस्तुभूत का ऐन्द्रियक या मानसिक संघात या संयोजन अथवा व्यवहारानुगुण हमारी केवल कल्पना होती है ? या फिर दोनों ही वस्तुभूत होते हैं ?

पूर्वयौक्तिक कोटिक्रम

मानमेयरहस्यश्लोकवार्त्तिककार लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य ने अपने इस ग्रन्थरत्न में इस विवाद का संकलन सविस्तार किया है, वे कहते हैं -

"अप्राप्यकारिणी श्रोत्रचक्षुषी इति सौगता :।
चक्षुर्मात्रं विदुर् जैना:, सर्वे अन्ये प्राप्तिवादिन: ॥
एवम् इन्द्रियवृत्तान्ते विकल्पो अत्र निरूपित:।"

(मा.मे.र.श्लो.वा.२६/९)

यह काश्मीर वैभाषिक मत के आचार्य वसुबन्धु के स्वोपज्ञभाष्योपेत अभिधर्मकोश में उपलब्ध होते प्रस्तुत वचन के आधार पर भी स्फुट होता ही है -

"चक्षुश्रोत्र और मन अप्राप्त अर्थ के प्रकाशक होते हैं। जबकि अन्य तीन घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय प्राप्त वस्तुओं की प्रकाशिका होती हैं।" अब यदि चक्षु को अप्राप्त विषय का प्रकाशक माना जाये तो दूरवर्ती तथा किसी व्यवधान की ओट में रही भी सभी अप्राप्त वस्तुओं का प्रकाशन चक्षु द्वारा हो जाना चाहिए। इस आपत्ति के निराकरणतया यह कहा जा सकता है कि लौहचुम्बक अप्राप्त लौहधातु का आकर्षक होने पर भी सभी लौहधातुओं को तो अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता।

और वैसे तो प्राप्त विषयों के प्रकाशन का नियम स्वीकार कर चलें तब भी ऐसी आपत्ति तो उठायी ही जा सकती है कि सभी प्राप्त विषयों का प्रकाशन कहाँ होता है ? उदाहरणतया नेत्रगत अञ्जन या शलाका आदि कहाँ नयनगोचर होते हैं ?

अत: जैसे घ्राण आदि इन्द्रियाँ प्राप्त वस्तुओं का प्रकाशन करती होने पर भी, उनके साथ रहती सभी गन्ध आदि की प्रकाशिका नहीं हो पाती, इसी तरह चक्षु भी अप्राप्त वस्तु की प्रकाशिका होने पर भी सभी अप्राप्त वस्तुओं की प्रकाशिका न होती हो तो इसमें क्या आपत्ति है !"[२]

इस उत्तरप्रत्युत्तर में प्रतिज्ञात अर्थ की प्रक्रिया या उपपत्ति देने के बजाय केवल प्रतिबन्दि उत्तर द्वारा आक्षेपनिरसन की मनोवृत्ति झलकती है। फिर भी बाह्य वस्तुओं को द्रव्य न मानकर रूपगुणकर्मों का क्षणिक संघात मानना, अथवा उन्हें प्रत्यक्षग्राह्य न मानकर अनुमेय मानना , या उनका आन्तरिक ज्ञप्ति से पृथक् अस्तित्व ही न स्वीकारना, अथवा उन्हें सद्-असत्-सद्सद्-उभयविलक्षण यों चारों कोटियों से विलक्षण संवृत्तिसन्मात्र मानना यों वैभाषिक, सौत्रान्तिक या योगाचार अथवा माध्यमिक किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाये तो प्राप्य वस्तु के ही सिद्ध न होने से चक्षु, श्रोत्र या मन की प्राप्यप्रकाशकारिता न होना विभिन्न बौद्ध सिद्धान्तों में स्वाभ्युपगतसंगत कथा तो है ही। फिर भी बाह्यद्रव्यास्तित्ववादी नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्राभाकरों ने इस विवाद में चक्षु की प्राप्यप्रकाशकारिता की उपपत्ति खोजते हुये कुछ विशेष प्रक्रिया का भी प्रतिपादन किया है। वह ऐसे कि जो इन्द्रिय जिस द्रव्य से निर्मित होती है वह उस द्रव्य की या उसके विशेष गुण की ग्राहिका बन पाती है। ऐसी प्रक्रिया के ऊह के साथ उसकी उपपत्ति के कुछ हेतु भी दिये गये हैं - यथा :

(क) चक्षु का बाह्येन्द्रिय होना,

(ख) प्रदीपप्रभा की तरह व्यवहितार्थ का अप्रकाशक होना, तथा

(ग) चक्षु इन्द्रिय का तैजस होना।

यह जैसा कि [1]नैयायिक [2]वैशेषिक [3]भाट्ट एवं [4]प्राभाकरों द्वारा भी निरूपित हुआ है, तदनुसार उसपर दृष्टिपात कर लेना चाहिए -

[1]"चक्षु और श्रोत्र अपने विषयों को प्राप्त कर लेने के बाद उपलब्धि के जनक बनते हैं, जनक होने के बावजूद स्वविषयों की अप्राप्ति में उपलब्धि के हेतु न बन पाने के कारण, कुम्भकार और मृत्तिका की तरह।"

[2]"चक्षु प्राप्त अर्थ की प्रकाशिका होती है, व्यवहित अर्थ की अप्रकाशिका होने से प्रदीप की तरह।" -"चक्षु तैजस होती है, परकीय स्पर्श की व्यञ्जिका न होने पर भी परकीय रूप की व्यञ्जिका होने से प्रदीप की तरह। अथवा प्रभा की तरह सोचने पर स्पर्श के साथ 'परकीय' विशेषण के बिना भी काम चल सकता है।"

[3]"बुद्धि इन्द्रियाधीन हो कर जब कोई ज्ञान उत्पन्न करती है तब उसे 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। इस प्रक्रिया की उपपत्ति के हेतु जो या जैसा प्रमाणफलभाव विचारा जाय उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, हर सूरत में विद्यमान वस्तु का ही उपलम्भ होता होने से। उदाहरणतया चाहे इन्द्रियों को प्रमाण मानकर उनकी अर्थ के साथ संगति मानी जाय, अथवा मन की इन्द्रियों के साथ सङ्गति को स्वीकारी जाय, अथवा केवल आत्मा ही से सब कुछ होता हुआ मान लिया जाय, सर्वथा ज्ञान को फल एवं किसी तरह के व्यापार को प्रमाणतया मानना ही पड़ता है। क्योंकि व्यापार के अभाव में फलरूप ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियों के साथ ग्राह्यार्थ का सर्वात्मना सम्बन्ध तो जुड़ता नहीं है कि जिससे प्राप्यकारी मानने के कारण सर्वार्थबोध क्यों नहीं होता ऐसा प्रश्न या आक्षेप उठाया जा सके। इन्द्रियों का केवल प्राप्तिरूप सम्बन्ध ही थोड़े स्वीकारा गया है जो ऐसी बात कही जा सके! अन्यथा प्रमा का करण इन्द्रिय होती हैं ऐसा कहने मात्र से त्वगिन्द्रिय से रूप का ज्ञान भी हो जाना चाहिए था, क्योंकि त्वगिन्द्रिय को 'करण' तो माना ही जाता है। जैसे प्रमाणता की निष्पत्ति इन्द्रिय और ग्राह्यर्थ की आपसी योग्यता पर निर्भर होती है। इसी तरह प्रमाणफल के बारे में योग्यता आदि हेतु तो स्वीकारने ही पड़ेंगे। संयोग वैसे उभयनिष्ठ होता है फिर भी उसका अन्यतराश्रित व्यपदेश तो वाग्व्यवहारसिद्धि ही है।"

[४]''यहाँ एक आशंका होती है कि जो वस्तु दूरदेश में अवस्थित हो उसकी दूरी ऐसी स्थिति में प्रतीत होनी चाहिए क्योंकि जब चक्षुकिरणें वस्तुदेश में पहुँच ही गयी हों तो दूरी कहाँ रह जायेगी ? जैसे त्वगिन्द्रिय जब विषयदेश में पहुँच कर वस्तु का अनुभव प्राप्त करती है, तब वह वस्तु दूरवर्तितया अनुभूत नहीं होनी चाहिए।

इसी तरह सभी संयोग गमनक्रियावश सम्पन्न होते हैं और यह तो समीपतम, समीपतर, समीप, दूर, दूरतर और दूरतम के पूर्वापरक्रम के अनुसार ही शक्य नहीं रह पायेगा। इसके समाधानतया यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा के कर्मादृष्टवश भोगायतनरूप शरीर की अपेक्षा से विषयों की अनुभूति शक्य है। जहाँ तक क्रमानुसारिता के परिहारपूर्वक एककाल में होती अनुभूति का प्रश्न है तो वहाँ कुछ बातें ज्ञातव्य हैं।

यहाँ किसी मत के अनुसार बाह्य प्रकाशकिरणें जो सभी बाह्य विषयों को एक साथ घेरे रहती हैं, उनके साथ चाक्षुष किरणें एकीभूत हो कर एककाल में सभी समीप-दूरवर्ती विषयों का प्रकाशन कर पाती हैं। ऐसा, परन्तु, होने पर तो अतिदूरवर्ती व्यवहित विषयों का भी प्रकाशन शक्य हो जाना चाहिए था।

अत: पूर्वोक्त समाधान कुछ मतों को अग्राह्य लगता है। परन्तु नयनकिरणों की अतिद्रुतगामिता के कारण पूर्वापरक्रम गृहीत नहीं हो पाता ऐसी अन्य कुछ मतों की धारणा है।

इसे भी अन्य चिन्तक सन्निकृष्ट वस्तुओं के ग्रहण में शक्य मानने पर भी हजारों योजन की दूरी पर अवस्थित विषयों के बारे में शक्य नहीं मानते हैं।

इन सारी बातों के समाधानतया हम तो यही कहना चाहेंगे कि नयनकिरणों से एकीभूत बाह्य प्रकाश की किरणें द्रष्टा के कर्मादृष्टवशात् जो दर्शन शक्य हो उसी का प्रकाशन करती हैं, अन्यों का नहीं।''[३]

इस तरह हमने देखा कि नैयायिक, भाट्ट तथा प्राभाकरों ने चक्षुर्ग्राह्य वस्तु का प्रकाशन विषयदेश में चक्षु की प्राप्ति के पूर्वक जो निर्धारित किया उसकी प्रक्रिया तथा उपपत्ति भी समझाने का भरसक प्रयास किया ही है।

आर्हत दर्शन के अनुसार, परन्तु, न्याय-वैशेषिकादि के मतों का नैगम अर्थात् प्रस्तुत विचार्यविषय बाह्यार्थ के सन्दर्भ में कहना हो तो, 'स्याद् अस्ति' नय में अन्तर्भाव स्वीकारा गया है।[४] अत: बाह्यार्थ, केवल अस्तित्व की धारणा का अवलम्बन करने वाले नय को दुर्नय माना जाता होने से तन्मूलक धारणाओं

के साथ आर्हतों का सहमत न हो पाना असहज नहीं माना जा सकता। अत: न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार श्रीप्रभाचन्द इन युक्तियों की जो समीक्षा करते हैं उनका सारानुवाद भी यहाँ प्रस्तुत करना चाहेंगे।

[1]"यह 'बाह्येन्द्रिय' किसे कहा जा रहा है ? क्या ग्रहणार्थ जो अभिमुख हो उसे अथवा बाह्यदेश में जो अवस्थित हो उसे ?..... यदि प्रथम कल्प स्वीकारते हैं तो मन को भी बाह्येन्द्रिय मानना पड़ेगा; क्योंकि वह भी अप्राप्तकारी होने पर भी ग्रहणार्थ अभिमुख तो होता ही है। दूसरे कल्प को स्वीकारने पर यह जिज्ञासितव्य हो जाता है कि नयनगोलक या नेत्ररश्मि में से किसे बाह्य देश में अवस्थित मानना ? नयनरश्मियों को बहिर्देश में अवस्थित मानने पर क्या उन्हें बहिर्देश में आश्रित मानना या बहिर्देश में केवल प्रकाशनक्रिया में प्रवृत्त मानना ? नयनरश्मियों को बाह्य देश में आश्रित तो स्वयं पूर्वपक्षी ने भी माना नहीं है। अत: अपसिद्धान्त हो जाता है। दूसरे कल्प अर्थात् बहिर्देश में प्रकाशनक्रिया में प्रवृत्त मानना इसलिए ग्राह्य नहीं लगता क्योंकि स्वयं इस तरह की नयनरश्मियों का अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। अत: उन रश्मियों का विषयप्रकाशनार्थ बहिर्देश में प्रवृत्त होना भी स्वयं असिद्ध हेतु बन जाता है। नयनगोलकों का तो बहिर्देश में अवस्थान प्रत्यक्षबाधित ही है। बाह्यार्थ के देश से असम्बद्ध, क्योंकि शरीर प्रदेश में ही नयनगोलक प्रत्यक्षतया प्रतीत होते हैं।

[2]इसके अलावा चक्षु अपने गोलक होने के स्वभाव में या रश्मि होने के रूप में यहाँ धर्मित्वेन अभिप्रेत है ? गोलक होने के स्वभाववश स्वीकारा जाये तो वह प्रत्यक्ष से विरूद्ध ही है। प्रत्यक्ष प्रतीति के बल पर चक्षु बाह्यार्थ देश से असम्बद्ध शरीर के प्रदेश में ही उपलब्ध होती होने से। अन्यथा चाक्षुष प्रत्यक्ष के काल में पलकों के भीतर नयनगोलक गायब हो जाने चाहिए थे। यदि रश्मिरूपतया विवक्षित हो तो रश्मिरूप तो धर्मी ही सिद्ध नहीं; क्योंकि, रश्मिरूप चक्षु किसी भी प्रमाण से प्रसिद्ध नहीं होती। क्योंकि नयनरश्मियों के साधक प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान तो हो सकते नहीं। प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता क्योंकि ऐसी नयनरश्मि कहीं बाह्यार्थतया प्रतीत होती नहीं। यदि ऐसी रश्मि प्रत्यक्षत: प्रतीत होती हो तो फिर विवाद का कोई विषय भी नहीं रह जाना चाहिए था। नीला रंग नीले रंग के रूप में दिखलायी देता हो तब किसे विप्रतिपत्ति हो सकती है ?

[3]प्रत्यक्षानुभूति इन्द्रियों के सन्निकर्ष से जन्य मानी गयी है और बाह्यार्थ

देश में विद्यमान नयनरश्मियों के साथ दूसरी इन्द्रियों का सन्निकर्ष तो हो नहीं सकता है कि जिससे वहाँ उन रश्मियों का प्रत्यक्ष पैदा हो पाये। अत: अन्तत: अनवस्थादोष भी यहाँ आ पड़ेगा। प्रत्यक्षदर्शन के अभाव में अनुमान द्वारा भी अतएव इन रश्मियों की सिद्धि शक्य नहीं .... एतावता रश्मियों की सत्ता सिद्ध करने के लिए जो अनुमान प्रस्तुत किया गया कि 'चक्षु रश्मिवाली होती हैं तैजस होने के कारण' उसका भी निरसन हो जाता है... क्योंकि यह रश्मिवत्ता गोलकरूप चक्षु की अभिप्रेत है या तद्व्यतिरिक्त किसी वस्तु की ? चक्षुर्गोलक से व्यतिरिक्त किसी वस्तु का रश्मियुक्त होना तो न केवल असिद्ध ही है प्रत्युत ऐसा कहने से अपसिद्धान्त का प्रसंग भी आ पड़ता है। गोलकरूप चक्षु को रश्मियुक्त सिद्ध करना हो तो पक्ष ही प्रत्यक्षबाधित हो जाता है क्योंकि नयनगोलकों में चमकीली प्रभा कोई दिखलायी नहीं देती।

[४]अब उन रश्मियों को अदृश्य मानकर चलें तो अनुद्भूतरूपस्पर्शवती होने के कारण प्रत्यक्ष बाध के प्रसंग से बचा जा सकता था परन्तु ऐसी रश्मि तब रूपप्रकाशक कैसे सिद्ध हो पायेगी ? क्योंकि चक्षु रूपप्रकाशक हो नहीं सकती अनुद्भूतरूपवाली होने के कारण जल से संयुक्त अनल की तरह। ऐसा कोई भी तेजोद्रव्य जिसमें न तो उद्भूत रूप हो और न उद्भूत स्पर्श हो, कहीं दिखलायी नहीं देता ... बिल्ली आदि जानवरों की आँखों में प्रत्यक्षत: रश्मियाँ प्रतीत होती हैं अत: कोई विरोध नहीं, ऐसा कहना हो तो कहो परन्तु जिन जानवरों की आँखों में रश्मियाँ दिखलायी न देती हों उनमें रश्मियाँ कैसे मानी जा सकती हैं ?...

[५]इसके अलावा जो रश्मियुक्त पदार्थ होते हैं उन्हें बाह्यार्थ के प्रकाशक होने में बाह्यालोक की अपेक्षा नहीं होती जैसे प्रदीप को .... अत: जो हेतु एतदर्थ दिया गया कि चक्षु तैजस होने के कारण रश्मियुक्त होती हैं वह भी सिद्ध नहीं हो पाती ... अनुमानत: भी यह बाधित लगता है-जैसे कि चक्षु तैजस नहीं होती चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होने के कारण। जो इस तरह चमकीले रूप और स्पर्श से रहित होते हैं वे तैजस नहीं होते, जैसे मृत्पिण्डादि ...

[६]चक्षु के द्वारा अन्धकार भी गृहीत होता है अत: उसे तैजस माना नहीं जा सकता। आलोक से अन्धकार गृहीत नहीं हो पाता ठीक वैसे ही। अत: तम:प्रकाशक होने के कारण चक्षु को तैजस् नहीं माना जा सकता ...

[७]चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर क्या विषय चक्षु के देश तक आता है या

चक्षु विषय के देश पर्यन्त जाती है ? प्रथम कल्प तो प्रत्यक्ष से बाधित है ... द्वितीय कल्प में भी प्रत्यक्षविरोध दिखलायी देता है क्योंकि प्रत्यक्षतया विषय के प्रति चक्षु का गमन सिद्ध नहीं होता। यहाँ विरोधी अनुमान भी दिया जा सकता है कि चक्षु स्वयं जा कर बाह्यार्थ के साथ सम्बद्ध नहीं होती, इन्द्रिय होने के कारण त्वचा की तरह ही।

[८]अत: दृष्टरीति का अतिक्रमण करके चक्षु के साथ जुड़ी किसी वस्तु का विषय के साथ सम्बन्ध मानने के बजाय प्रतीति के बल पर विषय से असम्बद्ध चक्षु ही विषय की प्रकाशक होती है ऐसे स्वीकार में क्या आपत्ति है ? व्यर्थ ही प्रतीति का अपलाप करने से लाभ क्या !...

[९]विषय देश में जा कर चक्षु अर्थ को द्योतित करती हो तो... काँच, मेघ, पारदर्शी वस्त्र, स्वच्छ जल, स्फटिक आदि के द्वारा व्यवहित वस्तुओं का या तो उपलम्भ नहीं होना चाहिए अथवा इन व्यवधानों के बावजूद चक्षु उन व्यवहित वस्तुओं तक जाती हो तो व्यवधानरूप पदार्थों का भान नहीं होना चाहिए, क्योंकि चक्षु वहाँ से आगे पहुँच गयी होती है। इन काँच आदि अवयवियों के द्वारा प्रतिबन्ध क्यों नहीं होता ? यदि इनके आरपार जाने के कारण चक्षु की रश्मियाँ अर्थदेश तक जाती हों तो कम से कम काँच आदि से व्यवहितार्थ की उपलब्धि के समय तो व्यवधायक काँच आदि का अनुपलम्भ अवश्य ही होना चाहिए। ...

[१०]इससे यह सिद्ध हुआ कि कमल के शतपत्रों के वेध में जैसे क्रमिकता अनुभूत नहीं होती उसी तरह समीपस्थ वृक्ष की शाखा और दूरस्थ चन्द्रमा के अनुभव में भी वह दुर्लक्ष्य हो जाती है, यह समाधान भी निरस्त हो जाता है।...

[११]चक्षु को प्राप्यकारी मानने पर चक्षु के विषय के बारे में संशय या विपर्यास तो होने ही नहीं चाहिए, क्योंकि चक्षु से गृह्यमाण वस्तु के सामान्य धर्मों की तरह विशेष धर्म भी दूर नहीं रह जाते होने से उनका सन्निकृष्ट वस्तु की तरह ग्रहण हो जाना चाहिए... सन्निकष्ट होने पर भी चक्षु के द्वारा सामान्य ही गृहीत होता है विशेष नहीं ऐसा तो कहा नहीं जा सकता।''[५]

जैनों के सप्तभंगिमोपेत सिद्धान्त में शांकरों का अन्तर्भाव, प्रस्तुत विचार्य विषय बाह्यार्थ के सन्दर्भ में सोचना हो तो, ''स्याद् नास्ति'' रूप संग्रहनय में आर्हतों द्वारा स्वीकारा गया है, इससे अलग हटकर बौद्धों का अन्तर्भाव ऋजुसूत्राकूत, अर्थात् प्रस्तुत बाह्यार्थ के सन्दर्भ में सोचना हो तो, ''स्याद्

अवक्तव्यम्'' नय में स्वीकारा गया है।[६] यह यद्यपि अन्तिम माध्यमिकों के मत के साथ सङ्गत कथा नहीं लगती है फिर भी योगाचार मत की दृष्टि से बौद्धों का अन्तर्भाव ''स्याद् नास्ति'' कल्प के अन्तर्गत अधिक सुसंगत लगता है। वैसे ''स्याद् अवक्तव्यम्'' कल्प को कोटित्रयविनिर्मुक्त मानने के बजाय चतुष्कोटिविनिर्मुक्त मान कर चला जाये तो उसमें माध्यमिक बौद्धों का अन्तर्भाव भी शक्य हो जायेगा। शांकर वेदान्त में मिथ्यात्व वैसे तो ''सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति सदसद्भिन्नत्वम्'' (अद्वै.सि.मिथ्या. निरु.प्रक.) कोटित्रयविनिर्मुक्तरूप ही माना गया है। फिर भी शांकर वेदान्त का भी अन्तर्भाव चतुर्थ ''स्याद् अवक्तव्यम्'' कल्प में ही अधिक युक्ततर माना जा सकता है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानजन्य बाध से पहले बाह्यार्थग्राही प्रत्यक्ष का व्यावहारिक प्रामाण्य माध्यमिक बौद्धों की ही तरह शांकर वेदान्त को अभीष्ट है परन्तु बाधज्ञान के बाद तो स्वयं विवरणप्रमेयसंग्रहकार भी शून्यता के बारे में किसी तरह की विप्रतिपत्ति नहीं देखते हैं: ''बाधप्रतियोगित्वसिद्धये तत्प्रतीतिकाले सदसद्वैलक्षण्याङ्गीकारात् बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वं, विनष्टस्य शून्यतायां कस्यापि अविवादाद्'' (विव. प्रमे.सं.१/७५/डी)। अतएव हम देख सकते हैं कि न केवल चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों का प्रत्युत अन्त:करणवृत्ति का भी बाह्य विषय देश में गमनपूर्वक व्यावहारिक प्राप्यकारित्व शांकर वेदान्त में प्रतिपादित किया गया है। एतावता बाह्यार्थ की परमार्थदृष्टया शून्यता तथा व्यवहारदृष्टया संवृत्तिसत्योपम व्यावहारिकसत्ता या तदपरपर्यायरूप मिथ्यात्व भी अङ्गीकृत है। तदनुसार शांकर वेदान्त में अविद्याकल्पित बाह्यार्थ देश में आविद्यक बाह्यार्थकाराकारिता को सम्पन्न करने नेत्रवृत्ति तथा अन्त:करणवृत्ति दोनों को प्राप्यप्रकाशकारी माना गया है। यह सुतरां ध्यातव्य है कि शांकर वेदान्ताभिमत प्रक्रिया में यहाँ चमत्कारपूर्ण वैलक्षण्य है। और अतएव बौद्धमताभिप्रेत प्रक्रिया से यह सर्वथा विपरीत ही सिद्ध होती है। एतदर्थ विवरणप्रमेयसंग्रह तथा वेदान्त परिभाषा के ये अंश अवलोकनीय हैं -

''सर्वगत चिदात्मा को आवृत करके अवस्थित भावरूपा अविद्या ही जगत् के विविध आकारों में परिणत होती है। वहाँ शरीर के भीतर स्थित अविद्या का 'अन्त:करणाख्य' विवर्त धर्माधर्म से प्रेरित होकर नेत्रादि के द्वारा बाहर निकलकर यथोचित घट आदि विषयों में व्याप्त हो जाने पर घट आदि आकारों में आकारित हो जाता है। जैसे लोक में तालाब में भरा हुआ जल उसकी

भीत में रहे छिद्रों में से बाहर बह कर नालियों में बहता हुआ क्यारियों तक पहुँच कर उनमें भर जाता है। वे क्यारियाँ चतुष्कोण हों तो चतुष्कोण, त्रिकोण हों तो त्रिकोण; और वर्तुल हों तो वर्तुल आकार भी जल ग्रहण कर लेता है। यह तथ्य है कि बिलकुल तालाब के जल की ही तरह अन्त:करण धीमे-धीमे नहीं बहता। वह इस तरह नहीं बहता कि अतिदूरवर्ती चन्द्र, नक्षत्र, ध्रुव आदि तक पहुँच ही न पाये ! वह तो सूर्य की किरणों की तरह तैजस होने के कारण शीघ्र ही दीर्घप्रभा के आकार में परिणत हो जाता है। अतएव किरणों की तरह सहसा संकुचित भी हो पाता है। सावयव होने के कारण अन्त:करण दूध की तरह अन्यथाभावापन्न भी अर्थात् परिणत भी हो पाता है। इस परिणति के वश अन्त:करण देह के भीतर और घटादि के विषय देश में भी भलीभांति व्याप्त हो कर देह, घट और उन दोनों के बीच में रहे अन्तराल में भी अविच्छिन्न दण्डायमान होकर अवस्थित हो जाता है। यहाँ देहावच्छिन्न अन्त:करण के भाग को 'अहंकाराख्य 'कर्ता' कहा जाता है। देह और विषय के बीच दण्डायमान अन्त:करण के भाग को 'वृत्तिज्ञान'भिधा 'क्रिया' कहा जाता है। इसी तरह विषय के बीच अन्त:करण के भाग को बाह्यार्थ के ज्ञान का कर्म (विषय) बनाने 'अभिव्यक्तियोग्य' कहा जाता है। इस तरह तीन भागोंवाले अन्त:करण के अतिशय स्वच्छ होने के कारण उसमें चैतन्य अभिव्यक्त हो पाता है। यह अभिव्यक्त चैतन्य एक होने पर भी अपने अभिव्यञ्जक अन्त:करणरूपी उपाधि के भेदवश तीन तरह से निरूपित होता है : कर्तावाले भाग में घिरा चिदंश प्रमाता, क्रियावाले भाग में घिरा चिदंश प्रमाण, विषयगत योग्यगत योग्यताधायक भाग में घिरा चिदंश प्रमिति। यों प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति में कोई सांकर्य नहीं हो पाता।''

''ज्ञानेन्द्रियाँ-घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा यों -पञ्चसंख्याक होती हैं। ये सारी अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करती हैं। इनमें घ्राण रसना और त्वचा नामक इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानों पर ही रहती हुयी गन्ध, रस, स्पर्श के उपलम्भ उत्पन्न कर पाती हैं। जबकि चक्षु और श्रोत्र तो स्वतएव विषयदेश पर्यन्त जा कर अपने-अपने विषयों को गृहीत करते हैं। श्रवणेन्द्रिय भी चक्षु की ही तरह परिच्छिन्न होने के कारण भेरी आदि के देश तक पहुँचकर उसके शब्द सुन लेती है''।[7]

इस तरह हम देख सकते हैं कि शांकर वेदान्त न केवल चक्षु की अपितु श्रोत्र और अन्त:करण, जिसे बौद्ध दर्शन में 'मन' कहा गया है, यों तीनों को ही

प्राप्यप्रकाशकारी मानता है। वह भी बाह्यार्थ की कल्पितता तथा बाह्यार्थ देश में व्यावहारिकी विद्यमानता यों परस्पर दोनों विरोधाभासी धारणाओं के समन्वयार्थ कितनी विलक्षण प्रक्रिया के अवलम्बन द्वारा प्रस्तावित यह प्रतिपादन है!

माध्व वेदान्त, परन्तु, इस प्रक्रिया का प्रत्याख्यान करना चाहता है। श्रीमद्वादिराजतीर्थ अपने विवरणव्रण में उल्लिखित अन्त:करणवृत्ति के बाह्य विषय देश में गमन की आलोचना इन शब्दों में करते हैं -

"विवरणकार का प्रतिपादन उचित माना जा सकता था यदि घट आदि का अधिष्ठानभूत चैतन्य घटादिज्ञारूप होता तो, वह तो उपपन्न ही नहीं होता। अत: चैतन्य यदि घटादिज्ञानरूप हो तो यह बताना पड़ेगा कि अनुभव से विपरीत ऐसी कल्पना करने का औचित्य क्या है ? यदि दृग् और दृश्य के बीच दूसरा कोई सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता होनेसे अध्यासरूप सम्बन्ध को शक्य बनाने हेतु ऐसी धारणा प्रस्तुत करनी अभीष्ट हो तो क्या घटाकारिका वृत्ति से भी घटविषयक अज्ञान की निवृत्ति स्वीकार में भी कोई बाधा नहीं रह जायेगी। प्रथम कल्प में यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि आध्यासिकी घटाकारिका वृत्ति की घटज्ञानरूपता कैसी हो सकती है ? यह तो कह नहीं सकते कि घटाकारिका होने के कारण ही, क्योंकि तब तो आवश्यक होने से तत्तद्-विषयकारिका वृत्तियों को ही तत्तद् -विषयकज्ञान मान लेना पर्याप्त होने से विषयाधिष्ठानभूत चैतन्य को भी ज्ञान मानना निरर्थक ही सिद्ध होगा। अन्यथा किसी एक घट को भी अपर घट का ज्ञान मानने में भी कुछ आपत्तिजनक रह नहीं जायेगा। इसके अलावा किसी तरह विशेष आकारों से रहित ऐसे रूप, संख्या, सामान्य, अभाव आदि विषयों के ज्ञानों को जो ज्ञान ही माना नहीं जा सकेगा। परोक्षज्ञान द्वारा क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियरूप कारणों के सहाकर के बिना ही बाह्यार्थ से असम्बद्ध अन्त:करण बाह्यार्थ का आकारग्रहणार्थ सक्षम न होने से ऐसे ज्ञान को ज्ञान मानना शक्य नहीं रह जायेगा। जो अन्त:करण स्वत: ही निराकार हो वह तो तत्तद्-करणरूपा इन्द्रियों द्वारा ही तत्तद् इन्द्रियों से गम्य विषयों का आकार किस या कैसी प्रणाली द्वारा ग्रहण कर पायेगा ? तालाब का जल नाली में बह कर क्यारी में पहुँचने पर क्यारियों के आकार में आकारित हो जाता है, उसी तरह क्या अन्त:करण आकार ग्रहण कर पायेगा ? ... तालाब में रही सीढ़ियों के कारण भला कभी तालाब का जल क्यारी तक पहुँच सकता है क्या ? वह तो नाली द्वारा ही पहुँच पाता है। एतावता सिद्ध हुआ कि क्यारियों तक यदि जल को पहुँचाना

हो तो तालाब के बाहर रही हुई ही कोई प्रणाली अपरिहार्यतया अपनानी पड़ेगी। अतएव अन्त:करण से बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियरूप पदार्थों की आवश्यकता स्वीकारनी ही पड़ती है और वह उचित भी है ही। ...

एक दूसरी बात यह भी है कि घटाकारिका वृत्ति घटविषयक अज्ञान को दूर कर सकती है। परन्तु घट से भिन्न ऐसे चैतन्य के बारे में जो अज्ञान हो उसे कैसे दूर कर पायेगी ? अब यदि कहा जाये कि वही वृत्ति चैतन्य को भी अपना विषय बना लेगी तो वह वृत्ति अपने में अनध्यस्त निराकार चैतन्य को कैसे विषय बना पायेगी ? उसके उल्लेख पुर:सर बना पायेगी ऐसा कहते हो तो सर्वत्र उसी से सारे ज्ञान उत्पन्न हो जायेंगे फिर निरर्थक ही अननुभवसिद्ध आकाराध्यास की कल्पना करने से लाभ क्या ?

यहाँ यह भी द्रष्टव्य होता है कि नीरूप चैतन्य के बारे में चाक्षुष वृत्ति उत्पन्न कैसे हो सकती है ? यदि कहा जाये कि उस घटाकारिका वृत्ति के विषयीभूत घट में चैतन्य के अनुस्यूत होने के कारण तो, तब तो उसमें आकाश और गुरुत्व भी अनुस्यूत होते ही हैं , सो उन्हें क्यों वह वृत्ति अपना विषय नहीं बना लेती ? जैसे घट-पट के समूहावलम्बी ज्ञान के अनुव्यवसाय में घट और पट दोनों विषय बनते हैं, ठीक उसी तरह 'घट और उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य को मैं देख-जान रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय क्यों होता नहीं ?...''[८].

इस तरह हमने देखा कि विवरणव्रणकार कैसे अन्त:करण वृत्ति की प्राप्यकारिता की समालोचना करते हैं। वैसे तो न्यायकुमुदचन्द्रोदयकार की युक्तियों का भी समाधान प्रस्तुत किये बिना चाक्षुष वृत्ति के बहिर्निष्क्रमण की कल्पना भी सहसा हृदयारूढ़ नहीं हो पाती है।

दुग्धराशिवत् पानैकगम्य भरपूर अपने तत्त्वामुक्ताकलाप और उस पर स्वोपज्ञ सर्वार्थसिद्धि व्याख्या में श्रीमान् वेंकटनाथ वेदान्तदेशिक ने भी इस विषय पर बौद्ध युक्तियों की समालोचना प्रस्तुत की है जिनमें जैन युक्तियों का भी थोड़ा-बहुत समाधान तो झलकता ही है। फिर भी उसे पूर्ण सन्तोषकारी तो माना नहीं जा सकता है। हम देख चुके हैं कि चक्षु की अप्राप्यकारिता के बारे में जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक ही हैं। श्रोत्र इन्द्रिय को, परन्तु, जैन चिन्तक प्राप्यकारी मानते हैं और बौद्ध उसे भी मन की तरह अप्राप्यकारी ही। अत: पूर्वोदाहृत युक्तियों के विरूद्ध श्रीवेदान्तदेशिक की प्रतियुक्तियों का विमर्श भी यहाँ अवधारणीय बन जाता है -

प्राप्यग्राहीन्द्रियत्वाद् विमतम् इजरवत् प्राप्तिक्तप्रकारा
वृत्तिं दृष्टेर् न रून्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिरच्छः ।
नो चेद् गृह्येत योग्यं सममिह निखिलं निष्फले छादकादौ
स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिस्त्वन्मतेऽपि ॥

इसकी स्वोपज्ञा सर्वार्थसिद्धि व्याख्या में ग्रन्थकार कहते हैं कि बाह्य चिन्तकों द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि इन्द्रियाँ यदि देह के भीतर हों तो चक्षु और श्रोत्र द्वारा दूरस्थ विषयों का ग्रहण कैसे उपपन्न हो पायेगा ? उसके समाधानतया यह ज्ञातव्य है कि वृत्ति द्वारा सम्बन्ध जुड़ता होने से यह शक्य है। यह शंका उठ सकती है कि देह के भीतर भरी रहने वाली वृत्ति दूरस्थ विषयों का ग्रहण कैसे कर पायेगी; क्योंकि धर्म कभी धर्मी के बाहर तो विद्यमान रह नहीं सकता ... यद्यपि हैतुकगति से हठात्कार के साथ अप्राप्यकारिता पर भार देना ही हो तो भी 'दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्य में कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होने से वृत्ति द्वारा प्राप्ति कही जा सकती है।... बाह्य चिन्तकों का यह कहना कि 'स्वग्राह्य विषय के प्रकाशनार्थ चक्षुवृत्ति का नयनगोलक से बाहर प्रसरण मानने पर, वह या तो क्रमशः एक-एक विषय का ग्रहण करते हुये अग्रसर होगी या युगपत् सकल विषयों का। ये दोनों ही कल्प, परन्तु दूरस्थ विषयों की प्राप्ति के हेतु हैं।' उनकी इस धारणा के विरोध में यह प्रत्यनुमान दिया जा सकता है कि 'प्राप्याप्राप्यत्व के विवाद का विषय चक्षु अपने विषय को प्राप्त करके ही रूप आदि की ग्राहिका बन पाती है, इन्द्रिय होने के कारण त्वगिन्द्रिय की तरह'।... जो कुछ इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है उसे वस्तु का अपने को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के साथ कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य होने ही चाहिए। अन्यथा असम्बद्ध का ग्रहण मान लेने पर अव्यवस्था तो स्वासम्बद्धार्थग्राहितावादियों के मत में भी समानतया आपादित की जा सकती है।... परन्तु सूर्योदय होने के साथ ही उसकी प्रभा जैसे सारी दिशाओं में व्याप्त हो जाती हैं, वैसे ही उतने ही वेग से नयनकिरण भी यदि सर्वत्र व्याप्त हो जाती हों तो उसमें विस्मय की कौन सी बात हो सकती है! कमल के शतपत्रों के वेध में जैसे यौगपद्य का आभास होता है वैसे ही यहाँ भी शक्य हो सकता है।... कुछ लोग जो कहते हैं। 'चक्षु से निष्क्रमण होते ही चक्षुकिरणें चन्द्र -सूर्य के बहुदेशव्यापी बाह्य प्रकाश से संवलित हो कर एक पृथु अवयवी बन जाती हैं और इसी सम्बन्ध के कारण चक्षु के खुलते ही दूरस्थ विषय का ग्रहण और

दूरस्थ तथा समीपस्थ दोनों का युगपद् ग्रहण भी उत्पन्न हो जाता है' - यह किन्तु युक्तियुक्त विधान नहीं है। चक्षु से निष्क्रमण के बाद सौर आदि प्रकाश के साथ संवलन की कल्पना में गौरवदोष प्रकट होता है।[९]

बौद्ध मत के तर्कों के निरसनार्थ दिये गये इस समाधान में न्यायकुमुदचन्द्रोदय की भी कतिपय युक्तियों का समाधान तो उपलब्ध होता है परन्तु फिर भी बहुत सारी युक्तियाँ अभी अप्रत्याख्यात ही अवशिष्ट हैं। अस्तु।

इस विवाद में सांख्यमतीय ईश्वरकृष्ण की कारिकाओं पर उपलब्ध होती प्राचीनतर, सम्भवत: धारानरेश भोजराजविरचिता युक्तिदीपिका व्याख्या में जो कुछ निरूपित हुआ उसे भी दृष्टिगत कर लेना उपकारक होगा, पूर्वकालिक कोटिक्रमों के अवधारणार्थ ही। तदनुसार -

''बुद्धि की इन्द्रियाँ 'बुद्धीन्द्रिय' कहलाती है। इनमें बुद्धीन्द्रिय होनेकी बात क्या है ? कहा जाता है - शब्द आदि विषयों की प्रतिपत्ति में इन्द्रियाँ द्वाररूप होती हैं। क्योंकि अन्त:करण की तो बहिर्वृत्ति हो नहीं सकती। अत: बाह्य शब्द आदि विषयों के साक्षाद् ग्रहणार्थ वह तो सक्षम हो नहीं पाता। इसलिए श्रोत्र आदि रूप साक्षाद् बाह्य विषयों के प्रकाशन में समर्थ कोई कारणान्तर अपेक्षित होता है। अत: वे इन्द्रियाँ ही एक प्रणाली बन कर अन्त:करण को विषयग्रहण करवा देती हैं। अत: ठीक ही जो कहा कि बुद्धि को बाह्य विषयों की प्रतिपत्ति में ये इन्द्रियाँ द्वारभूत होती हैं अत: इन्हें 'बुद्धीन्द्रिय' कहना उचित है।

बुद्धि के इन कारणों की किन अर्थों में वृत्ति मानी गयी है और उनके लक्षण क्या माने गये हैं ? कहा जाता है... शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तो परस्पर भिन्न-भिन्न पाँच तरह के विषय होते हैं। उनके बारे में श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन्द्रियों द्वारा श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन, आघ्राण रूपी व्यापारों को 'वृत्ति' कहा जाता है। ... यह जो पूछा गया कि उनके लक्षण क्या हैं, उसका उत्तर है : इन इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का आलोचनामात्र अभीष्ट है। 'आलोचन' और 'ग्रहण' ये ओनों पर्यायवाचक पद हैं ... अत: ठीक ही तो कहा कि इनकी ग्राहिका ये इन्द्रियाँ होती हैं। ये इन्द्रियाँ उन-उन विषयों की प्रदीप की तरह प्रकाशिका नहीं होती। इन्द्रियवृत्ति केवल ग्राहिका होती है अर्थात् प्रत्ययरूप नहीं। परन्तु इन ग्रहण, प्रत्यय और प्रकाश में परस्पर प्रभेद क्या होता है ? समाधानरूपेण यह अवधेय है कि विषय के साथ सम्पर्क होने से उन-उन विषयों के रूपों को धारण कर पाना ही इन्द्रियवृत्तियों का ग्रहणरूप व्यापार होता

है। बाद में विषय और इन्द्रियवृत्ति का अनुकारी जो निश्चय होता है कि 'यह गाय है', यह श्वेत वर्ण की है; और दौड़ रही है' इसे प्रत्यय समझना चाहिए। विषय के साथ सम्पर्क छूट जाने पर श्रोत्र आदि वृत्तिओं में जो विषयाकार निवृत्त होता है, वह तो वर्तमानकालता है। अत: ग्रहण के अनुभव से जो संस्काराधान होता है और जिसके कारण त्रैकालिकी स्मृति बन पाती है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। यही इन दोनों के बीच रही विशेषता है। अब बाह्य जो प्रकाश होता है वह विषयाकाराकारित नहीं होता। घट आदि विषयों के संस्कार द्वारा तथा व्यवधायक पार्थिव छायारूप धर्म के अपहरण द्वारा भी प्रकाश व्यञ्जक हो कर चक्षु का उपकारी बन जाता है। ...

अत: यह उपपन्न होता है कि प्रदीप आदि प्रकाशक होते हैं, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ ग्राहिका होती हैं और अन्त:करण व्यवसायक होता है''।[१०]

यों वाचस्पति मिश्र से भी पूर्वकालिक सांख्यकारिका के व्याख्याता युक्तिदीपिकाकार ने जो यह निरूपण चक्षु और चक्षुर्ग्राह्य विषय के बारे में किया है, इसके आधार पर इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनके अनुसार इन्द्रियाँ केवल ग्राहिका ही होती हैं, प्रकाशिका नहीं। प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध तो वर्णरूपाकृति, तद्वद् वस्तु और सौर आदि ज्योतिष्मान् वस्तुओं के बीच ही माना गया है। अतएव सम्भवत: इन्हीं धारानरेशकृत शैवसिद्धान्तप्रतिपादक तत्त्वप्रकाश ग्रन्थ, जिसपर श्रीकुमारस्वामिकृत तात्पर्यदीपिका व्याख्या भी उपलब्ध है, उसमें भी -

''मन का व्यापार इच्छारूप होता है। अतएव मन के भीतर ही सङ्कल्प होता है। बुद्धीन्द्रियाँ पाँच होती हैं : श्रोत्र, त्वचा, दृष्टि, जिह्वा और नासिका... इनके ग्राह्य होते हैं : शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ... इन इन्द्रियों के व्यापार शब्द आदि के ग्रहण रूप होते हैं ... इन शब्दादि का ग्रहण शब्दादि के आकारों को धारण कर लेना और इसे ही 'इन्द्रियों का व्यापार' कहा जाता है''।[११]

एतावता देखा जा सकता है कि राजा भोज के अनुसार सांख्य और शैव दोनों ही मतों में विषय और इन्द्रिय के बीच ज्ञानानुकूलता प्रत्यासत्ति ग्राह्यग्राहकभावरूपा स्वीकारी गयी हैं। इस प्रतिपादन शैलि में विषयेन्द्रिय के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्बभावरूपा प्रत्यासत्ति के विपरीत विषय वास्तविक आकारघटक होता है तथा वृत्ति विषयाकाराकारित हो जाती है, ऐसी प्रत्यासत्ति स्वीकारी गयी है। आंग्लभाषा में इसके लिये एक बहुत उपयुक्त पद plasticity

उपलब्ध होता है जिसके अनुसार कुछ द्रव्यों में यथायथ अनेकाकारधारणक्षमता मानी जाती है। अतएव इसी के कारण ही विषय और इन्द्रियों के बीच ग्राह्यग्राहकभावरूपा प्रत्यासत्ति की कल्पना की गयी है। जहाँ तक बाह्य प्रकाश विषयाकाराकारित होता है या नहीं इस समस्या के समाधान की बात है तो स्पष्ट है कि यह तो सर्वथा तथ्यविपरीत विधान ही है। क्योंकि बाह्य आलोक की रश्मियाँ यदि विषयाकाराकारित न हो पाती हों तो दर्पण में प्रतिबिम्ब कैसे प्रकट हो सकता है ? क्योंकि अन्धकार वाले प्रकोष्ठ में द्रष्टा के असम्मुखीन दर्पण में भी दर्पणासम्मुख आलोकवाले प्रकोष्ठान्तर में विद्यमान वस्तुओं का प्रतिबिम्ब आलोकरश्मियों के द्वारा प्रकट होता ही है। यह आलोकरश्मियों के विषयाकाराकारित हुए बिना कथमपि शक्य नहीं। इसी तरह आधुनिक उपकरण फिल्म-प्रॉजेक्टर् में भी जो पारदर्शी फिल्म के पृष्ठभाग से आलोकरश्मियों का प्रक्षेपण जब पर्देपर किया जाता है तब अर्थात् सफेद पर्दे तक रंग तथा आकृति को प्रकाशकिरणें अपने साथ ले जाती हैं और परावृत्त हो कर उन्हें पुन: चक्षुर्ग्राह्य भी बनाती हैं। अत: बाह्यालोकरश्मियों के विषयाकाराकारित न होने की कथा सर्वथा तथ्यविपरीत ही है।

जहाँ तक चक्षु इन्द्रिय के विषय देश में पहुँच कर विषय को प्रकाशित करने के विवाद के बारे में वाल्लभ वेदान्त के अभिप्राय का प्रश्न है तो गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण ने प्रस्थानरत्नाकर के प्रमाणकरणस्वरूपनिरूपक कल्लोल के तृतीय तरंग के; तथा, ब्रह्मसूत्र के द्वितीयाध्याय के चतुर्थपाद के सातवें सूत्र के अणुभाष्यप्रकाश के आधार पर उनका विमर्श करना चाहेंगे। इस विमर्श करने से पहले, परन्तु, स्वयं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा जो कुछ इस विषय में प्रतिपादित किया गया है, उसे पहले दृष्टिगोचर कर लेना उपयुक्त होगा। उसके बाद श्रीपुरुषोत्तमचरण की विशद विवेचना का अवलोकन प्रकृत समस्या पर अनुत्तर विमर्श का अवसर प्रदान करेगा।

वाल्लभ दृष्टिकोण

भागवत तृतीयस्कन्ध की सुबोधिनी व्याख्या में महाप्रभु कहते हैं - "ज्ञानप्रधान महत् तत्त्व से क्रियाशक्तिवाला अहंकार समुत्पन्न हुआ। यह तीन तरह का उत्पन्न होता है। स्वयं उत्पत्ति की प्रक्रिया ही यहाँ भेदिका बन जाती है। क्योंकि मूलप्रकृति के परिणामरूप ये विकार तीन गुणोंवाले तो होते ही हैं ... अहंकार वैकारिक अर्थात् सात्त्विक भी होता है और राजस, तामस भी ... ऐसे

त्रिविध अहंकार से मन इन्द्रिय और पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है, इनमें पञ्चतन्मात्राओं का भी अन्तर्भाव जान लेना चाहिए ... बुद्धितत्त्व की उत्पत्ति होती है राजस अहंकार से ... यह बुद्धि निर्विषयिका नहीं होती, अत: बुद्धि किसी भी विषय के बारे में पैदा हो सकती है ... मन जैसे इन्द्रियों का प्रेरक होता है, वैसे ही इन्द्रियों पर अनुग्रह करना बुद्धि का कार्य है। अतएव बुद्धि द्वारा अनुगृहीत होकर ही इन्द्रियाँ कुछ भी जान या कर पाती हैं। बुद्धि के तारतम्यवश ही, अतएव, इन्द्रियों से पैदा होते ज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है। यह तो हुआ बुद्धि का कार्यानुसारिलक्षण। बुद्धि का स्वरूपलक्षण 'द्रव्यस्फुरणविज्ञान' माना गया है : घट आदि द्रव्यों के स्फुरण होने पर शब्द, संस्कार अथवा आलोक द्वारा जो विशिष्ट ज्ञान पैदा होता है वह बुद्धि है। क्योंकि केवल चक्षु से पैदा होने वाले ज्ञान में तारतम्य हो नहीं सकता। स्वत:स्फुरण तो योगज धर्मों से भी शक्य होता है, अत: द्रव्य के स्फुरण होने के बाद जो विज्ञान पैदा होता है उसे ही बुद्धि का स्वरूपलक्षण माना गया है। इन्हें 'तैजस' कहा गया है, क्योंकि इन्दियाँ चाहे ज्ञान की करण हों या क्रिया की, दोनों तरह की होती तो हैं राजस ही। ज्ञान की करण बनने वाली इन्द्रियाँ सात्विक हों और क्रिया की करण बनने वाली तामस हों ऐसे नहीं मान लेना चाहिए ... जैसे ज्ञान के मूल में बुद्धि होती है वैसे ही क्रिया के मूल में प्राणतत्त्व भी होता है ... बुद्धि राजसी होती है सो बुद्धि के द्वारा अनुगृहीत इन्द्रियाँ सभी राजसी होती हैं ... बुद्धि की तरह प्राण भी सर्वेन्द्रियों का अनुग्राहक होता है ... अब रूप का लक्षण जान लेना चाहिए। वह द्रव्य की आकृति के जैसी आकृतिवाला होता है। घट आदि द्रव्यों की जो भी आकृति होती है वही रूप की भी होती है। वह जैसे पृथुबुध्नोदराकार होता है, वैसे ही रूप भी होता है। अतएव पट के उदाहरण में वह आतानवितानात्मक भी होता है। यहाँ 'द्रव्य के जैसी आकृति' कही जाती होने से फलित होता है कि द्रव्य रूप के जैसी आकृतिवाला नहीं होता। अर्थात् द्रव्य को उपमेय नहीं कहा जा रहा है। इसके अलावा रूप द्रव्य का गुण भी होता है। प्रतीति परन्तु उसकी होती है सर्वदा उपसर्जनतया ही। शब्द आदि तन्मात्राओं के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनकी तो प्रतीति स्वतन्त्रतया भी शक्य होती है। व्यक्ति की संस्था ही रूप की भी संस्था होती है, क्योंकि व्यक्ति वक्र हो तो रूप भी वक्र हो जाता है। रूपवान् द्रव्य के उपविष्ट होने पर रूप भी उपविष्ट हो जाता है ... इसे 'तेज का तेजस्त्व' भी कहा जा सकता है, क्योंकि

वह रूपतन्मात्रारूप होता है। अर्थात् उसकी सूक्ष्मावस्था। अब चक्षु वह इन्द्रिय है कि जिसका विषय तेज का कोई विशेष गुण होता है ... यहाँ रूप को तेज का एक विशेष गुण माना गया है।"[१२]

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य द्वारा श्रीमद्भागवतव्याख्या के रूप में दिये गये इस प्रतिपादन के अवलोकन करने पर जो एक बात स्पष्ट समझ में आती है वह यह कि इन्द्रियग्राह्य रूपतन्मात्रा तथा रूपादि की ग्राहकेन्द्रिय राजस-अहंकार के विकाररूपतया उत्पन्न होती हैं। इनमें रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनों ही तैजस द्रव्य के विकार हैं। अत: तैजस द्रव्य होने के कारण चक्षुरिन्द्रियों की जैसे किरण हो सकती हैं वैसे ही प्रत्येक रूपवद् द्रव्य की भी किरणें समानन्यायेन हो सकती हैं। अल्पत्व/बहुत्ववशात् झटिति कहीं प्रतीति सुकर हो और कहीं दुष्कर हो वह अन्य कथा है। इस पक्ष के विस्तृत विवेचन से पहले, परन्तु, अब गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत एतद्विषयक विवेचना को दृष्टिगत कर लेना अति आवश्यक है।

गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण द्वारा प्रस्तुत विवेचना

तदनुसार सर्वप्रथम प्रस्थानरत्नाकर में जो प्रतिपादन उपलब्ध होता है उसे देख लेना उपकारक होगा -

"इन्द्रिय और विषय के संयोग से निर्विकल्पक ज्ञान जब प्रकट होता है तब इन्द्रिय देश में बुद्धिवृत्ति प्रकट हो कर इन्द्रिय पर अनुग्रह करती है। उसके बाद ज्ञान सविकल्पक बन पाता है। बुद्धि यदि इन्द्रियों पर अनुग्रह न करती हो तो सविकल्पक ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। वृत्यन्तरवश पूर्ववृत्ति के नाश होने पर सविकल्पक ज्ञान संस्कारात्मना अवस्थित हो जाता है। इन्हीं संस्कारों के रूप में अवस्थित विषयों का उद्बोधकों के द्वारा उद्बोधन होने पर राजस रागादिगुणों के कारण स्मृतिजनक संस्कार प्रबल हो जाते हैं। पश्चात् तमोगुणों के बुद्धि में प्रबल होने पर स्वोपस्थापित अर्थ से माया वास्तविक विषयाकार को आवृत कर उस मायिक पदार्थ के ज्ञान को नयगोलक के अग्रभाग पर जब आरोपित करती हैं तब भ्रम पैदा होता है। अत: बुद्धिस्थ गुणों से जन्य बुद्धि की अवस्थाविशेषरूपा ही वृत्ति होती है। इस वृत्ति के प्राकट्य का क्रम यों समझना चाहिए : हमारे भीतर विराजमान अन्तर्यामिरूप परमेश्वर जब मन को किसी कार्य के हेतु प्रेरित करता है, तब वह तत्तद् इन्द्रियों को प्रेरणा देने को तत्तद् इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता है ... बाद में विषयसंसृष्ट इन्द्रियों में पहले

इन्द्रियावच्छिन्न मन में निर्विकल्पक ज्ञान पैदा होता है। उसके बाद तत्तद् इन्द्रियदेश में बुद्धिवृत्ति पैदा होती है। तब बुद्धि के द्वारा भी उन इन्द्रियों पर अनुग्रह किये जाने पर सविकल्पक ज्ञान पैदा होता है। चाक्षुष ज्ञान में तो नयनकिरण विषयदेश पर्यन्त गमन करती हैं। जबकि इन्द्रियान्तरों में किरण न होने के कारण इन्द्रिय द्वारों से ही विषय मन तक पहुँचते हैं। दोनों ही प्रकार के ज्ञानों में विषयेन्द्रियों के बीच घटित होते स्पर्श आदि ही व्यापार बनते हैं। यहाँ ऐसी आशंका उठ सकती कि नयनों की किरण स्वीकारने पर इन्द्रियों के बारे में ब्रह्मसूत्र 'अणवश्च' (ब्र.सू.२/४/७) में अभ्युपगत अणुत्व की धारणा निरस्त हो जायेगी। यह आशंका परन्तु निराधार है, क्योंकि सूर्यमण्डल, चाहे जितना भी महत्परिमाण क्यों न हो, उसकी किरणें जिस विस्तार में व्याप्त होती हैं उतना तो महत्परिमाण उसका होता नहीं है। और सूर्य का ही कोई क्षुद्र अंश हमारे भीतर नयनरूप इन्द्रिय के रूप में निर्मित हुआ होने से उसके किरणों की भी कल्पना करने में कोई शास्त्रीय बाधक दिखलायी नहीं देता।...

अथवा 'गुणाद् वा आलोकवत्' (ब्र. सू. २/३/२५) ब्रह्मसूत्र के अनुसार क्योंकि आलोक को गुणरूप माना गया है अत: तैजस चक्षु के आलोकरूप गुण को विषयदेश में व्याप्त होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। अत: नयनकिरणों के विषयदेश पर्यन्त गमन द्वारा ही चाक्षुष प्रत्यक्ष की प्रक्रिया उचित लगती है ...

कुछ लोगों का कहना है कि माया के कार्यरूप तम का आलोक के द्वारा प्रतिबन्ध हो जाने पर ज्योतिरूप सूर्य देवता की किरणों द्वारा अव्यवहित सन्मुख देश में अवस्थित घट का विशिष्ट पृथुबुध्नोदराकार रूप अणुपरिमाण चक्षु तक पहुँचाया जाता है। तब सत्वप्रधान बुद्धि के भीतर भी वह आकार सम्पन्न हो जाता है। और तब अणुरूप जीव के प्रति ज्ञानात्मक आध्यात्मिक चाक्षुष घट की अभिव्यक्ति होती है। दूरस्थ गन्ध या शब्द आदि तो वायु द्वारा घ्राण या श्रवण इन्द्रियों तक पहुँचाये जाते हैं। तब अन्त:सत्त्वात्मिका बुद्धि भी वैसे ही आकार से सम्पन्न होने पर ज्ञानात्मक आध्यात्मिक गन्ध-शब्द आदि की अभिव्यक्ति ही घ्राणज या श्रावण प्रत्यक्षों के रूप में घटित होती है। आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होने के कारण बाह्य घट के अगृहीत रहने पर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है।

यहाँ इस विषय में यह अवधेय है कि सर्वप्रथम तमोजनन विषय देश में नहीं प्रत्युत नयनदेश में भागवतपुराण (११/२८/३४) में प्रतिपादित किया गया

है। ज्योतिरूप सूर्य द्वारा पुरुषचक्षु पर्यन्त विषयरूप का प्रापण भी संगत नहीं, क्योंकि अनेक द्रष्टाओं तक विषयरूप के प्रापण की कल्पना करने पर अन्त में कभी विषय स्वयं नीरूप रह जायेगा ... इसके अलावा सांझ को सूर्यास्त के बाद सूर्यकिरणों के अभाव में घट दिखलाई देना भी बन्द हो जाना चाहिए। भागवतपुराण में वायु के बारे में 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयो:' (भाग.पुरा ३/२६/२७) जैसा विधान उपलब्ध होता है ऐसा तेजोद्रव्य के बारे में उपलब्ध न होता होने से भी यह धारणा अशाब्द ही है।

इसके अलावा यह भी यहाँ विचारणीय होता है कि चक्षु पर्यन्त रूप का प्रापण चक्षु में प्रतिबिम्ब पैदा करने के रूप में ही स्वीकारना पड़ेगा। प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं। अत: बुद्धि के भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बों को आकारसमर्पक मानना पड़ेगा। अत: उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होने से मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होने पर भी केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो।''[१३]

इसी तरह ब्रह्मसूत्राणुभाष्य के ''अणव: च'' (ब्र.सू.२/४/७) के प्रकाश में भी श्रीपुरुषोत्तमचरण ने अणुपरिमाण चक्षुरिन्द्रिय का कौन सा गुण विषयदेश को प्राप्त करता है कि जिसके कारण उसे प्राप्यप्रकाशकारी माना जाय ? इस बात को उन्होंने यों समझाया है कि चक्षु के तैजस होने के कारण उसमें रूपतन्मात्रा गुण ऐसा हो सकता है कि जो विषय देश पर्यन्त मन कर सकता है। प्रकाशकार यह भी कहते हैं कि ''यन्न स्पृशन्ति न विदु: मनोबुद्धीन्द्रियासव:''। (भाग.पुरा. ६/१६/२३) इस नारदकृत उपदेश में मन आदि के बारे में यह कहा गया है कि न तो वे ब्रह्म का स्पर्श कर पाते हैं और न ही ब्रह्म को जान ही पाते हैं। एतावता इतना तो सिद्ध होता ही है कि मन आदि इन्द्रियों में स्पर्शपूर्वक ज्ञानजननसामर्थ्य भागवत को अभीष्ट तो है ही। अन्यथा ब्रह्म के बारे में अप्रसक्त का प्रतिषेध स्वीकारना पड़ेगा। अत: स्पर्शरूप व्यापार ही इनका स्वीकारना चाहिए, उन्हें अणुपरिमाण माना गया होने से उस स्पर्श का प्रत्यक्ष चाहे न भी होता हो तब भी। स्वाभाविक रूप में दूरदेशवर्ती वस्तु का जब चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, तब उस दूरदेशवर्ती की वस्तु की चक्षुरिन्द्रियदेश में प्राप्ति शक्य न होने पर चक्षुरिन्द्रिय की ही विषय देश में प्राप्ति अन्यथानुपपत्ति के बलपर स्वीकारनी पड़ेगी। अन्यथा स्पर्श के बिना भी प्रत्यक्ष उत्पन्न हो सकता है ऐसा गलेपतित होगा।

उक्त विवेचना का विमर्श

इस समग्र प्रतिपादन में कुछ बातें विचारणीय लगती हैं। सर्वप्रथम तो यह कि श्रुत्यादि शास्त्रों में चक्षु की विषय देश में प्राप्ति के बाद स्पर्श की बात कहीं कण्ठोक्त है या नहीं ? अर्थात् श्रौत अर्थापत्ति के बल पर ही यदि यह धारणा स्वीकारी गयी हो तो उसकी अन्यथोपपत्ति शक्य है या नहीं ? रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवेदान्तदेशिक ने अवश्य ही " 'दिवीव चक्षुः आततम्' ऐसे आगमिक व्यवहारस्वारस्य में कोई बाधा दिखलायी नहीं देती होने से वृत्ति द्वारा प्राप्ति कही जा सकती है।" (पूर्वोद्धृत) ऐसे विधान द्वारा चाक्षुषवृत्ति की विषयदेश में प्राप्यकारिता को श्रुतिप्रमाणमूलकतया प्रस्तुत किया है। इसे श्रीपुरुषोत्तमचरण के शब्दों में कहना हो तो सौर आदि बाह्यालोक की तरह नयनकिरणें भी स्वाश्रयाधिकदेशवर्ति-गुणरूपा होती हैं। अतः स्वग्राह्य वस्तुदेश में चक्षुर्गुण की व्याप्ति भी इसी श्रुतिवचन के आधार पर प्रस्तावित की जा सकती है। मुझे परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुः आततम्" (ऋक्संहि.१/५/२२/२०) इस श्रुतिवचन में 'दिवि' पद के साथ प्रयुक्त सप्तमी विभक्ति को चक्षु के औपश्लेषिक या अभिव्यापक आधार के रूप में लेना उपपन्न नहीं होता। अर्थात् समग्र नभोविस्तार में नयनकिरणों को संयोग सम्बन्ध के साथ विस्तृत मानना या समग्र नभोविस्तार में नयनकिरणों को अभिव्यक्त मानना ये दोनों ही अतीव क्लिष्टकल्पना लगती है। इसके बजाय ऐसा अर्थ सोचना ऋजुतर लगता है कि नभ में जो कुछ आतत हो, व्याप्त हो; अथवा विद्यमान हो, उदाहरणतः नक्षत्र, प्रकाश अथवा स्वयं नभोविस्तार, उसी को ही चक्षु जैसे देख पाती है, ऐसे ही सूरिगण भी विष्णु के परम पद को सदा देख पाते हैं।

ऐसा अर्थ न स्वीकारने पर या तो "यथा दिवि आततं चक्षुः पश्यन्ति" ऐसा अन्वय सोचने पर चक्षु को 'पश्यन्ति' क्रियापद के कर्म के रूप में मानना पड़ेगा; अथवा तो "यथा दिवि आततं चक्षुः पश्यति" ऐसा अन्वय सोचने पर "किं पश्यति ?" आकांक्षा की पूर्ति ही हो नहीं पायेगी। प्रस्ताविक अर्थ स्वीकारने पर, जबकि, "तरणिः विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्यो विश्वम् आभासि रोचनम्" (ऋक्संहि. १/९/५०/४) वचन में कण्ठोक्त "विश्वं रोचनम् आभासि" प्रयोग के साथ संवाद भी सिद्ध हो जाता है। "विश्वं रोचनं" का अर्थ श्रीसायणाचार्य "रोचमानम् अन्तरिक्षम्" करते हैं और उसे अथवा तदवर्ती अन्य पदार्थों को भी यहाँ 'आततम्' पद से परामृष्ट मानना उपयुक्त होगा।

यदि ''मोक्षे इच्छा अस्ति'' प्रयोग की तरह 'दिवि' पद में भी वैषयिकाधाररूप में सप्तमी विभक्ति ली जाये तो 'चक्षु' को विशेष्य बना कर 'आततम्' को उसका विशेषण मानना अथवा 'चक्षु' को उद्देश्य मान कर 'आततम्' को उसका विधेय मानना? यदि विशेषणतया स्वीकारते हैं तो पुन: ''यथा दिवि आततं चक्षु: (जना: पश्यन्ति तथा) सूरय: विष्णो: परमं पदं पश्यन्ति'' अन्वय गलेपतित होता है। यदि 'चक्षु' को उद्देश्य बना कर 'आततम्' को विधेय मानते हैं तो सामान्य जनों की चक्षु तो आकाश में आतत हो कर भी विष्णु के उस परम पद के दर्शन की कर्त्री तो हो नहीं सकती। अत: ''सूरिगण विष्णु के उस परम पद को सर्वदा देख पाते हैं जैसे चक्षु आकाश में आतत-व्याप्त होती है'' ऐसे विचित्र अर्थ की कल्पना करने पर तो उपमोपमेयभाव ही स्पष्ट नहीं हो पाता।

दूसरी जो बात यहाँ अवधेय है वह यह कि महाप्रभु चक्षुरिन्द्रिय की तरह ही रूपातन्मात्रा को भी तैजस मानते हैं। अत: कोई विनिगमना नहीं रह जाती कि क्यों तैजस होने के कारण चक्षुरिन्द्रिय ही विषयदेश पर्यन्त धावन करती है और क्यों चक्षुर्ग्राह्य विषय की रूपमतन्मात्रा चक्षुर्देश पर्यन्त आगमन नहीं कर पाती ?

तीसरी बात यह भी विचारणीय है कि सूर्य का ही कोई अंशविशेष जब हमारे नयनों के रूप में प्रकट हुआ है तो रूपमन्मात्रा के साथ संयुक्त होने के बाद तत्तादात्म्यापन्न सूर्य की किरणें क्यों रूपतन्मात्रा को नयनदेश तक नहीं पहुँचा देती ? क्यों नयनरश्मियों को रूपतन्मात्रा के प्रदेश पर्यन्त गमन करना पड़ता है ? ''उद् उ त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतव: दृशे विश्वाय सूर्यम्'' (ऋक्संहि. १/९/५०/१) विधान द्वारा सप्तरश्मियों को 'केतव:' - प्रज्ञापक मानकर सभी दृष्टिमान् प्राणियों को उनके नयनों द्वारा दर्शनक्रिया में सक्षम बनाने वाले सूर्यदेव का वहन करने वाली श्रुति मानती है। मूल सूर्यरश्मियाँ जिस कार्य को सम्पन्न कर रही हों उन्हें अंशभूत नयनरश्मियों से करवाने में क्या लाभ ? यदि युक्तिदीपिकाकार की तरह ग्राहकोपकरण और प्रकाशकोपकरण का प्रभेद करना यहाँ अभीष्ट हो तो पुन: न्यायकुमुदचन्द्रोदय की युक्तियों का भी समाधान खोजना पड़ेगा। नयनरश्मियों को अनुद्भूतरूपस्पर्शवाली मानने के बजाय उद्भूतस्पर्शवाली सूर्यरश्मियों से वह कार्य क्यों सम्पन्न होता हुआ न मान लेना ? श्रीप्रभाचन्द्र की इस युक्ति में पर्याप्त बल है कि जो स्वयं रश्मियुक्त

हो उसे बाह्य आलोक की अपेक्षा क्यों होगी ? यदि अपर्याप्त रश्मिवाली होने के कारण बाह्य आलोक की अपेक्षा माननी पड़ती हो तो उसी कारण से वह वस्तुग्रहण में भी अक्षम सिद्ध होगी। उदाहरणतया अमावस्या की रात्रि के अन्धकार में तारागणों के मन्दालोक में बहुधा विषय का स्फुट अवभासन नहीं हो पाता। इसी तरह अन्धकार की चक्षुर्ग्राह्यता भी अल्परश्मिवत्ता से उपपन्न तो हो सकती है। नयनरश्मियों की वही अल्पता परन्तु, जैसाकि श्रुति में स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया गया है, "अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा: यन्ति अक्तुभि: सूराय विश्वचक्षसे" (ऋक्संहि.१/९/५०/२) अर्थात् अल्परश्मिवाले नक्षत्रों के सारे मन्द प्रकाश सौर प्रकाश में निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे ही नयनों की भी अल्परश्मिवत्ता सौर आलोक में अकिञ्चित्कर हो जानी चाहिए थी। इसके विपरीत "दृशे विश्वाय सूर्यम्" वचन में स्पष्ट शब्दों में सौर आलोक को नयनों को दर्शनसामर्थ्य प्रदान करने वाला माना गया है। उल्लिखित वचन के भाष्य में श्रीसायणाचार्य भी कहते हैं कि "विश्वचक्षसे विश्वस्य सर्वस्य प्रकाशकस्य सूराय सूर्यस्य आगमनं दृष्ट्वा तस्करा: नक्षत्राणि च रात्रिभि: सह सूर्य: आगमिष्यति इति भीत्या पलायन्ते" (तत्रैव)। स्वयं श्रीपुरुषोत्तमचरण ने भी "चक्षुषो अतैजसत्वात् तैजसत्वपक्षेऽपि प्रौढत्वाभावेन परावृत्त्यभावात्" (अवता. प्रतिबिं. वा) इतना तो स्वीकारा ही है। अत: जो नयनरश्मियाँ परावृत्तिक्षम न हों वे दर्शनक्षम कैसे हो पायेंगी ! इसके अलावा अपरावृत्त नयनरश्मियों का विषयदेश में पर्यवसान स्वीकारने पर नयनगोलक के साथ सम्बन्धविच्छेद भी स्वीकारना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में पुन: विषयावभासन चक्षुरश्मियों से अकल्प्य सिद्ध होगा।

अत: इन बातों का विचार करने पर जो श्रीपुरुषोत्तमचरण ने "केषाञ्चित् प्रक्रिया" के रूप में जो विवेचना उद्धृत की है वह वाल्लभ मत में, मेरी नम्र धारणा के अनुसार, अधिक सुसंगत होनी चाहिए थी, बजाय कि न्यायवैशेषिकादि अनुमानप्रधान चिन्तनों के द्वारा प्रस्तावित प्राप्यप्रकाशकारिता की प्रक्रिया पर अवलम्बित होने के।

श्रीपुरुषोत्तमचरण ने एक विरोधी युक्ति यह भी दी है कि आलोक को इस प्रक्रिया में जो तमोजनन में प्रतिबन्धरूप स्वीकारा गया है वह श्रीमद्भागवत के "यथाहि भानो: उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्" (भाग.पुरा.११/२८/३४) वचन से विरूद्ध है। इस बारे में कहा जा सकता है कि शैत्यनिवारक अग्नि यदि

शैत्योत्पत्ति में प्रतिबन्धक भी होती हो तो कोई आपत्तिजनक बात होनी तो नहीं चाहिए थी। तमोजनन विषयदेश में नहीं प्रत्युत नयनदेश में होता है, ऐसा इस वचन द्वारा प्रतिज्ञात देशनियम तो स्वयं ग्रन्थकार द्वारा अन्धकारवाद में उद्धृत ''यद् बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपप्रभया यथा'' (भाग.पुरा.१०/५१/२०) वचन में नयनों के बजाय गुहाप्रदेश में ही उसे आरोपित तथा भगवत्स्वरूपालोक से प्रतिबद्ध भी माना गया होने से पुन: विचारणीय ही लगता है। स्वयं श्रीमद्भागवत के ''यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो हि अर्कांशभूतस्य च चक्षुष: तम:'' (भाग. पुरा. १२/४/३२) वचन में घन को अमायिक=अर्कप्रभव अमायादर्शित =अर्कदर्शित और अर्कांशभूत चक्षु के लिये तमोरूप भी माना है। यह तो स्पष्ट ही है कि घन द्रष्टा के नयनों में नहीं प्रत्युत नभोदेश में ही अवस्थित होता है। अत: मायिक तमोविशेष नयनवर्ती होता है परन्तु एतावता सर्वविध तमस् न तो मायिक ही होते हैं और नियततया नयनगोलक में अध्यारोपित ही। रही बात सूर्यरश्मियों द्वारा विषयरूप के नयनपर्यन्त आनयन करने पर विषय के नीरूपता की तो ''दीप: चक्षु तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग् भवेत्'' (भाग.पुरा.१२/४/२४) वचन के अनुसार यह आपत्ति तो रूपतन्मात्रा और चक्षुरिन्द्रिय दोनों पर समानरूपेण आपादित या निवारित होगी। नयनरश्मियाँ पलकों को बन्द करने पर यदि झटिति पुनरावृत्त हो पाती हों तो रूपतन्मात्रा भी वैसा व्यवहार क्यों नहीं कर पायेंगी ?

श्रीपुरुषोत्तमचरण ने एक युक्ति यह जो दी है कि सूर्यरश्मियों द्वारा रूप के नयनपर्यन्त प्रापण की प्रक्रिया में सूर्यास्त बाद रूपवद् वस्तु का दर्शन शक्य नहीं रह जायेगा। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद की ''व्युच्छन्ती हि रश्मिभि: विश्वम् आभासि रोचनं तां त्वाम् उष: वसुयवो गीर्भि:'' (ऋक्संहि. १/९/४९/४) श्रुति में सूर्य के साथ जुड़ी होने के कारण कुछ काल पर्यन्त तो सूर्यास्त के बाद भी रूपवद् वस्तु का प्रकाशन कर ही सकती है। सूर्योदय के बाद गृह के जिस अन्त:प्रकोष्ठ में सूर्यरश्मियाँ प्रविष्ट नहीं हो पाती वहाँ भी सूर्यालोक तो अन्धकार को निवृत्त करता ही है। यही न्याय सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के बाद भी कुछ काल तक प्रकट होने वाला या रहने वाला सूर्यालोक प्रत्यक्षसिद्ध ही होने से बहुत विचारणीय नहीं लगता।

आदित्य रश्मियों की रूपप्रापकता के अशाब्द होने का विधान भी अंशत: उपर्युद्धृत श्रुतिवचनों से भी समाहित तो हो ही जाता है। प्रतिबन्दि उत्तर के

रूप में, परन्तु, यह भी तो कहा जा सकता है कि नयनरश्मियों की विषयदेश में प्राप्ति भी किसी नि:संदिग्ध शास्त्रवचन द्वारा सिद्ध होती तो, वह वचन ही उद्धृत करने से सारे विवाद शान्त हो सकते थे, ऐसे युक्तिप्रतियुक्ति के परिश्रम की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती !

यह जो श्रीपुरुषोत्तमचरण ने कहा कि चक्षु पर्यन्त रूप का प्रापण चक्षु में प्रतिबिम्ब पैदा करने के रूप में ही स्वीकारना पड़ेगा। इस संदर्भ में स्वयं ग्रन्थकार के दो वचन मननीय प्रतीत होते हैं :

१. ''प्रतिबिम्बस्तु अदण्डवारितत्वाद् भवति। तेन मायापि प्रत्यायतीति चक्षुषा भूयोज्ञानम् उत्पद्यते।''

२. ''किञ्च शलाकाव्यवहितस्थाल्युदके खण्डितमुखावलोकनोत्तरं शलाकाया: तदुदकान्तस्तलभागे प्रवेशने मुखम् अखण्डितम् अवलोक्यते; शलाका च अन्त:सिकतादिवत्। तेन अन्तर्जलं मध्यदेशे प्रतिबिम्बोद्भव: इति निश्चीयते। परावृत्य ग्रहणेतु तत् न स्यात्। किम्बहुना पराक्षिण स्वप्रतिबिम्बदर्शनात् स्वाक्षण्यपि तथैव इति निश्चयात्, प्रतिबिम्बोत्तरमेव सर्वस्य चक्षुर्गोचरीभाव: इत्यपि सुधीभि: आकलनीयम्।''

(प्रस्था.रत्ना.प्रमा.कल्लो.तृती.तरं.-अवता.वाद.प्रतिबिं.वा.)

ऐसे अभ्युपगम के बाद भी ग्रन्थकार का यह कहना कि प्रतिबिम्ब तो मायिक होते हैं वास्तविक नहीं, अत: बुद्धि के भीतर भी उन्हीं मायिक प्रतिबिम्बों को आकारसमर्पक मानना पड़ेगा, गम्भीर आक्षेप नहीं लगता। अत: यह जो कहा कि उक्त आध्यात्मिक रूप भी मनोमय होने से मायामय ही सिद्ध होगा ऐसा कि जिसकी सत्यता न होने पर केवल अर्थक्रियाकारिता मात्र सोची जा सकती हो। यहाँ तो वदतोव्याघात दोष हो जाता है। वैसे आधुनिक चुक्षुर्विज्ञान के अनुसार नयनगोलकों के भीतर सम्पन्न होती की प्रक्रिया में वहाँ नयनगोलकों में समुद्भूत विषयप्रतिबिम्ब का विषयप्रत्यक्ष के साथ किसी भी तरह का कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध नहीं होता। वह प्रतिबिम्ब तो नयनगोलक के बाह्यावरण पर ही घटित होता है। नेत्रों के अन्त:पटल पर तो विषयसंसृष्ट बाह्यालोकरश्मियों के परावर्तन के बाद संयोगवश ही बाह्यविषय का चाक्षुष आभास होता है। वह भी उस नेत्रपटल से मस्तिष्क के पश्चाद्वर्तिभाग में अवस्थित चाक्षुषकेन्द्र में पहुँचने वाली नाड़िकाओं के भलीभाँति काम करने पर ही।

इस सन्दर्भ में अनिर्दिष्टनामा ''केषाञ्चित् =कुछ लोग कहते हैं'' वाले

अंश में उद्धृत विधान कि "आध्यात्मिक और आधिभौतिक के बीच अभेद होने के कारण बाह्य घट के अगृहीत रहने पर भी यह आपत्तिजनक बात नहीं है" इसमें भी वाल्लभ दृष्टिकोण के अनुसार थोड़ा संशोधन अपेक्षित लगता है। वह यह कि चक्षुर्ग्राह्य वस्तुओं के आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपों में एकान्तिक अभेद तो अनवसरपराहत है परन्तु ब्रह्मदृष्टि से "सर्वं सर्वमयम्" (नृसिंहोत्त. ताप. उप. ९) वचनोक्त तादाम्य तो अवश्य ही मान्य होगा ही। यह, परन्तु, लौकिक अनुभूति का विषय न होकर ब्रह्मानुभूत्येकगोचर होता है। अत: उस मौलिक तादात्म्य की भी विवक्षा यहाँ स्वीकारी नहीं जा सकती। अत: सम्बन्धमीमांसा यहाँ सावधानतया करनी पड़ेगी। तदनुसार हम समझ सकते हैं कि बाह्य रूपवद् वस्तु के साथ बाह्य लोक के संयोग होने पर वहाँ तादात्म्येन विद्यमान रूपतन्मात्राओं के साथ भी बाह्यालोकरश्मियों का संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ता है, अत: वस्तुरूपतन्मात्राकारिदि से आकारित बाह्यरश्मियाँ परावृत हो कर नयनगोलक के अन्त:पटल से, आधुनिक विज्ञानाभिमत भाषा का प्रयोग करना हो तो, संयुक्त होती हैं। तब वे विषयाकाराकारित बाह्य सौर आदि आलोक की रश्मियाँ चाक्षुष संवेदना उत्पन्न करती हैं। अत: प्रस्थानरत्नाकरोक्त "तत्र चक्षुषा द्रव्यग्रहे संयोगएव प्रत्यासत्ति:" (तत्रैव) विधान असम्यक् नहीं परन्तु अपर्याप्त अवश्य लगता है। महाप्रभु ने रूपतन्मात्रा और द्रव्य के बीच तादात्म्य स्वीकारा है और द्रव्यग्रहण रूपग्रहणपूर्वक ही शक्य होने से यहाँ संयुक्ततादात्म्यसंयोग सम्बन्ध स्वीकारना अधिक उपयुक्त लगता है।

वैसे प्रस्थानरत्नाकर में ग्रन्थकार ने १. संयोग २. तादात्म्य ३. संयुक्ततादात्म्य ४. संयुक्तविशेषणतादात्म्य और ५. स्वरूप यों पाँच ही सम्बन्ध स्वीकारे हैं। इस चाक्षुषप्रक्रिया की उपपत्ति हेतु, परन्तु, यदि इन सम्बन्धों के अलावा भी सम्बन्धों का ऊह करना हो तो किया जाना चाहिए। बाह्यालोकरश्मियों के साथ अपने धर्मो के संयोगवश रूपतन्मात्रा में तादात्म्यापन्न हो कर उन रश्मियों से भी संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध जुड़ जाती है। अपने चक्षुर्ग्राह्य धर्मों में तादात्म्यसम्बन्धवश वृत्तिमान् रूपतन्मात्रा इन रश्मियों के साथ पुन: तादात्म्यापन्न हो कर नेत्रान्तर्भूत दृष्टिपटल से संयुक्त होती हैं तब चक्षुरिन्द्रिय द्रव्यग्रहण में सक्षम हो पाती है। यों परम्परासम्बन्धद्वारक यह कार्यकारणभाव मायिक नहीं होता प्रत्युत वास्तविक ही होता है। फिर भी

चाक्षुष द्रव्य का आधिभौतिक स्वरूप जड़ होता है जबकि इस चाक्षुष द्रव्य का आध्यात्मिक स्वरूप सदंशभूत जड़ इन्द्रियान्त:करण और चिदंशभूत जीवात्मा के परस्पर संयोग तथा इतरेतरतादात्म्याध्यास के वश चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है।

प्रस्थानरत्नाकर में चक्षु की अप्राप्यप्रकाशकारिता और मायाद्वारक प्रतिबिम्बप्रक्रिया के निरसनार्थ श्रीमद्भागवत के "चक्षु: त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि" (भाग.पुरा.११/१५/२०) इस वचन के आधार पर तत्तत्प्रतियोगिक संयोगद्वय को हेतुतया स्वीकारा गया है। यह सम्बन्ध आवश्यक नहीं कि साक्षात् संयोगरूप ही हो, क्योंकि प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार यह त्वष्टृचक्षुस्संयोग त्वष्टरश्मिसंयोगद्वारक भी हो सकता है, दोनों के बीच अर्थात् रश्मि-तद्वान् के बीच धर्मधर्मिभावप्रयुक्त तादात्म्यरूप सम्बन्धवशात्। इस तादात्म्य का अनुल्लेख "सर्वं खलु इदं ब्रह्म"/"तत् त्वम् असि" (छान्दो. उप.३/१४/१-६/८/१०) वचनों में कार्यकारणभाव और अंशांशिभाव प्रयुक्त रूपभेद का अनुल्लेख जैसे पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्धवशात् आपत्तिजनक नहीं होता तद्वत् समझ लेना चाहिए।

निष्कर्ष

प्रस्तुत विषय के उपसंहार करने से पूर्व यही विवक्षित है कि चक्षु को विषयदेश में पहुँचा कर प्राप्यकारी मानना शास्त्रदृष्ट्या अपरिहार्य नहीं लगता। यह प्रत्यक्ष प्रयोग एवं निरीक्षण से विरूद्ध भी है। श्रीपुरुषोत्तमचरण का प्राप्यप्रकाशकारित्व पर भार देना सर्वथा उचित ही है। यह चक्षुकिरणों की विषयदेश में प्राप्ति की कल्पना पर अवलम्बित करने के बजाय बाह्य आलोककिरणों की चक्षुर्देश में प्राप्तिकल्पना द्वारा अधिक सोपपत्तिक प्रतीत होती है।

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि श्रीपुरुषोत्तमचरण शास्त्रावगाहन तथा आचार्यवाणी के अवगाहन का दशांश भी यदि प्रस्तुत निबन्धकार का होता तो यह अपने-आपको कृतकृत्य मान कर स्वयं को श्रीपुरुषोत्तमचरण के विधानों की आलोचना करने को योग्य अधिकारी मान लेता! यहाँ जो यह विमर्श प्रस्तुत किया गया है वह अपने-आपको इस विषय में अधिकारी होने की अहम्मन्यता के वश नहीं परन्तु स्वयं ग्रन्थकार के "युक्तिसिद्धस्य यस्य कस्यापि आदरणीयत्वात्" (अवता.वादा.अन्धका.वा.) उपदेश और आदेश को हृदयारूढ करके ही। श्रीपुरुषोत्तमचरण प्रस्तुत निबन्धकार के सप्तम पूर्वपुरुष श्रीविट्ठलराय

गोस्वामी के विद्यागुरू हैं, अत: प्रस्तुत निबन्धकार का भी उनके प्रति औपनिषदिक मनोभाव "त्वं हि न: पिता मो अस्मारूम् अविद्यामा: परं पारं तारयसि" अतीव मनोरूढ है। अत: अपने सहज अज्ञानवश इस निरूपण में कोई स्खलन हुआ हो तो श्रीपुरुषोत्तमचरण तथा सभी विद्वज्जनों से हार्दिक क्षमाप्रार्थना प्रार्थित है।



सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ

१. " 'न अर्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तम् अव्यतिरेकात्' बाह्यो विषय: प्रकाश: च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणं, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते। ज्ञानावरणादिक्षयोपसामग्रयाम् आराद् उपकारित्वेन अञ्जनादिवत् चक्षुरूपकारित्वेन च अभ्युपगमात्। कुत:पुन: साक्षात् न कारणत्वम् इति आह 'अव्यतिरेकाद्' व्यतिरेकाभावात्। नहि तद्भावे भावलक्षणो अन्वयएव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम् अपितु तदभावेऽपि अभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि... योगिनां च अतीतानागतार्थग्रहणे किम् अर्थस्य निमित्तत्वं, निमित्तत्वे च अर्थक्रियाकारित्वेन सत्त्वाद् अतीतनागतत्वक्षति: ...'-"सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्त: संयोगादिसम्बन्ध: तर्हि स चक्षुषो अर्थेन सह नास्ति, अप्राप्यकारित्वात् तस्य। दृश्यते हि काचाभ्रस्फटिका- दिव्यवहितस्यापि अर्थस्य चक्षुषा उपलब्धि:, अथ प्राप्यकारि चक्षु: कारणत्वाद् वास्यादिवद् इति ब्रूमे तर्हि अयस्कान्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचार: नच संयुक्तसंयोगादि: सन्निकर्ष: तत्र कल्पयितुं शक्यते, अतिप्रसङ्गात् "" (श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतायां प्रमाणमीमांसायां : १/१/२५-१/१/२९)।

२. "अप्राप्तार्थानि अक्षिमन:श्रोत्राणि, त्रयम् अन्यथा।' यदि अप्राप्तविषयं चक्षु:, कस्माद् न सर्वम् अप्राप्तं पश्यति; दूरं तिरस्कृतं च। कथं तावद् अयस्कान्तो न सर्वम् अप्राप्तम अय: ! प्राप्तविषयेऽपि च एतत् समानं : कस्माद् न सर्वं प्राप्तं पश्यति अञ्जनं शलाकां वा ! यथाच घ्राणादीनां के प्राप्तो विषयो नतु सर्व:, सहभूगन्धाद्यग्रहणाद्, एवं चक्षुषोऽपि अप्राप्त: स्यात् नतु सर्व: " (आचार्यवसुबन्धुकृते अभिधर्मकोशे : १/४३)।

३. "चक्षु:श्रोत्रे प्राप्य स्वविषये कार्यं कुरुतो, जनकत्वे सति तदप्राप्तौ अजनकत्वात्। यद्यद् जनकं सद् यदप्राप्तौ यन्न जनयति तत् तत्प्राप्तावेव तद् तनयति यथा कुम्भजनक: कुम्भकारो मृदोऽप्राप्तौ अकुर्वन् कुम्भं तत्प्राप्तावेव करोति तथाच एतत्" (न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां : १/१/४)

"प्राप्तप्रकाशकं चक्षु: व्यवहितार्थाप्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्" -ननु चक्षुष: तैजसत्वे किं मानम् इति चेत्, तैजसं परकीयस्पर्शाव्यञ्जकत्वे सति परकीयरूपव्यञ्जकत्वात् प्रदीपवद्... अथवा प्रभाया: दृष्टान्तत्वसम्भवाद् आद्यं परकीये' ति न देयम्" (प्रशस्तपादकन्दल्यां : साधर्म्यवैधर्म्यप्रकरणे-न्यायमुक्तावल्यां: कारि. ४२)।

"...बुद्धि:तत्र इन्द्रियाधीना तेन प्रत्यक्षम् अश्नुते। प्रमाणफलभाव यथेष्टं परिकल्प्यतां

सर्वथापि अनिमित्तत्वं विद्यमानोपलम्भनात्। यद्वा इन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वा अर्थेन सङ्गतिः मनसो वा इन्द्रियैः योगे आत्मना सर्वएव वा। तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापारात् च प्रमाणता। व्यापारो न यदा तेषां तदा न उत्पद्यते फलम्। नच सर्वात्मना अक्षेण सम्बन्धो अर्थस्य विद्यते येन सर्वार्थबोधः स्यात् तत्प्रमाणाभिधायिनाम्। प्राप्तिमात्रं हि सम्बन्धो न इन्द्रियस्य अभ्युपेयते, मा भूत कारणमात्रेण त्वचा रूपावधारणम्। यथा प्रमाणनिष्पतौ योग्यत्वाद् इन्द्रियार्थयोः नियता सङ्गतिः हेतुः फलेऽपि एवं भविष्यति। योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवति अन्यतराश्रयो व्यपदेशः" (श्लोकवार्त्तिके प्रत्यक्षसूत्रे : ५८-६५)।

"ननु एवं दूरे अर्थः इति सान्तरालग्रहणं न स्यात्। प्राप्तौ सत्यां दूरत्वासम्भवात् प्राप्यकारित्वात् स्पर्शनवत्। किञ्च संयोगस्य गतिनिबन्धत्वाद् गतिमतां च क्रमणे आसन्नदूरगमनाद् समकालम् आसेदुषां दवीयसां च अर्थानां ग्रहणं न उपपद्यते। उच्यते भोगायतनपेक्षया सान्तरालग्रहणं तावद् उपपन्नम्। समसमयसंवेदने तु केचित् परिहारम् एवं वर्णयन्ति सकलान् अर्थान् प्राप्य युगपदुपस्थितेन बाह्येन तेजसा एकीभूताः ते चाक्षुषाः रश्मयो युगपद् ग्रहणहेतवः इति। तद् अन्ये दूषयन्ति इत्थं प्राप्तौ यौगपद्याभिमानः इति। तद् अपरे न अनुमन्यन्ते ग्रहणं दुर्निवारम्। अन्येतु आहुः क्षेपीयस्तया तेषां रश्मीनां कालभेदानवग्रहाद् यौगपद्याभिमानः इति। तद् अपरे न अनुमन्यन्ते अतिसन्निकृष्टेषु वस्तुषु गतिकालभेदः पद्मपत्रशतभेदवत् मा नाम अवसायि। अनेकयोजनसहस्रान्तरिषु भूमिष्ठेषु अर्थेषु ध्रुवे च सदैव कालभेदानवसायो न बुद्धिम् अनुरञ्जयति। वयन्तु वदामो अदृष्टसापेक्षत्वाद् अदोषः। नयनरश्मिभिः एकीभूतेऽपि बाह्ये तजसि यावानेव तस्य भागो अदृष्टवशेन उपलब्धिहेतुतया उपात्तः तावानेव उपलब्धये प्रभवति न सर्वम् इति।" (प्रकरणपञ्चिकायां : ६/१३४)।

४. द्रष्टव्यं : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८

५. "किम् इदं बाह्येन्द्रियत्वं नाम ? बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यं, बहिर्देशसवस्थायित्वं ... वा स्यात् ? तत्र आद्यविकल्पे मनसा अनेकान्तः, तस्य अप्राप्यकारित्वेऽपि बहिरर्थग्रहणाभिमुख्यतो बाह्येन्द्रियत्वसद्भावात्। द्वितीयविकल्पेऽपि रश्मिरूपस्य गोलकस्वभावस्य वा चक्षुषो बहिर्देशे अवस्थायित्वं स्यात् ? प्रथमपक्षे किमिदं तत्र तस्य अवस्थायित्वम् - आश्रितत्वं प्रकाशकत्वेन प्रवृत्तिः वा ? तत्र आद्यविकल्पे अपसिद्धान्तो, रश्मिरूपस्य चक्षुषो भवता बहिर्देशाश्रितत्वस्य अनभ्युपगमात्, गोलकान्तर्गततेजोद्रव्यश्रया हि रश्मयो भवद्भिः प्रतिज्ञाता। द्वितीयकल्पे तु असिद्धो हेतुः, रश्मिरूपस्य चक्षुषो ग्राहकप्रमाणाभावात: प्रकाशकत्वेनबहिर्देशे तत्प्रवृत्तेः असिद्धेः... गोलकस्वभावस्य तु चक्षुषो बहिर्देशावस्थायित्वे प्रत्यक्षबाधा, अर्थदेशासम्बद्धस्य शरीरप्रदेशएव प्रत्यक्षतः प्रतीतेः... धर्मित्वेन च अत्र उपात्तं चक्षुः गोलकस्वभावं रश्मिरूपं वा ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षविरोधः अर्थेन असम्बद्धस्य अर्थदेशपरिहारेण शरीरप्रदेशएव गोलकस्वभावस्य चक्षुषः प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। अन्यथा तद्रहितत्वेन नयनपक्ष्मप्रदेशस्य उपलम्भः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु धर्मिणो असिद्धिः, रश्मिरूपस्य चक्षुषः कुतश्चित् प्रमाणाद् अप्रसिद्धेः। तत्साधकं हि प्रमाणं प्रत्यक्षम् अनुमानं वा स्यात् ? न तावत् प्रत्यक्षम् , अर्थवत् तत्र तत्स्वरूपाप्रतीतेः न खलु रश्मयः प्रत्यक्षतः प्रतीयन्ते, विप्रतिपत्यभावप्रसंगात्। नहि नीले नीलतया प्रतीयमाने कश्चिद् विप्रतिपद्यते। किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं प्रत्यक्षं भवन्मते नच अर्थदेशे विद्यमानैः तै अपरेन्द्रियस्य

सन्निकर्षो अस्ति, यत:तत्र प्रत्यक्षम् उत्पद्येत अनवस्थाप्रसंगात् अनुमानतोऽपि अतएव ... एतेन यद् उक्तं रश्मिप्रसाधकम् अनुमानं 'रश्मिवत् चक्षु तैजसत्वाद्' इति तत् प्रत्याख्यातं... रश्मिवत्ता गोलकरूपस्य चक्षुष: प्रसाध्यते तद्व्यतिरिक्तस्य वा ? न तावद् व्यतिरिक्तस्य तस्य असिद्धस्वरूपत्वाद् अपसिद्धान्तप्रसंगात् तु तत्साधन पक्षस्य प्रत्यक्षप्रत्यक्षबाधा, प्रभासुरप्रभारहितस्य गोलकस्य प्रत्यक्षत: प्रतीते: अथ अदृश्या: तद्रश्मय: अनद्भुतरूपस्पर्शयवत्वाद् अतो न अस्य प्रत्यक्षबाधा, कथम् एवं रूपप्रकाशकत्वं तस्य स्यात् ? तथाहि चक्षु: रूपप्रकाशकं न भवति अनुद्भूतरूपत्वाद् जलसंयुक्तानलवत् । नच अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजोद्रव्यं क्वचित् प्रतीयते ... अथ मार्जारादिचक्षुषो: प्रत्यक्षत: प्रतीयन्ते तत् कथं तद्विरोध: ? यदि नाम तत्र प्रतीयन्ते अन्यत्र किम् आयातम् ?... यद् रश्मिवत् तद् तदर्थप्रकाशने न आलोकापेक्षं यथा प्रदीप: रश्मिवत् च भवद्भि: अभिप्रेतं चक्षुरिति... यद्यपि 'तैजसत्वाद्' इति साधनम् उक्तं तदपि अयुक्तम् असद्धित्वात् ... अनुमानबाध: च तथाहि चक्षु: तैजसं न भवति भासुररूपोष्णस्पर्शरहितत्वात् । यद्यत् तथाविधं तत्तत् तैजसं न भवति यथा मृत्पिण्डादि: । भासूररूपोष्णस्पर्शरहितं च चक्षु: तस्मात् तैजसं न भवतीति । यथा न तैजसं चक्षु: तम:प्रकाशकत्वात् । यत् पुन: तैजसं न तद् न तम:प्रकाशकं यथा आलोक: । तम:प्रकाशकं च चक्षु: तस्माद् न तैजसम् इति... किञ्च अस्य प्राप्यकारित्वे विषय: चक्षुर्देशम् आगच्छेत् चक्षु: वा विषयदेशम्? तत्र आद्यविकल्पे प्रत्यक्षबाधा... द्वितीयविकल्पेऽपि अध्यक्षविरोधो विषयं प्रति चक्षुषो गमनाप्रतीते:। चक्षु: गत्वा न अर्थेन अभिसम्बद्धचते इन्द्रियत्वात् त्वगादिवद् इति अनुमानविरोध: च। तद्विशेषऽपि दृष्टातिक्रमणे कस्यचित् तत्र गत्वा सम्बन्धाभ्युपगमे यथाप्रतीति: असम्बद्धएव किं न अभ्युपगम्यते? अलं प्रतीत्यपलापेन !... किञ्च चक्षु: गत्वा अर्थं चेद् द्योतयति तर्हि... काचाभ्रपटलस्वच्छोदकस्फटिकाद्यन्तरितार्थानाम् उपलम्भ: स्यात् चक्षुष: तत्र गच्छत: काचाद्यवयविना प्रतिबन्धात् ? अथ काचादिकं भित्त्वा चक्षूरश्मयो अर्थदेशं गच्छन्ति तर्हि तद्व्यवहितार्थोपलम्भसमये काचादे: अनुपलम्भे:... एतेन शाखाचन्द्रमसो: क्रमेण अनुभवेऽपि आशुवृत्त्या उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवद् युगपत्प्रतिपत्त्यभिमानो भ्रान्तिनिबन्धन: इति प्रत्याख्यातम्... शरीरपेक्षया चक्षुर्विषयस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टतोपपत्ते: दूरनिकटादिव्यवहारानुपपत्ते: । तथाहि यद् इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते न तत्र दूरनिकटादिव्यवहारो यथा रसादौ, इन्द्रियसन्निकर्षेण प्रतीयते च चक्षुर्विषय: इति । प्राप्यकारित्वे च चक्षुष: संशयविपर्यासानुपपत्ति:, सामान्यवद् विशेषाणामपि सन्निकृष्टानाम् उपलम्भसम्भवात् । विशेषानुपलब्धिनिमित्तो हि संशयो विपर्यास: च । नच चक्षुषा सन्निकृष्टत्वाविशेषेऽपि सामान्यमेव उपलभ्यते न विशेष: इति अभिधातव्यम्, विशेषाभावात्'' (न्यायकुमुदचन्द्रोदये १प्रत्यक्षपरिच्छेदे लघीयस्त्रये : १/४) ।

६. द्रष्टव्य : स्याद्वादमञ्जर्यां : २८

७. ''सर्वगतं चिदात्मानम् आवृत्त्य स्थिता भावरूपा अविद्या विविधजगदाकारेण विवर्तते तत्र शरीरमध्ये स्थितो 'अन्त:करणा'ख्यो अविद्याविवर्तो धर्माधर्मप्रेरितो नेत्रादिद्वारा निर्गत्य यथोचितं घटादिविषयान् व्याप्य तत्तदाकारो भवति । यथा लोके पूर्णतटाकस्थम् उदकं से‌‌ु .तच्छिद्राद् निर्गत्य कुल्याप्रवाहरूपेण केदारन् प्रविश्य चतुष्कोणत्वेन त्रिकोणत्वेन वर्तुलत्वेन वा

तत्तत्केदारानुसारि अवतिष्ठते तद्वत् । नहि उदकवद् अन्त:करणं परिस्यन्दते येन अतिदूरवर्तिचन्द्रनक्षत्रध्रुवादिप्राप्ति: झटति न सिध्येत् । किन्तर्हि ? सूर्यरश्मिवत् तैजसत्वाद् दीर्घप्रभाकरेण परिणमते । अतएव रश्मिवत् सहसा सङ्कोचोऽपि उपपन्न: । उपपन्नश्च अन्त:करणस्य क्षीरादिवत् सावयवत्वात् परिणाम: तच्च परिणतम् अन्त:करणं देहाभ्यन्तरे घटादौ च सम्यग् व्याप्य देहघटयो: मध्यदेशेऽपि दण्डायमानम् अविच्छिन्नं व्यवतिष्ठते । तत्र देहावच्छिन्नात:करणभागो 'अहंकरा'ख्य: 'कर्ता' इति उच्यते । देहविषयमध्यवर्तिदण्डायमान: तद्भागो 'वृत्तिज्ञाना' भिधा 'क्रिया' इति उच्यते । विषयव्यापक: तद्भागो विषयस्य ज्ञानकर्मत्वसम्पादकम् 'अभिव्यक्तियोग्यम्' इति उच्यते । तस्य त्रिभागस्य अन्त:करणस्य अतिस्वच्छत्वात् चैतन्यं तत्र अभिव्यज्यते । तस्य अभिव्यक्तस्य चैतन्यस्य एकत्वेऽपि अभिव्यञ्जकान्त:करणभेदात् त्रिधा व्यपदेशो भवति : कर्तृभागावच्छिन्न: चिदंश: प्रमाता, क्रियाभागावच्छिन्न: चिदंश: प्रमाणं, विषयगतयोग्यत्वभागावच्छिन्न: चिदंश: प्रमितिरिति प्रमातृप्रमाणप्रमितीनाम् असांकर्यम् ।" (विवरणप्रमेयसंग्रहे : १/११३/ए)

"इन्द्रियाणि पञ्च घ्राणरसनचक्षु: श्रोत्रत्वगात्मकानि सर्वाणि च स्वस्वविषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति । तत्र घ्राणरसनत्वगात्मकानि इन्द्रियाणि स्वस्थानस्थितान्येव गन्धरसस्पर्शोपलम्भान् जनयन्ति । चक्षु:श्रोत्रेतु स्वतएव विषयदेशं गत्वा स्वस्वविषयं गृह्णीत:, श्रोत्रस्यापि चक्षुरादिवत् परिच्छिन्नतया भेर्यादिदेशगमनसम्भावात् ।" (वेदान्तपरिभाषायां :१)

८."किञ्च स्याद् एतद् एवं यदि घटाद्यधिष्ठानचैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं स्यात् तदेव तावद् अनुपपन्नम् । तथाहि चैतन्यस्य घटादिज्ञानत्वं वदन् प्रष्टव्य: : कस्माद् इदम् अनानुभविक कल्प्यते? दृग्दृश्ययो: सम्बन्धन्तरायोगाद् अध्यासरूपसम्बन्धघटनार्थं चेत् तत्र वक्तव्य : अध्याससम्बन्धविधुरा घटवृत्तिरपि घटज्ञानं भवति न वा ? न तावद् द्वितीय: पटवृत्त्यापि घटाज्ञाननिवृत्त्यापातात् । आद्ये कथं तस्य तज्ज्ञानता ? तदाकारत्वाद् इति चेद् न , तथा सति तवापि आवश्यकत्वात् तत्तदाकारतत्तद्वृत्तेरेव तत्तज्ज्ञात्वसम्भवेन अधिष्ठानचैतन्यस्यापि तज्ज्ञानत्वाङ्गीकारवैयर्थ्यापातात् । घटान्तरस्यापि अपरघटीयत्वापातात् च । आकारविशेषरहितरूपसंख्या- सामान्याभावादिज्ञानानां ज्ञानत्वाभावापातात् च । परोक्षज्ञानेन चक्षुरादिकरणस- हकाराभावेन अर्थासम्बद्धान्त:करणस्य तदाकारत्वासम्भवेन परोक्षज्ञानस्य तज्ज्ञानत्वायोगात् च । स्वतो निराकारस्य अन्त:करणस्य कुल्यादिद्वारा बहिर्नि:सृततटाकजलस्य केदारसम्बन्धात् तदाकारइव चक्षुरादिकरणद्वारा बहिर्निर्गतस्य तत्तत्करणसम्बद्धार्थसम्बन्धादेव हि तत्तदाकार:... नहि तटाकान्तर्वर्तिसोपानपरम्परा बाह्यपुरद्वारं जलस्य केदारगमनद्वारं वा किन्तु उभयसम्बन्धिकुल्यैव । तथा अन्त:करणबाह्यपदार्थसम्बद्धचक्षुरादेरेव त्वयापि द्वारतया उक्तत्वात् च ... किञ्च घटाकारवृत्त्या घटाविद्या निवर्ततां कुतो निवर्तेत भिन्नविषयत्वात् ? यदि च सैव वृत्ति: चैतन्यमपि विषयीकरोति इति मतं तर्हि किम् इदं वृत्ते: स्वानध्यस्यतनिराका- रचैतन्यविषयीकरणं नाम? तदुल्लेख: चेत् तर्हि सर्वत्र तेनैव तत्तज्ज्ञानत्वसम्भवेन किम् अनानुभविककाराध्यासकल्पनया ? किञ्च कथम् इदं नीरूपचैतन्यविषयकत्वं चाक्षुषवृत्ते: ? स्वविषयकघटानुस्यूतत्वात् चेत् तर्हि तादृश्यगगनं गुरूत्वं वा कुतो न विषय: ? घटपटसमूहालम्बनज्ञानानुव्यवसायवद् 'घटतदधिष्ठानचैतन्ये अहं जानामि' इति अनुव्यवसायापातात् च..." (श्रीवादिराजयतिकृते विवरणव्रणे : पृ.९०-९१)।

९. ''यदि एवम् इन्द्रियाणि देहान्तःस्थानि तदा कथं चक्षुश्श्रोत्रयोः दूरस्थग्राहकत्वम्... वृत्तिद्वारा सम्बन्धाद्... ननु वृत्तिः यदि स्वरूपं देहपरिच्छिन्नत्वात् न दूरस्थे वृत्तिः, धर्मोऽपि न धर्मिणम् अतिवर्तेत... भूतैः सह इति वा चारैः पश्यन्ति इतिवद् वा... यद्यपि अप्राप्यकारित्वं हैतुकगत्या हठात्कारेण वक्तुं शक्यं, तथापि 'दिवीव चक्षुराततम्' इत्याद्यागमिकव्यवहारस्वारस्यबाधाभावाद् वृत्तिद्वारा प्राप्त्युक्तिः... 'सर्वे प्राणाः अनूत्क्रामन्ति' इति श्रुतेः सङ्कोचकाभावात्... तत्र बाह्यैः एवम् उच्यते 'वृत्तिप्रसरणे क्रमयौगपद्यविकल्पायोगाद् दूरस्थाविषया प्राप्तिः न भवतीत्यतो यद् रूपग्राहकम् इन्द्रियं तद् अप्राप्यग्राहि यथा मनः' इति। तत्र तावत् प्रत्यनुमानम् आह - प्राप्यग्राहि इन्द्रियत्वाद् विमतम् इतरवत् प्राप्तिः उक्तप्रकारा वत्तिं दृष्टेः न रुन्धे विरलपटनयाद् अम्बुकाचादिः अच्छो नोचेद् गृह्येत योग्यं सममिह निखिलं निष्फले छादकादौ स्थैर्ये तद्योग्यभावो नहि गलति समा सन्ततिः त्वन्मतेऽपि। अतिप्रसंगो असम्बद्धग्रहणे स्यात् स्मं तु इदं सम्बद्धग्रहणेऽपीति न सद् योग्यान्वितग्रहाद्। गृहीतस्य इष्यते कश्चित् सम्बन्धो अव्यभिचारतो न सम्बन्धस्य सर्वस्य ग्रहणं व्यभिचारतः... ननु उन्मिषितमात्रं चक्षुः चन्द्रं गमयति। नच एकस्मिन् क्षणे तावान् देशो वृत्त्या लंघयितुं क्षमः। क्रमेतु प्रतिपरमाण्ववच्छेदं विलम्ब्य गतानात् प्रतीतिरपि विलम्बेत। दूरासन्नग्रहणकालतारतम्यं च स्यात्। मैवं, उदत्येव सवितरि सकलदिग्व्यापिन्यां प्रभायामिव इन्द्रियवृत्तेः तादृशवेगातिशयस्य अविस्मयनीयता पद्मपत्रशतवेधनीत्या यौगपद्याभिमानोपपत्तेः... यत्तु कैश्चिद् उच्यते निष्कान्तमात्रमेव चाक्षुषं तेजो बाह्येन बहुदेशव्यापिना चन्द्रसूर्यादिज्योतिषा संवलितं तावत् प्रथिमानम् अवयविनम् आरभते तेनच सम्बन्धाद् उन्मिषितस्य दूरस्थग्रहणं दूरासन्नयोः युगपद्ग्रहणं च सिद्ध्येद् इति तद् अयुक्तं निष्क्रमणकल्पनस्य गुरुत्वाद् अनिष्क्रान्तमेव किं न अवयविनम् आरभेत आन्तरनिष्क्रमणवद् बाह्यप्रवेशोपपत्तेः। अपिच अस्मिन् पक्षे त्रिभुवनविवरव्यापिना तेजसा सह चाक्षुषतेजस्संवलनात् तेन सम्बद्धं सर्वे युगपद् भासेत पश्चादभागादिस्थितं च....'' (तत्त्वमुक्ताकलापसर्वार्थसिद्धौ : १/४०)।

१०.''द्विविधानि इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियणि कर्मेन्द्रियाणि च... बुद्धेः इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियाणि। किं पुनः एतानि बुद्धेः इति ? उच्यते-शब्दादिविषयप्रतिपत्तौ द्वारम्। कस्मात् ? अबहिर्वृत्तित्वात्। अन्तःकरणस्य नास्ति बहिर्वृत्तिः इत्यतो न अलम् एतत् साक्षात् शब्दादीन् अर्थात् प्रतिपत्तुम। तस्मात् श्रोत्रादिलक्षणं साक्षाद् बाह्यविषयप्रकाशनसमर्थं कारणान्तरम् अपेक्षते। तत्प्रणालिकया तस्य विषयग्रहणम्। तस्माद् युक्तम् उक्तं बुद्धेः बाह्यविषयकप्रतिपतौ द्वारभूतत्वाद् बुद्धीन्द्रियाणि इति... 'रूपादिषु पञ्चानाम् आलोचनमात्रम् इष्यते वृत्तिः' 'आलोचनं'-ग्रहणम् इति अनर्थान्तरम्... तत्तु ग्रहणरूपं नतु प्रकाशकं प्रदीपवद् इत्यत्र को हेतुः इति ? उच्यते न कारणान्तरप्रसंगात्। यदि प्रदीपवद् इन्द्रियं प्रकाशकं स्यात् तेन तथा प्रकाशितेषु घटादिषु इत्यत्र को कारणान्तरमार्गणमेव अत्रापि स्यात्... तस्माद् युक्तम् एतद् ग्राहकम् इन्द्रियं नतु प्रदीपवत् प्रकाशकम् इति... ग्रहणप्रकाशानाम् इदानीं को भेदः ? उच्यते- विषयसम्पर्कात् ताद्रूप्यापत्तिः इन्द्रियवृत्तिः ग्रहणम् तथा विषयेन्द्रियवृत्त्यनुकारेण निश्चयो 'गौः अयं शुक्लो धावति' इत्येवमादिः प्रत्ययः। तथा विषयसम्पर्कापगमे श्रोत्रादिवृत्तेः ताद्रूप्यापगमो वर्तमानकालता ग्रहणस्य अनुभवात्तु संस्काराधानं तत्पुर्विका च स्मृतिः इति त्रिकालविषया प्रत्यक्षस्य इति अयम् अनयोः विशेषः। बाह्यस्तु प्रकाशो न विषयस्पापन्नः संस्कारात्तु घटादीनां व्यवधानरूपं पार्थिव

छायालक्षणं धर्मम् अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय'' (श्रीभोजराजकृतायां युक्तिदीपिकायां : ३/२६-२८)।

११. ''इच्छारूपं हि मनो व्यापार: तस्य भवति सङ्कल्पो बुद्धचक्षाणि श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा च नासा च... ग्राह्यास्तेषां शब्द: स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्च... शब्दादीनां ग्रहणं व्यापार: कीर्तित: क्रमाद् एषाम्... शब्द: आदि: येषां ते शब्दादय: तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषाम् इन्द्रियाणां व्यापार: उक्त: तत्त्वज्ञै: इति अर्थ:'' (श्रीभोजराजकृते तत्त्वप्रकाशे : ४/७-९)

१२. ''ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्त्वात् क्रियाशक्ति: अहंकार: समुत्पन्न:। सच त्रिविध:। उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत, क्रिया हि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती... 'वैकारिक:'=सात्विक: 'तैजसो' =राजसतामस: च... यत: त्रिविधाद् मनस: इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भव: । 'महतां' =तन्मात्राणामपि... बुद्धे: उत्पत्तिम् आह 'तैजसात्तु' इति... 'विकुर्वाणाद्'=राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत... 'सति'=विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धि: उत्पद्यतइति ... यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनस: तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धे: बुद्धयेव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च। अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययो: तारतम्यम्। एतत् कार्यानुसरि लक्षणं 'द्रव्यस्फुरणविज्ञानम्'इति स्वरूपलक्षणम् । द्रव्यस्य घटादे: स्फुरेण सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानं, यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्। स्वत:स्फुरणं भवति अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धे: लक्षणम् । 'तैजसानि' इति ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्विकानि क्रियाकरणकानि तामसानि वा... क्रियाणां प्राणो मूलं ज्ञाने बुद्धि:...बुद्धि: राजसीति तदनुगृहीतानि इन्द्रियाणि सर्वाणि राजसान्येव... प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहक:... रूपस्य लक्षणम् आह 'द्रव्याकृतित्वम्' इति। द्रव्यस्य घटादे: या आकृति: सैव रूपस्य पृथुबुध्नोदराकारं रूपमपि आतानवितानात्मकंच। द्रव्यस्येव आकृतिरिति द्रव्यस्यतु न उपमेयत्वम् । अतो रूपस्यैव लक्षणम् । 'गुणता'=सर्वदा उपसर्जनतया प्रतीति: । न एवं शब्दादिषु स्वतन्त्रतयापि प्रतीयमानत्वात् व्यक्ते: संस्थैव संस्था यस्य, यदि व्यक्ति: वक्रा भवेद् रूपमपि वक्रं भवेदिति। उपविष्टे रूपवति रूपम् उपविष्टे भवति... 'तेजसश्च तेजस्त्वं' रूपतन्मात्रत्वं सूक्ष्मावस्था इति अर्थ: 'तेजोगुणविशेषो'अर्थो यस्य तत् चक्षु: उच्यते'...=तेजोगुणविशेषो रूपम्'' (श्रीवल्लभाचार्यकृतायां भागगवतसुबोधिन्यां : ३/२६/२३-४८)

१३. ''यदा विषयेन्द्रियसंयोगात् निर्विकल्पकं तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे: वृत्ति: तया इन्द्रियानुग्रहे, अननुग्रहेतु न। वृत्त्यन्तरेण पूर्ववृत्ते: नाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेण अवस्थानं, तस्य उद्बोधकै: उद्बोधे मायोपस्थापित-मायिकार्थ-सहकृता स्मृति:, राजसै: रागादिभि: संस्कारप्राबल्ये मायया विषयावरणपूर्वकं मायिकपदार्थसहितस्य ज्ञानस्य गोलकाग्रभागे क्षेपे भ्रम:... अत: बुद्धिगुणजन्या तदवस्था वृत्ति: सा यदा अनुगृह्णाति तदा वक्ष्यमाणप्रक्रियया सविकल्पकं ज्ञानं जन्येत...तत्र अयं क्रमो : दैवानुकूल्येन अन्तर्यामिणा मन: कार्यार्थं प्रेर्यते, तत् च इन्द्रियप्रेरणाय तत्तदिन्द्रियेण संयुज्यते। तत्र तत्तदिन्द्रियदेवतानुकूल्ये विषयसंसृष्टै: इन्द्रियै: स्वावच्छिन्ने मनसि पूर्वं निर्विकल्पकम् उत्पाद्यते। तदा इन्द्रियदेशे बुद्धे: वृत्ति: ततो बुद्ध्यापि वृत्तिद्वारा तदनुग्रहे सविकल्पकं भवति... चाक्षुषेतु नयनकिरणा: विषयपर्यन्तं गच्छन्ति, इन्द्रियान्तरेतु किरणाभावाद् इन्द्रियेण

सह विषयं मन: प्राप्नोति तदा, क्रमेण सहैव वा, निर्विकल्पकं च तत्तदिन्द्रियसंसृष्टे मनसि उत्पद्यते। ज्ञानद्वयेऽपि विषयेन्द्रियस्पर्शादिकं व्यापार... नच नयनकिरणाङ्गीकारे चाक्षुषो व्यापकत्वापत्त्या 'अणव: च' (ब्र.सू.२/४/७) इति सूत्रविरोध: शङ्कनीय:, अर्चीरूपाणां किरणानां सूर्यमण्डलाद् भेदस्य 'आदित्यो वा एष:' (महाना.उप.१२/२) इति अनुवाके श्रावणात् तै: अखिलमेरूत्तरदेशदेशान् व्याप्नुवानस्य आदित्यमण्डलस्य दशसहस्रयोजनपरिमाणस्मरणेन तेषां तत्परिणामाबाधकत्ववत्। सूर्याध्यात्मिकचक्षुष: किरणानामपि तथात्वेन सूत्राविरोधात्... 'गुणाद् वा आलोकवद्' (ब्र.सू.२/३/२५) इति सूत्रे आलोकस्य गुणत्वाङ्गीकारात् तैजस्य चक्षुष: आलोकस्पगुणव्याप्त्यङ्गीकारेऽपि अदोष:... या पुन: आलोकेन मायाकार्यतमोजनन- प्रतिबन्धे कृते ज्योतीरूपसूर्यदेवतया अण्वात्त्मकचक्षुषि सन्मुखाव्यवहित-देशस्य-पृथुबुध्नोदराकारे विशिष्टरूपे प्रापिते सत्त्वप्रधानबुद्धे: अन्तरेव तदाकारतासम्पतौ अणुरूपं जीवं प्रति ज्ञानाश्रिताध्यात्मिकगन्धशब्दाभिव्यक्तिरेव घ्राणजं श्रावणं च प्रत्यक्षमिति आध्यात्मिकाधिभौतिकयो: अभेदात् न बाह्यघटाग्रहणनिबन्धनो दोष। इति केषाञ्चित्प्रत्यक्षप्रक्रिया। तत्र अलोकेन तमोजननप्रतिबन्धकथनम् अयुक्तं, 'यथाहि भानो: उदयो नृचक्षुषां तमो निहन्याद्' (भाग.पुरा.११/२८/३४) इति एकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्ये तमोनिहन्तृत्वकथनात्। एवं ज्योतिरूपसूर्यदेवताया: पुरुषचक्षुषि विषयनिष्ठरूपप्रापकत्वकथनमपि तथा, बहुषु पशयत्सु तान्-तान् प्रति रुपे प्रापिते विषयस्य नीरूपताप्रसङ्गेन पाश्चात्यानां तददर्शनप्रसङ्गात्... सन्ध्यायाम् अस्तंगते सूर्ये रूपप्रापकदेवताया: गतत्वात् तदानीं घटाद्यदर्शनापत्ते: च... अतो 'नेतृत्वं द्रव्यशब्दयो:' (भाग.पुरा.३/२६/३७) इतिवद् आदित्यरश्मीनां रूपप्रापकत्वस्य अशब्दगोचरत्वात् सूर्यदेवताया: रूपप्रापकत्वाङ्गीकार: सर्वथा न युक्त:। किञ्च चक्षुषि रूपप्राप्तिश्च प्रतिबिम्बभवनरूपैव, सातु मायया 'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत' (भाग.पुरा.२/९/३३) इति वाक्यात्, तस्या: विक्षेपकत्वात् च। एवञ्च बुद्ध्याकारसमसमर्पकत्वपि प्रतिबिम्बस्यैव। आध्यत्मिकरूपमपि मायामयं मनोमयत्वात्। तस्यच न सत्यता- अर्थक्रियाकारित्वमात्रम्।" (प्रस्थानरत्नाकरीयप्रत्यक्षप्रमाकरणप्रकरणे)।

6.

व्याकरण दर्शन में
इन्द्रियों का अनादि योग्यतापरक अप्राप्यकारित्व

मुरलीमनोहर पाठक

इन्द्रियप्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व की समस्या भारतीय प्रमाणमीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। प्राय: सभी दर्शन किसी न किसी रूप में इस प्रकरण पर अपने विचार रखते हैं। इन्द्रियाँ अपने विषय को प्राप्त कर तत्तद् प्रत्यक्ष की जनक होती हैं। यही प्राप्यकारिता का सिद्धान्त है। जो दर्शन इसे नहीं मानते हैं, वे इसके विपरीत अप्राप्यकारिता का पक्ष प्रस्तुत करते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की धारणा का मूल बिन्दु प्राप्यकारितावाद है, क्योंकि इन्द्रिय का अर्थ या विषय के साथ सन्निकर्ष तभी हो सकता है, जब इन्द्रिय और प्रत्यक्षयोग्य विषय या वस्तु परस्पर प्राप्त या सम्पृक्त हों। वैसे दर्शन जो किसी भी रूप में सन्निकर्ष को स्वीकार करते हैं, वे प्राप्यकारिता की प्रतिष्ठा अपनी-अपनी दृष्टि से अवश्य करते हैं। मीमांसाद्वय भी इसी वर्ग में आते हैं। रत्नप्रभ के अनुसार न्याय वैशेषिक, मीमांसा तथा सांख्य के आचार्य सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक चक्षु और श्रोत्र को अप्राप्यकारी तथा शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। जैन दार्शनिक नेत्र को छोड़कर शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी तथा नेत्र को अप्राप्यकारी मानते हैं। उनके कथन इस प्रकार हैं - 'प्राप्यकारीणिन्द्रियाणि:... इति काणादाक्षपादमीमांसक सांख्या: समाख्यान्ति।

चक्षुःश्रोत्रेतराणि तानि तथेति ताथागताः । चक्षुर्वर्जानीति तु तथा स्याद्वादावदातहृदयाः।'[1]

व्याकरणदर्शन भी चिन्तन की एक विशिष्ट एवं स्वतन्त्र प्रणाली होने के कारण प्रस्तुत विषय पर अपना स्वतन्त्र पक्ष प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्राप्यकारित्व पर विचार करने के पूर्व तदनुसार इन्द्रियों के स्वरूप पर विचार करना अपेक्षित है। यह दर्शन ज्ञान के साक्षात् साधन के रूप में इन्द्रियों को स्वीकार नहीं करता है तथा शरीर के अवयवरूप अधिष्ठानों से पृथक् उनकी भौतिक या आहंकारिक सत्ता को भी अमान्य करता है। न्याय आदि के समान यहाँ कार्यद्रव्यों के भेद के रूप में इन्द्रियों को स्वीकृत नहीं किया गया है। वे भौतिक शरीर के अंगरूप में द्वारमात्र हैं, जिनसे होकर विषयाकार मन में प्रवेश करता है। इस तथ्य को पतञ्जलि, भर्तृहरि, नागेश भट्ट इत्यादि आचार्यों ने सुस्पष्ट किया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि इन्द्रियों को जड़ीकृत मानते हैं। वे कहते हैं - 'यत् तत् स्नेहेन मधुरेण च जड़ीकृतानामिन्द्रियाणां स्वस्मिन्नात्मनि व्यवस्थापनं स रागस्तद् व्यञ्जनम्।[2]

तात्पर्य यह है कि चिकने एवं मधुर पदार्थों द्वारा जड़ीभूत इन्द्रियों की जड़ता का निराकरण करके उन्हें अपने स्वरूप में व्यवस्थित किया जाता है। यह स्निग्ध एवं मधुर पदार्थ राग या व्यञ्जन कहा जाता है। उद्योतकार नागेश भट्ट के अनुसार उसी राग की व्यञ्जनकत्वशक्ति से इन्द्रिय में रहने वाले रसादि की अभिव्यक्ति होती है।[3]

आचार्य भर्तृहरि भी इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

'इन्द्रियस्यैव संस्कारः समाधानाञ्जनादिभः।
विषयस्य तु संस्कारस्तद्गन्धप्रतिपत्तये ॥'[4]

भावार्थ यह है कि चित्त की एकाग्रता रूपी समाधान तथा अञ्जनादि द्रव्य अथवा उपनेत्र द्वारा चक्षुरिन्द्रिय का ही संस्कार (प्रत्यक्षणीय पदार्थ का ग्रहण करने की योग्यता) किया जाता है, जिससे विषय की बाह्यविषयाकारता स्पष्ट हो सके, किन्तु गन्ध-ग्रहण करने के लिए विषय (पृथ्वी) में संस्कार करते हैं। अर्थात् तप्त पृथ्वी का गन्ध जानने के लिए उसपर जल गिराकर उसका ही संस्कार किया जाता है, न कि घ्राणेन्द्रिय का। यहाँ भी कारकता मन से युक्त इन्द्रिय में ही आती है, बाह्य विषय उद्दीपनमात्र है। वस्तुतः वैयाकरण शब्द के उत्पत्तिवाद को अस्वीकार कर अभिव्यक्तिवाद की स्थापना करते हैं। ये अभिव्यक्तिवादी शब्द को नित्य मानते हुए श्रोत्राकाश में व्यञ्जना स्वीकार करते हैं। भर्तृहरि ने इस विषय में तीन मतों का प्रतिपादन किया है -

इन्द्रियस्यैव संस्कार: शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्ति वादिनाम् ॥[५]

तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्तिवादियों के प्रथम मतानुसार ध्वनियों द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय का, द्वितीय मतानुसार शब्द का तथा तृतीय मतानुसार दोनों का संस्कार किया जाता है। प्रथम दो मतों का उपपादन भर्तृहरि ने पूर्वोद्धृत (१.७९) कारिका में किया है। तीसरे मत का उपन्यास करते हुए वे कहते हैं -

चक्षुष: प्राप्यकारित्वे तेजसा तु द्वयोरपि।
विषयेन्द्रिययोरिष्ट: संस्कार:स क्रमो ध्वने: ॥[६]

इस कारिका का भावार्थ यह है कि जो लोग इन्द्रिय को प्राप्यकारी मानते हैं, उनके अनुसार प्रकाश द्वारा विषय तथा इन्द्रिय दोनों का ही संस्कार किया जाता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय विषय (घट) के समीप जाकर उसका ग्रहण करता है, किन्तु अन्धकार में पड़े हुए घट का प्रत्यक्ष तब होता है, जब दीपक की सहायता मिलती है। इससे यही सिद्ध होता है कि दीपक विषय (घट) और चक्षुरिन्द्रिय दोनों में संस्कार करता है। वह विषय से अन्धकार निवृत्ति और नेत्र में ज्योति का वृद्धिरूप संस्कार करता है। इसी प्रकार ध्वनि भी विषय-शब्द तथा श्रोत्रेन्द्रिय दोनों में ही कोई अतीन्द्रिय संस्कार करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि अभिव्यक्तिवादियों के तीसरे मत के प्रतिपादन के समय स्वयं भी आपातत: इन्द्रिय को प्राप्यकारी मानने के पक्ष में हैं, किन्तु उनका वास्तविक मन्तव्य इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानना ही है। वे कहते हैं -

नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरियाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ॥[७]

तात्पर्य यह है कि किसी वाक्य के उच्चारण के समय जब तक अन्तिम वर्ण उच्चारित नहीं होता है, तब तक वाक्यार्थबोध नहीं हो सकता, किन्तु अन्तिम वर्ण का उच्चारण होने तक पूर्व-पूर्व ध्वनियों का अदर्शन हो जाता है। अत: शब्द का अवधारण करने के लिए यह मानना पड़ता है कि नाद अर्थात् पूर्व-पूर्व ध्वनि से बुद्धि में एक भावना बीज उत्पन्न होता है, उससे एक प्रकार का परिपाक अर्थात् कार्यजनन शक्ति विशेष भी उत्पन्न होता है। इसी प्रकार द्वितीय एवं तृतीय ध्वनि से भी भावना बीज और परिपाक की उत्पत्ति होती है, फिर संस्कार के उद्बुद्ध होने पर अन्त:करण में अन्तिम ध्वनि के अवधारणा के साथ ही साथ शब्द का भी अवधारण हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्णो के अवधारणकाल में भी पूर्व-पूर्व वर्णों की स्मृति के उपलब्धिकाल में पूर्व-पूर्व ध्वनियाँ स्मृति में बनी रहती हैं। इस कारण बुद्धि अन्तिम वर्ण के विषय में

प्रत्यक्ष एवं पूर्व-पूर्व वर्णों के विषय में स्मृतिरूप होती है। अतः प्रत्यक्षस्मरणात्मक चित्ररूपा बुद्धि से 'गौः' इस प्रकार का गकार, औकार और विसर्ग से विलक्षण शब्दान्तर का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस रीति से श्रोत्रेन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अन्य इन्द्रियों के विषय में भी व्याकरण दर्शन की यही धारणा है, क्योंकि इन्द्रिय द्वारा बुद्धि में आया हुआ अर्थ या विषय ही ज्ञेय बनता है और बुद्धि तदाकारता प्राप्त करती है। नागेश भट्ट ने भी ऐसा ही प्रतिपादन किया है-

चित्तस्य विषयाकारपरिणामरूपा वृत्तिश्चेन्द्रियेण सहैव, अतएव रसनेन्द्रियगतपित्तान्वयेन गुडः कटुरिति, नयनगत्पित्तान्वयेन च शङ्खः पीत इत्याद्युपपद्यते।[८]

तात्पर्य यह है कि चित्त की विषयाकार परिणामरूपा वृत्ति इन्द्रिय के साथ ही कार्य करने में समर्थ होती है। इसलिए रसनेन्द्रियगत पित्त के अन्वय से गुड़ की कटुता और नयनगत पित्त के अन्वय से शंख की पीतिमा के आभास का उत्पादन होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भ्रम भी वृत्ति का ही कार्य है, इन्द्रिय केवल सहकारी के रूप में है। नागेश इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

सा च भ्रमप्रमोभयरूपा पुरुषे प्रतिबिम्बत इति पुंसो विद्यमान-वृत्तिग्राहकत्वम्। प्रतिबिम्बे ऽत्र बुद्धेः परिणामविशेष एव,न त्वादर्शादाविव प्रतिबिम्बः, उभयोरपि नीरूपत्वादान्तरत्वाच्च।[९]

अर्थात् वही वृत्ति भ्रम एवं प्रमा दोनों ही रूपों में पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। इसी से पुरुष की वर्तमान वृत्ति की ग्राहकता सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि इस वृत्ति के माध्यम से ही पुरुष विषयाकार को ग्रहण करता है। इस दशा में अतीत तथा अनागत और असत् कहे जाने वाले विषय भी वृत्ति रूप से सत् एवं वर्तमान जैसे भास देने लगते हैं। यहाँ प्रतिबिम्ब का तात्पर्य बुद्धि के परिणामविशेष से है, दर्पणादि में होने वाला प्रतिबिम्ब नहीं है, क्योंकि बुद्धि एवं प्रतिबिम्ब दोनों ही प्रकृत सन्दर्भ में नीरूप एवं आन्तरिक हैं, बाह्य विषय उपकारकमात्र है। वस्तुतः वस्तुजगत् बुद्धिगत रहते हुए ही तत्काल आकार ग्रहण करता है। इस प्रकार का बोध इन्द्रियों का कार्य नहीं है, बुद्धि का कार्य है। इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि का मन्तव्य निम्नानुसार है -

मनसा प्रयुक्तानीन्द्रियाणि उपलब्धौ कारणानि भवन्ति, मनसोऽसान्निध्याद् नोपलभते।[१०]

तात्पर्य यह है कि मन के द्वारा प्रयुक्त इन्द्रिय ही उपलब्धि के कारण बनते हैं, किन्तु मन का सन्निधान न होने पर प्रमाता विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता।

मन का असन्निधान विषयान्तर द्वारा मन के आकृष्ट कर लिए जाने से अथवा मद इत्यादि द्वारा मन्द होने से घटित होता है, जैसा कि प्रदीपकार कैयट कहते हैं - विषयान्तरेणाकृष्टत्वान्मदाद्यभिभवाद् वा ।[११]

वैयाकरणों के मतानुसार मन ही प्रेरक माना गया है तथा इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। ये मन को इन्द्रिय नहीं मानते हैं। उद्योतकार नागेश भट्ट का स्पष्टीकरण द्रष्टव्य हैं -

यद्यपि पातञ्जलानामन्त:करणं व्यापकं तथापि तत्परिणाम विशेषो मनश्चिरस्थायि मध्यम परिमाणसंकोचविकासशालि ज्ञानकारणमिति भाव:। अतएव सदा न ज्ञानयौगपद्यं कदाचिद् यौगपद्यमपीति दिक्।[१२]

भावार्थ यह है कि यद्यपि वैयाकरणों के अनुसार अन्त:करण स्वरूपत: व्यापक है, तथापि प्रत्यक्ष के समय उसी का परिणामविशेष विषयाकार मन चिरकाल तक स्थित रहते हुए मध्यमपरिणामवाला तथा संकोचविकासशील होता हुआ ज्ञान का कारण बनता है। इसीलिए सदा एक साथ अनेक ज्ञान नहीं होते तथा कदाचित् विभिन्न ज्ञानों का यौगपद्य भी हो जाता है। ऐसा तब होता है, जब व्यापक मन एक साथ अनेक विषयों का आकारपरिणाम ग्रहण कर लेता है। इस दशा में भी व्यापक होने के कारण वह प्राप्यकारी नहीं हो सकता। वस्तुत: ज्ञान इन्द्रियों का कार्य नहीं है। इसे स्पष्ट करते हुए महाभाष्यकार का मन्तव्य है - इह हि किञ्चिदिन्द्रियकर्म किञ्चद् बुद्धिकर्म। इन्द्रियकर्म समासादनम्, बुद्धिकर्म व्यवसाय:।[१३]

अर्थात् ज्ञानप्राप्ति की स्थिति में कुछ कर्म इन्द्रियों के हैं तथा कुछ बुद्धि के हैं। इन्द्रियों का कार्य समासादन है और बुद्धि का व्यवसाय या निश्चय। समासादन अनागत का होता है तथा व्यवसाय में सदैव वर्तमान काल की सम्प्रतिसत्ता बनी रहती है। भूत तथा भविष्यत् भी वर्तमान आकार लेकर ही अतीतादि की कल्पना में उतरते हैं। इसे महाभाष्यकार ने बड़े सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है - योऽयमध्वा गन्तव्य आ पाटलिपुत्रात्, एतस्मिन् कूपो भविष्यति.... इति, समासाद्य कूपोऽस्तीति, समासाद्यातिक्रम्य कूपोऽभूदिति।.... तद् यदेन्द्रियकर्म तदैता विभक्तय:, यदा हि बुद्धिकर्म तदा वर्तमानता भविष्यति।[१४]

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय की सापेक्षता से अतीत तथा अनागत नामक बुद्धिविपरिणाम होते हैं। बुद्धि वर्तमान आकार को सदा निश्चय रूप में लेती है। बुद्धि में वर्तमान की सम्प्रतिसत्ता के आधार पर ही अतीत और अनागत की व्यवस्था हो पाती है। जैसे-'पाटलीपुत्र तक जाने वाले मार्ग में कूप होगा' यह भविष्यत्प्रयोग समासादन से पूर्व अनागत, समासादन करने पर 'कूप है' प्रयोग

अतीत तथा अनागत के मध्य में स्थित वर्तमान का अर्थ देने वाला है तथा समासादन करके उसका अतिक्रमण कर लेने पर 'कूप था' प्रयोग समासादन की सापेक्षता में अतीत है, किन्तु बुद्धि में वह भी वर्तमान निश्चय का विषय रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्रिय के समासादन कर्म की दशा में सदा वर्तमानता बनी रहती है। यहाँ इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता का तात्पर्य यही है कि उनके द्वारा कालविभाग बनता है तथा निश्चयात्मक बोध बुद्धि का कर्म है, जिसमें तीनों कालों की वर्तमानता प्रतिष्ठित है। बुद्धि द्वारा वही निश्चित होता है, जो आकार मन द्वारा उस तक इन्द्रियरूप द्वार से पहुँचाया जाता है। भर्तृहरि भी निश्चयात्मक बोध को बुद्धि का ही कर्म मानते हैं -

सतामिन्द्रियसम्बन्धात् सैव सत्ता विशिष्यते।
भेदेन व्यवहारो किं वस्त्वन्तर निबन्धनः ॥
अस्तित्वं वस्तुमात्रस्य बुद्धया तु परिगृह्यते।
यः समासादनाद्भेदः स तत्र न विवक्षितः ॥[१५]

अर्थात् सम्प्रतिसत्ता एक ही है जो 'सत्'- विद्यमान वस्तु के इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर अतीत तथा अनागत के रूप में विशिष्ट आकार ग्रहण करती है, क्योंकि भेदपूर्वक सत्ता का व्यवहार वस्तु का इन्द्रियसम्बन्ध होने पर ही होता है। वस्तुमात्र का अस्तित्व सदैव वर्तमानरूप से बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है तथा व्यवसायात्मक बोध में समासादन की अपेक्षा होने वाला भेद शब्द के अभिधेय का भाग नहीं बनता। भाव यह है कि 'कूप था' तथा 'कूप होगा' जैसे प्रयोग समासादन के पूर्व तथा पश्चात् की वस्तु का अस्तित्व बताते हैं, वस्तुतन्त्र अस्तित्व बुद्धि में अभिन्न रहता है, किन्तु अन्तःकरण वस्तु का आकार लेकर जब बुद्धि को प्रस्तुत करता है तथा बुद्धिगत आकार बाह्याकार से अभेद लेते हुए इन्द्रियों से समासादन द्वारा प्रभावित हो जाता है, तब सदा वर्तमान सत्ता अतीतानागत भाव से अनुरञ्जन प्राप्त कर व्यवहार में आती है। भर्तृहरि ने उक्त कारिका में इन्द्रियसम्बन्ध का प्रयोग समासादन के अर्थ में किया है। यहाँ इसका तात्पर्य सन्निकर्ष न होकर वस्तुरूप के अन्तःप्रवेश से है। बौद्ध नैयायिकों की सारूप्य की धारण इससे मिलती-जुलती प्रतीत होती है। व्याकरण दर्शन में भौतिक शरीरावयवरूप गोलक से भिन्न रूप में इन्द्रियों की मान्यता न होने के कारण सन्निकर्ष की व्यवस्था नहीं है। यहाँ भौतिक इन्द्रिय द्वारमात्र हैं। विषयाकार मन के साथ उनका सम्बन्ध ही इन्द्रियसम्बन्ध है। इसीलिए नागेश श्रोत्र और शब्द दोनों का ही विषय-देश में गमन अमान्य करते हुए कहते हैं -

आकाशदेशत्वे च तद्वदेव तस्यापि व्यापकत्वेन श्रोत्रदेशेऽभिव्यक्तस्य तेन ग्रहः।[१६]

अर्थात् आकाश, आकाशरूप श्रोत्र तथा आकाशस्य शब्द इन तीनों के ही व्यापक होने से श्रोत्र में अभिव्यक्त शब्द का आकाश द्वारा ग्रहण होता है। अत: इस मत में प्राप्यकारित्व मान्य नहीं की जा सकती है, क्योंकि विषय तथा करण दोनों ही व्यापक हैं। यहाँ चक्षु आदि के समान श्रोत्र को भी भौतिक ही माना गया है। नागेश के अनुसार -

चक्षुरादिवच्छोत्रस्यापि भूतत्वमावश्यकम्। .... दिशोऽनतिरिक्तमेव चाकाशम्। ...... आहंकारिकाणीन्द्रियाणीति सांख्यमतेऽपि इन्द्रियाणां स्वाधिष्ठानभूतवृत्तिगुणग्राहकत्वम्।[१७]

चक्षु इत्यादि के समान ही श्रोत्र को भी भौतिक मानना आवश्यक है। आकाश दिक् से अतिरिक्त नहीं है, दोनों एक ही हैं। इस प्रकार श्रोत्र द्वारा दिग्देश का ज्ञान भी हो जाता है। इन्द्रियों को आहंकारिक मानने वाले सांख्यमत में भी यही स्वीकार करना पड़ेगा कि इन्द्रियों के अधिष्ठानरूप भूतों में रहने वाले गुणों का इन्द्रियों द्वारा ही ग्रहण किया जाता है।

इन्द्रियों को व्याकरण में भौतिक मानने का आशय न्याय आदि दर्शनों के आशय से भिन्न है। यहाँ इन्द्रियगत भूतगुण की व्यञ्जना विषयाकार मन से होती है और उसकी बुद्धिविपरिणामरूपी तदाकरता चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती है। इसीलिए उद्योतकार ने कहा है -

तादृशसंस्कार विशिष्टान्त:करण संयुक्तेन तादृशसंस्कारविशिष्टेन श्रोत्रेण .... स्फोटरूपपटादिप्रत्यक्षम्।[१८]

अर्थात् विषयसंस्कार से विशिष्ट अन्त:करण से संयुक्त उसी प्रकार के विषयसंस्कार से विशिष्ट श्रोत्र द्वारा स्फोटशब्द का प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुत: इन्द्रियों के भौतिक होने से वे रूपादिसंस्कार विशिष्ट होते हैं। उस भूतविशेष का रूप विशेष ही इन्द्रिय है। मनोरूप अन्त:करण भी विषयाकार होकर उन संस्कारों से विशिष्ट हो जाता है। दोनों के संस्कार एकीभूत रूप से बुद्धि में प्रतिबिम्बरूप वृत्तिपरिणाम घटित करते हैं। इन्द्रियों की गति विषय तक नहीं होती और विषय भी इन्द्रियों को नहीं प्राप्त करते हैं, किन्तु वे इन्द्रिय में स्वयं रहते हैं, जो मानस विषयाकार के साथ कार्यकारी होते हैं।

इस प्रकार व्याकरण दर्शन में ज्ञान-हेतु बुद्धिविपरिणाम को स्वीकार किया गया है। इसे समझना आवश्यक है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसे एक बड़े ही सुन्दर उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है-

तद् यथा कश्चित् कस्मैचिदुपदिशति-प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धि: प्रसक्ता। तत: पश्चादाह ये क्षीरिणोऽवरोहवन्त: पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्धया न्याग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स तत: पश्यति बुद्धया

आम्रांश्चा-पकृष्यमाणान् न्याग्रोधांश्चोपधीयमानान्। नित्या एव च स्वस्मिन् विषये आम्रा नित्याश्च न्यग्रोधा:। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते।[19]

अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि गाँव के पूर्व आम्रवृक्ष हैं, तब उसकी सर्वत्र आम्रबुद्धि बन जाती है। फिर वही व्यक्ति उससे कहता है कि जो वृक्ष दूधवाले, चौड़े पत्तों तथा जटा वाले हैं, वे न्यग्रोध या वट हैं। अब वह व्यक्ति आम्रबुद्धि से न्यग्रोधबुद्धि प्राप्त करता है। वह बुद्धि द्वारा देखता है कि आम्र हट रहे हैं और वटवृक्ष स्थापित किए जा रहे हैं। अपने-अपने स्थान पर दोनों ही प्रकार के वृक्ष स्थिर हैं, केवल व्यक्ति की बुद्धि का विपरिणाम होता है। वैयाकरणों का यह बुद्धिविपरिणाम योगदर्शन के चित्तविपरिणाम के तुल्य माना जा सकता है। श्रोता का शब्दसम्प्रत्यय भी बुद्धिविपरिणाम से पृथक् नहीं है। इस तथ्य को भर्तृहरि ने और अधिक सुस्पष्ट किया है।[20] शब्दसम्प्रत्यय के समान ही अर्थबोध भी विविध संस्काररूप बुद्धिविपरिणामों द्वारा घटित होता है। भर्तृहरि कहते हैं -

अनुस्यूतेव संसृष्टैदर्थे बुद्धि: प्रवर्तते।
व्याख्यातारो विभज्यार्थं तां भेदेन प्रचक्षते॥[21]

तात्पर्य यह है कि अन्त:करण वृत्ति बाह्यार्थनिरपेक्ष रहकर अर्थों का बोध कराती है, जिसमें शब्द परस्पर संसर्गी होते हैं। उनसे अनुस्यूत होकर बुद्धि अर्थ में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार एकीभूत वाक्य, जो एकीभूत वाक्यार्थ देता है, उसे व्याख्याता लोग विभक्त कर बुद्धिभेद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुत: सभी अर्थ स्वरूपत: अभिन्न रहते हैं, तथापि बुद्धिभेद से विशेषण और विशेष्य में भेद जैसा प्रतीत होता है। भाव यह है कि स्वरूपभेद न होने पर भी शब्दों और अर्थों में भेदकल्पना बुद्धि का विपरिणाम है।[22] अपृथग्भूत शब्द और अर्थ ज्ञानात्मा के स्वरूप में स्थित रहते हैं तथा पृथग्भाव का विपरिणाम लेकर शब्द, अर्थ तथा उभयत्र भेद के सम्प्रत्यय का कारण बनते हैं। दोनों ही बुद्धि के विपरिणाम हैं। यह भी ध्यातव्य है कि शब्द का वाच्यार्थ बाह्य न होकर आन्तरिक बुद्धिविपरिणामरूप ही होता है। इसी तथ्य को नागेश इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं -

अर्थश्च बौद्ध एव ज्ञानविषय: शक्तिग्रहविषयश्च।

ज्ञानं च वृत्तिरूपं बुद्धिधर्म एवेति। एकदेशस्थत्वात् तेषामितरेतराध्यास:।[23]

अर्थात् बुद्धिगत अर्थ ही ज्ञान और शक्तिग्रह का विषय बनता है। वृत्तिरूप ज्ञान भी बुद्धि का ही धर्म है। शब्द, अर्थ तथा ज्ञान में तीनों एक ही बुद्धिदेश में रहने के कारण परस्पर अध्यस्त हो जाते हैं, जिससे शब्द, अर्थ तथा ज्ञान-इन तीनों को ही 'घट' कहा जाता है। यही नहीं, पुरुष स्वयं भी वृत्ति में आकार लेकर स्वचैतन्यगत प्रतिबिम्बाकार लेने से 'अहम्' प्रत्यय का भागी बनता है।[24] तात्पर्य यह है कि 'ज्ञाता' का स्वरूप भी बुद्धिविपरिणाम से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार

बाह्य वस्तु को मुख्य शब्दार्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि बुद्धिवृत्ति से बाहर अर्थ शाब्दबोध का विषय हो ही नहीं सकता। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है -

यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः ।
स बाह्यं वस्त्वति ज्ञातः शब्दार्थः सम्यगिष्यते ॥[२५]

तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षादिविषयरूप बाह्यवस्तु का कारणभूत जो अर्थ बुद्धि का विषय बनता है, वह जब शब्द द्वारा बोधित होकर पुनः बाह्यवस्तु का संवाद लेता है, तब उसे सम्यग्ज्ञान या प्रमा कहते हैं। वस्तुतः रज्जु को प्रत्यक्ष देखने के बाद जब बुद्धि में उसका आकार स्थिर हो जाता है और शब्द द्वारा पुनः निक्षिप्त होता है, तब रज्जुज्ञान प्रमा है। इसके विपरीत सर्वज्ञान अप्रमा है, क्योंकि प्रक्षेपकाल में वह बाह्य संवादशून्य हो जाता है।

काव्यबोध के प्रसङ्ग में भी बुद्धिविपरिणाम द्वारा कथानक में आये पात्रों का प्रत्यक्षवत् अनुभव होता है। भर्तृहरि कहते हैं -

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥[२६]

अर्थात् शब्दों की उपाधि से उपहित रूपवाले कंस इत्यादि पात्र बुद्धि का विषय बनकर प्रत्यक्ष के समान विविध क्रियाओं के कारक बनते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्याकरण दर्शन के अनुसार बुद्धिपरिणाम के अतिरिक्त कोई इन्द्रियार्थसन्निकर्ष किसी बाह्य विषय के साथ नहीं होता। अतः यहाँ इन्द्रिय अप्राप्यकारी ही सिद्ध होते हैं। इन्द्रिय द्वारा विषय का प्रवेश होने पर बुद्धि जो तदाकार परिणामरूप प्रतिबिम्ब बनाती है, उसी का ज्ञाता पुरुष है। बाह्य विषय उद्बोधक मात्र होते हैं। अतः वैयाकरण शब्द प्रत्यक्ष के विषय में उपलब्धि और निर्ग्रहण का प्रयोग करते हैं। महाभाष्यकार ने इसे इन शब्दों में व्यक्त किया है -

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्य: प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।[२७]

अर्थात् आकाशदेश में स्थित शब्द की उपलब्धि श्रोत्र से होती है, वह बुद्धि द्वारा निर्ग्राह्य होकर ध्वनिप्रयोग से व्यञ्जित होता है। शब्दप्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रत्यक्षमात्र का स्वरूप निर्धारित करते हुए नागेश कहते हैं -

चित्तस्य द्रव्यरूपो वृत्त्याख्यः परिणामः इन्द्रियप्रणाल्या निर्गत्य विषयेण संयुज्य सूक्ष्मावस्थारूपविषयवासनावशात् तत्तद्विषयाकारेण परिणमते ।[२८]

तात्पर्य यह है कि चित्त की वृत्ति ही द्रव्यरूप परिणाम है, जो इन्द्रियप्रणाली से निकलकर बाह्यविषय से संयुक्त होकर सूक्ष्म वासना की सहायता से तत्तद् विषयों के आकार के रूप में परिणाम प्राप्त करती है। साररूप में कहा जा सकता है कि इन्द्रियप्रणाली द्वारा प्रविष्ट वासनोद्दीपक रूप विषय का बुद्धि में

जो परिणाम घटित होता है, वही प्रत्यक्ष हैं। इस प्रकार व्याकरण दर्शन में इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व अस्वीकृत है। सभी इन्द्रियाँ नियम से अप्राप्यकारी होकर संज्ञानोत्पादन में द्वारिभाव पूर्वक अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करती हैं। प्रत्येक इन्द्रियों का अपने-अपने विषय के प्रति द्वारिभाव उनकी अनादि स्वरूप योग्यता के रूप में मान्य की गई है।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. रत्नाकरावतारिका, २.५ (प्रमाणनयतत्त्वालोक की टीका), रत्नप्रभकृता। प्रकाशक-भारतीय संस्कृति विद्यापीठ, अहमदाबाद-१९६८.
२. महाभाष्य - अष्टाध्यायी ८.२.४९.
३. जिह्वायस जड़ीभावनिराकरणेन रसो व्यञ्जते। वही, उद्योत।
४. वाक्यपदीय - १.७९.
५. वही, १.७८.
६. वही, १.८०.
७. वही, १.८४.
८. लघुमञ्जूषा - पृ. २९८.
९. वही, पृ. २९८.
१०. महाभाष्य - अष्टाध्यायी, ३.२.११५.
११. वही, प्रदीप
१२. वही, उद्योत.
१३. महाभाष्य, अष्टाध्यायी ३.३.१३३.
१४. वही.
१५. वाक्यपदीय - ३.९.११३.
१६. महाभाष्य- १.१.२.१ पर उद्योत।
१७. वही, उद्योत।
१८. वही, उद्योत।
१९. महाभाष्य - अष्टाध्यायी, १.१.५५, वार्त्तिक-१४.
२०. द्रष्टव्य, वाक्यपदीय -१.८४.
२१. वही, ३.१४.९४.
२२. तदात्मन्यविभक्ते च बुद्ध्यन्तरमुपाश्रितः। विभागमिव मन्यन्ते विशेषणविशेष्ययोः॥ वही, ३.१४.९५.
२३. लघुमञ्जुषा-पृ. ३६४.
२४. पुरुषोऽपि वृत्त्यारूढः पुरुषे प्रतिबिम्बत इति अहमिति ज्ञानोपपत्तिः। वही, पृ. ३०९.
२५. वाक्यपदीय - २.१३४.
२६. वही, ३.७.५.
२७. महाभाष्य (नवाह्निक), १.१.२.१.
२८. लघुमञ्जूषा - पृ. २११.

7.

बौद्ध दर्शन में
इन्द्रियों का योग्यतामूलक सम्प्राप्त-असम्प्राप्त-ग्राहित्व

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय दर्शन में इन्द्रियों की संज्ञानात्मक प्रस्थिति एवं भूमिका पर बहुत गम्भीरता से विचार-विमर्श हुआ है। मुख्य रूप से यह विचार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के उपपादन में ज्ञानेन्द्रियों की कार्यप्रणाली को लेकर किया गया है। इन्द्रियों की संख्या और उनके विषयों में न्यूनाधिक मतैक्य होते हुए भी एक प्रश्न जो सर्वाधिक विवादास्पद रहा है वह यह कि इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी[1] होती हैं अथवा अप्राप्यप्रकाशकारी ? प्राप्तप्रकाशकारित्व का साधारण तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से सम्बद्ध होकर उन-उन विषयों के ज्ञान की उपपादिका होती हैं। इसके विपरीत अप्राप्तप्रकाशकारित्व का तात्पर्य यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों से सम्बद्ध हुए बिना ही उनके ज्ञान का उपपादन करने में समर्थ होती हैं। वैसे दार्शनिक सम्प्रदाय जो प्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं, उन्हें इन्द्रिय और अर्थ के मध्य विभिन्न प्रकार के सन्निकर्षों[2] की संकल्पना करनी पड़ती है। परन्तु कुछ ऐसे भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जो इन्द्रिय एवं अर्थ के मध्य किसी प्रकार का सन्निकर्ष (भौतिक और बाह्य अर्थ में) नहीं मानते और इस तरह अप्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं।

इस अवधारणा के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली को समझने की चेष्टा

प्रारम्भ से ही की गई है। उपनिषदों में इन्द्रियों को 'पराञ्चिरवानि'[३] कहा गया है। इसीतरह कई औपनिषद् उपाख्यानों में इन्द्रियों के बलाबल का निर्धारण मन और आत्मा के सन्दर्भ में किया गया है। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का विचार सर्वप्रथम व्यक्त रूप से न्यायसूत्र[४] में प्राप्त होता है जबकि कुमारिल[५] प्राप्यकारित्व के प्रबल पक्षधर होने का श्रेय सांख्यवादियों को देते हैं। गौतम के न्यायसूत्र का काल यदि पहली शताब्दी के आसपास मानें तो उसी समय के लगभग जैन दर्शन के प्रज्ञापना[६] सूत्र में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता की चर्चा स्पष्ट रूप से मिलती है। वैसे ही बौद्ध दर्शन की पाली परम्परा में परमत्थदिपनी[७], अठ्ठसालिनी[८], विभाषा[९], इत्यादि ग्रन्थों में भी इन्द्रियों के सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व की चर्चा बहुत गहराई से की गई है।

इसके बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों के बीच इस समस्या पर पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के रूप में संसदीय वाद-विवाद दिङ्नागोत्तर काल में प्रारम्भ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समस्या को भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन के एक महत्त्वपूर्ण 'प्रकरण' के रूप में स्थापित करने में दिङ्नाग की उपष्टम्भक भूमिका रही है। दिङ्नाग द्वारा इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का प्रबल विरोध और कुछ इन्द्रियों को अकाट्य तर्कों से अप्राप्यकारी सिद्ध किये जाने से "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न" प्रत्यक्ष की उपजीव्यता ही संकटापन्न हो गई थी। अवान्तर रूप से इसका दुष्प्रभाव आस्तिक दर्शनों के कुछ अन्य आधारभूत ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों, जैसे ज्ञानोत्पत्ति विषयक कारक सिद्धान्त, उसमें घटित होने वाली वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध की अवधारणा और प्रमाण-प्रमाणफल में भेद की संकल्पना पर पड़ना स्वाभाविक ही था। अतएव दिङ्नागोत्तर काल में इस समस्या के प्रति प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदायों में एक विशेष जागरूकता दिखाई पड़ती है। परिणामस्वरूप एक ओर जहाँ न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, सांख्य एवं वेदान्ती इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व नियम को सिद्ध करने में एकजुट हो गये, वहीं वैयाकरण एवं बौद्ध दार्शनिकों ने अप्राप्यकारित्व का मार्ग अपना लिया। जैन दार्शनिक अपने स्वभाव के अनुरूप बीच का रास्ता अपनाते हैं और कुछेक इन्द्रियों को अप्राप्यकारी और अधिकांश को प्राप्यकारी मानते हैं। अंतिम विश्लेषण में न्याय सभी इन्द्रियों को नियम से प्राप्यकारी सिद्ध करता है। मीमांसक, वेदान्ती एवं सांख्य इत्यादि दर्शन किंचित् साम्प्रदायिक भेद के साथ न्याय दर्शन की उपस्थापना को ही सम्पुष्ट करते हैं। इसके विपरीत व्याकरण दर्शन में सभी इन्द्रियों को नियम से अप्राप्यकारी बताने का प्रयास किया गया है। बौद्ध दर्शन चक्षु, श्रोत्र और मन को अप्राप्यकारी मानता है तो जैन दार्शनिक केवल चक्षु को अप्राप्यकारी और शेष इन्द्रियों को प्राप्यकारी सिद्ध करते हैं।

अब इन्द्रियाँ चाहे प्राप्तप्रकाशकारी हों अथवा अप्राप्तप्रकाशकारी, इतना तो निर्विवाद है कि इन्द्रियों के द्वारा उनके विषय वेद्य होते हैं और कोई भी विषय इन्द्रियवेद्य हुए बिना प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यदि विषयों का प्रत्यक्षकोटिक ज्ञान न हो तो प्रत्यक्ष की उपजीव्यता पूर्वक प्रत्यक्षेतर प्रमाणों का अवतरण और उनके द्वारा ज्ञापित वस्तुओं में ऐन्द्रिय आकारों का रूपायन सम्भव नहीं हो सकेगा। अनुमानादि प्रमाणों के प्रति प्रत्यक्ष की उपजीव्यता तो सुतरां स्पष्ट है लेकिन शब्द प्रमाण को भी इससे निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द प्रमाण भी वास्तव में 'परार्थ प्रत्यक्ष' ही होता है। यहाँ तक कि अनुमान को छोड़कर अन्य सभी प्रमाण परार्थ होकर शब्द प्रमाण में ही रूपान्तरित हो जाते हैं, केवल अनुमान ही परार्थ होकर भी परार्थानुमान ही बना रहता है। अत: यह प्रश्न आधारभूत रूप में उपस्थित होता है कि यदि प्रत्यक्ष प्रमाण मौलिक है और उसकी मौलिकता इन्द्रियवेद्य होने में निहित है तो इन्द्रियवेद्यत्व का निहितार्थ क्या है ? भारतीय दर्शन में पदार्थों के इन्द्रियवेद्यत्व को विभिन्न तरीके से निरूपित किया गया है और इस सन्दर्भ में इस बात को देखा जाना रोचक हो सकता है कि प्रत्यक्ष विषयक व्याख्या के वैकल्पिक दृष्टिकोण किस प्रकार आविर्भूत होते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि इन्द्रियवेद्यत्व के लिए विषय और इन्द्रिय के बीच दो द्रव्यों की तरह संयोग रूपा प्रत्यासत्ति स्वीकार की जाय अथवा वर्णाकृति और दर्पणादि उपाधि की तरह बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूपा प्रत्यासत्ति मान्य की जाय। पुन: सादृश्य दर्शनोद्‌बुद्ध संस्कार और स्मृति की तरह उद्दीपक-उद्दीप्य भाव मानी जाय अथवा गन्ध स्पर्शादि और त्वचानासिकादि इन्द्रिय की तरह ग्राह्य-ग्राहक भाव प्रत्यासत्ति को स्वीकार किया जाय या फिर घट तथा प्रदीपादि की तरह प्रकाश्य-प्रकाशक भावरूपा प्रत्यासत्ति को मान्य किया जाय। वस्तुत: इन्द्रियवेद्यत्व के उपर्युक्त सभी विकल्प किसी न किसी रूप में अनुप्रयुक्त होते ही हैं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों के स्वरूप में और साथ ही साथ उनकी योग्यता में इतना भेद है कि इन्द्रियवेद्यत्व के किसी एक प्रारूप का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। द्रष्टव्य है कि इन्द्रियों के स्वरूप एवं योग्यता के इसी भेद की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष के कारणात्मक पक्ष एवं उसके प्रामाण्य से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों यथा- इन्द्रिय कारणता, सन्निकर्ष कारणता, सामग्री कारणता, ज्ञातृव्यापार कारणता, इन्द्रियवृत्ति कारणता, अन्त:करण वृत्ति कारणता एवं सारूप्य कारणता इत्यादि का निर्धारण किया जाता है।

भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में इन्द्रियों के प्राप्यप्रकाशकारित्व एवं अप्राप्यप्रकाशकारित्व का विचार इन्द्रियवेद्यत्व के उपर्युक्त रेखांकित सभी विकल्पों को ध्यान में रखकर नहीं किया गया है बल्कि अधिकांश में इस समस्या

पर 'संयोगरूपाप्रत्यासत्ति' को ही सन्दर्भ बनाकर विचार किया जाता है। अतएव प्राप्यकारिता और अप्राप्यकारिता की समस्या मूलभूत रूप से, प्रकृत प्रसंग में, सन्निकर्ष की अवधारणा से सम्बन्धित प्रतीत होती है। इसे इन्द्रियार्थ सन्निकर्षवाद के दो परस्पर विरोधी पक्षों के रूप में समझा जा सकता है। इन्द्रियप्राप्यकारित्व की अवधारणा जहाँ सन्निकर्षवाद का समर्थन करती है वहीं इन्द्रिय- अप्राप्यकारित्व का अभ्युपगम सन्निकर्षवाद का बिल्कुल विरोधी पक्ष है। परन्तु यह कोई जरूरी नहीं है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न मानने पर इन्द्रियवेद्यत्व के विचार का पर्यवसान आत्यन्तिक रूप से इन्द्रियों की अप्राप्यप्रकाशकारिता में ही हो। यह संभव है कि इन्द्रिय और अर्थ के मध्य घटित सन्निकर्ष को नहीं मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भी तत्तद् इन्द्रियों की योग्यता विषयक भेद को ध्यान में रखते हुए विषयीभावापन्न इन्द्रियों की सम्प्राप्तग्राहिता एवं असम्प्राप्तग्राहिता का विचार करें।

अवधेय है कि इन्द्रियों के सन्निकर्षमूलक सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व प्रकृति के निर्धारण में इस बात का भी निर्णायक प्रभाव पड़ता है कि भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में इन्द्रियों के स्वरूप को किस प्रकार अवधारित किया गया है। चूँकि इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पत्ति में सहयोगी होती हैं, अत: सहयोग की प्रकृति का सहयोगी के स्वरूप से निर्धारित होना स्वाभाविक ही है। द्रष्टव्य है कि सम्प्राप्तग्राहिता एवं असम्प्राप्तग्राहिता को सिद्ध करने के लिए युक्तियों एवं दृष्टान्तों का विन्यास तत्तद् दर्शनों के द्वारा मान्य इन्द्रियों के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही किया गया प्रतीत होता है। सांख्यमत के अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार तत्त्व से मानी गई है।[१०] अतएव इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं। चूँकि अहंकार तत्त्व विभु और व्यापक है, इसलिए इन्द्रियों द्वारा महत् और अणु दोनों का ग्रहण हो पाता है। साथ ही साथ कांच, अभ्र इत्यादि चक्षुरिन्द्रिय के लिए व्यवधान नहीं बन पाते। इन्द्रियों को भौतिक मानने पर ऐसे तथ्यों की व्याख्या और उनकी प्राप्यकारिता दुष्कर हो जायेगी। न्यायमत में इन्द्रियों के स्वरूप को भौतिक रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि उनकी उत्पत्ति पंचभूतों से होती है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि शरीरस्थ इन्द्रिय गोलकों को ही इन्द्रियों का स्वरूप मान लिया जाये। न्याय दर्शन अपने अन्तिम विश्लेषण में गोलक स्थित भूत विशेष को शक्तिमत् रूप से इन्द्रिय स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए शरीर स्थित काली पुतली ही आँख नहीं अपितु उसको आश्रय करके विद्यमान तैजश रश्मि रूप शक्ति विशेष ही चक्षु है। ऐसे ही सभी इन्द्रियों को समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त न्यायाभिमत में इन्द्रियों को ''शरीर संयुक्त ज्ञानकरणमतीन्द्रियं, इन्द्रियम्'' स्वीकार

किया गया है।[11] बौद्ध दर्शन भी इन्द्रियों के स्वरूप को (विज्ञानवाद को छोड़कर) भौतिक ही मानता है। उसके अनुसार इन्द्रियों की उत्पत्ति रूप-धर्म के जिस अंश से होती है, वह रूप-प्रसाद कहलाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और मणिप्रभा के समान प्रदीप्त होता है। इसलिए इन्द्रियाँ परभासक और स्वसामर्थ्य के अनुरूप विशेषता के कारण अपने-अपने रूप-रसादि विषयों का प्रतिभास ग्रहण करती हैं।

इन्द्रियों के स्वरूप विषयक मतवैभिन्न्य के साथ ही ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियों के विकारित्व और अविकारित्व का प्रश्न भी प्रकृत प्रसंग में विचारणीय हो जाता है। इस सन्दर्भ में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है वह यह कि इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पत्ति में करण की भूमिका का निर्वाह करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट करती हैं अथवा नहीं ? दूसरे शब्दों में जहाँ 'शब्द' ज्ञान का कारण होता है वहाँ शब्द ज्ञान को उत्पन्न करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट भी करता है। परन्तु इन्द्रियों के साथ भी क्या ऐसा ही है ? यह प्रश्न प्रमाणमीमांसीय विचार-सरणी की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है लेकिन इसके निहितार्थों को पूरे तौर से परखा नहीं जा सका है। भर्तृहरि के टीकाकार हेलाराज[12] की टिप्पणी इस सम्बन्ध में बहुत ध्यानाकर्षी है कि ज्ञान के कारणों में कुछ का स्वभाव ही ऐसा है कि वे ज्ञान को उत्पन्न करते हुए स्वयं को ज्ञान में निविष्ट नहीं करते। ऐसा स्वभाव ज्ञान की कारण-सामग्री में 'इन्द्रियों' का होता है। वास्तव में इन्द्रियों के इसी स्वभाव में उनके विषयीभावापन्न तटस्थ भूमिका और प्रस्थिति का सही दिग्दर्शन किया जा सकता है और यह उनका विलक्षण स्वभाव है जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद के विरोधी पक्ष को मौलिक रूप से उपस्थापित करता हुआ प्रतीत होता है।

इस प्रकार भारतीय प्रमाणमीमांसीय चिन्तन में प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्ववाद सम्बन्धी विचार के दो परस्पर विरोधी पक्ष आधारभूत रूप में सामने आते हैं। इसमें पहले को इन्द्रियार्थसन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद का पक्ष और दूसरे को इन्द्रिय स्वरूपयोग्यता मूलक प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व के पक्ष से अभिहित किया जा सकता है। यहाँ हम दोनों पक्षों पर विचार न करते हुए केवल बौद्ध दृष्टि से दूसरे पक्ष को सम्यक्तया उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

बौद्ध दर्शन में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके स्वरूप पर सूक्ष्म एवं व्यवस्थित तरीके से विचार यद्यपि प्रथमतया अभिधार्मिक परम्परा में किया गया है तथापि उनके एतद्विषयक विचार का सम्प्लव बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदायों तक भी यत्किंचित्-भेद के साथ देखा जा सकता है। अभिधार्मिकों का मूलभूत उद्देश्य इस संसार में चेतना की लोकप्रवृत्ति को समझकर चेतना की

लोकनिवृत्ति के सूत्रों को खोजना था। इसीलिए अभिधर्म की व्याख्या 'प्रज्ञाऽमलासानुचराभिधर्म:' के रूप में की गई है। चित्त की लोक प्रवृत्ति अर्थात् विषयोन्मुखता को संवेद की प्रक्रिया के माध्यम से ही समझा जा सकता है। संवेद की प्रक्रिया और उसके विभिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल किये बिना हम चित्त के लोकप्रवर्तन को पुंखानुपुंख समझ ही नहीं सकते हैं। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अभिधार्मिक बौद्ध 'धर्म-प्रविचय' (धर्मों को अलग-अलग चुनना) की विभज्यवादी योजना के साथ प्रस्तुत होते हैं। बसुबन्धु ने प्रविचित धर्मों को "अवबोधोपयोगिन: पदार्था:" कहा है। 'अवबोधोपयोगिन:' पदार्थों में इन्द्रियों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इन्द्रियाँ ही वे आयतन अर्थात् द्वार हैं जिनके माध्यम से चित्त की लोक में प्रवृत्ति होती है। बुद्ध का वचन है- "चक्षुर्ब्राह्मण द्वारं यावदेव रूपाणां दर्शनाय।" इसीलिए इन्द्रियों को परम, ईश्वर, अधिपति, अध्यक्ष इत्यादि संज्ञा से अभिहित किया गया है।[१३] अभिधर्म सूत्रों में इन्द्रियों के २२ प्रकार परिगणित किये गये हैं लेकिन उनमें ज्ञानेन्द्रियों की अधिक प्रधानता है। एतदर्थ इन्हें षड़ायतन कहा गया है। ये छहों इन्द्रियाँ छ: प्रकार के विज्ञानों को उत्पन्न करने वाली और उनके आश्रयभूत हैं तथा अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप विषयों एवं विषय प्ररिमाण का ग्रहण करती हैं। इसमें घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय सम्प्राप्त और तुल्य परिमाण वाले विषय को ग्रहण करते हैं। चक्षु, श्रोत्र और मन (बुद्धेन्द्रिय) के लिए सम और विषम परिणाम का कोई नियम नहीं, लेकिन तीनों असम्प्राप्तग्राही होते हैं।[१४]

असम्प्राप्तग्राही और सम्प्राप्तग्राही का साधारण अर्थ दूरी से ग्रहण और आसन्न के ग्रहण से लिया जाता है लेकिन बौद्ध परम्परा में इन दोनों पदों का पारिभाषिक अर्थ कुछ गम्भीर है।[१५] चक्षु एवं श्रोत्र को जब सम्प्राप्तग्राही कहा जाता है तो इसका तात्पर्य यह है कि दोनों अप्राप्त अर्थात् अघट्टित आलम्बन का ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में चार कारणों का सन्निपात अथवा स्पर्श अपेक्षित होता है। यथा- चक्षु प्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार। यदि चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में रूपालम्बन चक्षु:प्रसाद में घट्टित होकर रहेगा तो दोनों के मध्य 'आलोक' की स्थिति नहीं होगी और रूपालम्बन का ग्रहण नहीं हो सकेगा। अत: चक्षुर्विज्ञान का आश्रय चक्षु:प्रसाद विषय से घट्टित न होकर अर्थात् अप्राप्तरूपालम्बन का ग्रहण करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार श्रोत्र विज्ञान की उत्पत्ति के लिए भी श्रोत्रप्रसाद, शब्दालम्बन, आकाश और मनसिकार नामक चार कारण अपेक्षित होते हैं। यदि शब्दालम्बन श्रोत्र प्रसाद में घट्टित होकर रहेगा तो मध्य में आकाश के लिए अवकाश नहीं होगा। अत: शब्दालम्बन के श्रोत्र प्रसाद में घट्टित न होने

पर ही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अप्राप्त रूप से शब्दालम्बन का ग्रहण होता है। यहाँ अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में रूपदर्शन के लिए 'आलोक' और शब्द ग्रहण के लिए आकाश को सहकारी कारण माना गया है, जो वास्तव में 'माध्यम' का काम करते हैं। अत: माध्यम का योग और अयोग ही असम्प्राप्तग्राहित्व का अन्वय-व्यतिरेक हेतु बनता है।

इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय सम्प्राप्तग्राही होते हैं तो उसका तात्पर्य यह है कि ये तीनों अपने-अपने प्रसाद में घट्टित आलम्बन का ही ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। इन तीनों के द्वारा जिस-जिस विज्ञान की उत्पत्ति होती है उसके लिए भी आलम्बन, इन्द्रिय, सहकारी और मनसिकार रूप चतुर्विध हेतुओं की अपेक्षा होती है लेकिन प्रत्येक इन्द्रियों के आश्रय में उत्पन्न होने वाले विज्ञान का सहकारी भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरण के लिए कायविज्ञान की उत्पत्ति में पृथ्वी धातु, जिह्वा विज्ञान की उत्पत्ति में अप्धातु और घ्राण विज्ञान की उत्पत्ति में वायुधातु की सहकारिता होती है। अत: काय, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय के आलम्बन जब उन-उन इन्द्रिय प्रसादों में घट्टित होते हैं तभी तत्तद् सहकारी कारणों का योग होता है। एतदर्थ इन तीनों इन्द्रियों को सम्प्राप्तग्राही कहा गया है। यहाँ भी सहकारी कारण रूप 'माध्यम' का योगायोग ही सम्प्राप्तग्राहित्व का अन्वय-व्यतिरेक हेतु बनता है।

संभवत: इन्द्रियों की कार्यप्रणाली और उनके द्वारा विषय-ग्रहण की प्रक्रिया में सहकारी कारण रूप से ''माध्यम'' का विचार अभिधार्मिक परम्परा में पहली बार किया गया प्रतीत होता है जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में इन्द्रियों की कार्यप्रणाली में जो विविधता और विलक्षणता दिखाई पड़ती है, उसे तत्तद् इन्द्रियों की प्रकृति, उनके माध्यम और ग्राह्य-विषय के 'आन्तर-सम्बन्ध' के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए अभिधार्मिक परम्परा में आलम्बनों की प्रकृति पर भी गम्भीरता से विचार किया गया है। उदाहरण के लिए कुछ रूपालम्बन अचल होते हैं जैसे गृह, पर्वत इत्यादि। कुछ रूपालम्बन सचल होते हैं, जैसे सूर्य, चन्द्र, तारा एवं मणिप्रभा इत्यादि। उसी प्रकार शब्दालम्बनों एवं घ्राणालम्बन भी सचल होकर यथाशक्ति अपनी महाभूत परम्परा को बाहर फैलाते हैं। यहाँ एक प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि जब कुछ एक रूप-शब्द-घ्राणादि के आलम्बन सचल होते हैं और अपने-अपने माध्यम से अपनी भूत-परम्परा का प्रसार करते हैं तो इनका ग्रहण तभी होना चाहिए जब तत्तद् इन्द्रिय प्रसाद में उनका संघट्टन हो जाय। ऐसा होने से उनका सम्प्राप्त ग्रहण ही मानना चाहिए, असम्प्राप्त नहीं, जबकि रूप-शब्दादि सचल आलम्बनों को भी एकान्तिक रूप से असम्प्राप्त-ग्राह्य और

सचल घ्राणालम्बन को सम्प्राप्तग्राह्य माना गया है। इसका उत्तर इस रूप में दिया जाता है कि वस्तुत: सम्प्राप्तग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व के निर्धारण में तत्तद् इन्द्रियों की प्रकृति ही साधकतम होती है। यद्यपि रूप-शब्दादि के सचल आलम्बन प्रसारित होते हुए चक्षु:प्रसाद और श्रोत्रप्रसाद तक पहुँचते हैं, लेकिन वे पहुँचने से पहले ही असम्प्राप्त रूप से गृहीत हो जाते हैं। यथा - चन्द्रमा की किरणें और दूर स्थित दीपक का प्रकाश। परन्तु सचल घ्राणालम्बन के साथ वैसा नहीं होता। सुगन्ध इत्यादि का ग्रहण सदैव सम्प्राप्त रूप में ही होता है।[१६]

इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करते हुए घ्राण, जिह्वा और कायेन्द्रिय की कार्यप्रणाली का निर्धारण अपेक्षाकृत सुवच होता है लेकिन चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय की कार्यप्रणाली के निर्धारण कतिपय सन्दर्भों में बहुत जटिल हो जाते हैं। साधारण विचार-सरणी में ऐसे प्रश्न उठने लगते हैं कि इन्द्रियाँ अपने गोलक से निकलकर विषय प्रदेश में जाती हैं और विषय का संस्कार ग्रहण कर लौटती हैं अथवा विषय ही इन्द्रिय प्रसाद तक आकर इन्द्रियों को प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रश्न प्राय: चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय की कार्यप्रणाली पर उठाये जाते हैं। अतएव पाली परम्परा के कई एक गाथाओं में चक्षु: और श्रोत्रेन्द्रिय की असम्प्राप्तग्राहिता को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न युक्तियों का संग्रह किया गया है। उनमें से चक्षु: की अप्राप्यकारिता विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ इस प्रकार हैं -

चक्खुसोतं पनेतेसु होता सम्पत्तगाहकं।
विञ्ञाणुप्पत्तिहेतुत्ता सन्तराधिक गोचरे॥
तथा हि दूरदेसट्ठं फलिकादितिरोहितं।
महन्तं च नगादीनं वण्णं चक्खु उदेक्खति॥[१७]

१. दूरदेसट्ठं - सूर्य और चन्द्रमा इस पृथ्वीमण्डल से हजारों योजन दूर होते हैं। तब भी पृथ्वीतल से सूर्य एवं चन्द्रमण्डल के संस्थान दिखाई पड़ते हैं। चन्द्रमण्डल का काला धब्बा स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अन्धेरे कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति भी बाहर सूर्य एवं चन्द्रमा तथा दूर स्थित दीपक इत्यादि के प्रकाश को देख पाता है, जहाँ उनकी रौशनी नहीं पहुँचती है। अत: चक्षु द्वारा दूर स्थित रूपालम्बनों का ग्रहण इस तथ्य को सिद्ध करता है कि चक्षुरिन्द्रिय असम्प्राप्तग्राही है।

२. फलिकादितिरोहितं - शीशे की अलमारी में रखे हुए रूपालम्बन उस शीशे से तिरोहित होते हुए भी चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखे जाते हैं। ऐसा दर्शन चक्षु:प्रसाद की असम्प्राप्तग्राही शक्ति से ही सम्भव है।

३. महन्तञ्च नगादीनं - एक पहाड़ को देखने पर देखने योग्य उन महाभूतों के अनेक रूप कलापों को एक साथ देखा जा सकता है। परन्तु करोड़ों रूपालम्बनों का चक्षु:प्रसाद में एक साथ घट्टित होना सम्भव नहीं। अत: चक्षु द्वारा अप्राप्त रूपालम्बनों का ग्रहण मानना ही समीचीन है।

४. अक्खिवण्णं-भुमकस्स च - यदि यह माना जाय कि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा स्वसमीपस्थ आलम्बनों का ग्रहण होता है तो अक्षिवर्ण और भौंह के मूल को सर्वप्रथम और बराबर दिखना चाहिए।[१८] अत: चक्षु द्वार से गृहीत होने के लिए दूर और समीप होना प्रधान नहीं बल्कि चक्षु: प्रसाद के सम्मुख प्रदेश में स्थित होना आवश्यक है। ऐसा नहीं मानने पर चक्षु में पड़े तिनके को तो कम से कम चक्षु के द्वारा अवश्य देखा जाना चाहिए।

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता को सिद्ध करने के लिए भी पाली गाथाओं में अनेक युक्तियों का संग्रह किया गया है जो इस प्रकार हैं -

आकासादिगतो कुच्छिचम्मानन्तरिको पि च।
महन्तो च घण्टादीनं सद्दो सोतस्स गोचरो ॥
दिसा देसववत्थानं सद्दस्य न भवेय्य च।
सिया च सरवेधिस्स सकण्णे सरपातनं ॥[१९]

१. आकासादिगतो - आकाश स्थित मेघ गर्जन अनेकों योजन दूर होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुना जाता है। आकाश में उड़ते पक्षी एवं वायु के शब्द दूर होने पर भी गृहीत होते हैं। मेघ गर्जन के कुछ ही शब्द पृथ्वी तल तक पहुँचते हैं और कुछ पृथ्वी तक नहीं आ पाते हैं, किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा दोनों सुने जाते हैं। ऐसा तो असम्प्राप्तग्राही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही संभव है।

२. कुच्छिचम्मानन्तरिको - पेट में वायु का शब्द कुक्षि-चर्म से अन्तरित होने पर भी श्रोत्र-प्रसाद में सुना जाता है, जबकि इन्द्रियों की ग्राह्यता बहिर्मुखी प्रदेश में होती है। अत: श्रोत्रेन्द्रिय को असम्प्राप्तग्राही शक्ति से युक्त मानना ही सुसंगत है।

३. महन्तो च घण्टादीनं - घण्टी एवं तोप आदि शब्द तथा समुद्र की गर्जना में असंख्य शब्दालम्बन समूह उत्पन्न होते हैं। उन सभी शब्दों को एक साथ सुना जाता है परन्तु वे सभी एक साथ चक्षु:प्रसाद में संघट्टित नहीं हो सकते। अतएव उन असंख्य शब्दलम्बन समूहों का असम्प्राप्त ग्रहण ही होता है।

४. सिया च...सरपातनं - यदि शब्दवेधी बाण सन्धान करने वाला व्यक्ति श्रोत्र प्रसाद में पहुँचने वाले शब्द का ही ग्रहण कर सकता है, तो कर्ण शष्कुली के भीतर पहुँचे हुए शब्द का ही ग्रहण हो सकेगा और तब ऐसी स्थिति में उसे

अपने कानों पर ही बाण सन्धान करना पड़ेगा, क्योंकि शब्दवेधी बाण चलाने वाला व्यक्ति वहीं बाण सन्धान करता है, जहाँ वह शब्द सुनता है। अब यदि शब्द जिस प्रदेश में उत्पन्न होता है, वहीं उसे न सुना जाय तो शब्द वेधी बाण का चलाया जाना ही सम्भव नहीं होगा। अतएव शब्द का असम्प्राप्त रूप से ग्रहण मानना ही समीचीन है।

५. दिव्यचक्षुः श्रौत्रमिह मनुष्येषु ध्यायिनां नोपजायेत - कुछ मनुष्यों को साधना के बल से दिव्य दर्शन एवं श्रवण की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह बात वैदिक और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में मान्य है। यदि चक्षुः और श्रोत्रेन्द्रिय स्वभाव से ही सम्प्राप्तग्राही होंगे तो मनुष्य में दिव्य दर्शन एवं श्रवण की शक्ति अनुपपन्न होगी। दिव्य दर्शन और श्रवण की शक्ति का आधान इन इन्द्रियों में असम्प्राप्तग्राही रूप से ही सम्भव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाली बौद्ध परम्परा में विभिन्न युक्तियों, दृष्टांतों एवं अनेक सन्दर्भों में नितान्त लौकिक रीति से चक्षुः एवं श्रोत्रेन्द्रिय को असम्प्राप्तग्राही तथा शेष घ्राणादि इन्द्रियों को सम्प्राप्तग्राही सिद्ध किया गया है। अभिधम्म परम्परा का यह निरूपण कितना वैज्ञानिक है, इस बात को लेकर प्रश्न उठाये जा सकते हैं लेकिन लोक-बुद्धि सहज रूप से उपर्युक्त प्रसंगों में वस्तुस्थिति को इसी रूप में अवधारित करती है। अभिधार्मिक बौद्धों की एतद्विषयक युक्तियों का महत्त्व भी इसी बात में निहित है कि वस्तुस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पूर्वाग्रहरहित अनुप्रयुक्त लोक-बुद्धि के आधार पर इन्द्रियों की लोक-प्रवृत्ति एवं कार्यप्रणाली को समझने का प्रयास किया गया है।

द्रष्टव्य है कि परवर्ती काल में, एक लम्बे अन्तराल के बाद, दिङ्नाग ने इन्हीं युक्ति-स्थलों के आकार को किंचित् परिष्कार के साथ सुनिश्चित करते हुए इस समस्या की विचार-सरणी को आगे बढ़ाया है। दिङ्नाग के पूर्व प्राप्यकारित्ववाद का व्यापक समर्थन एक तरह से सर्वतंत्र-स्वतंत्र सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया था और यह समस्या एक सिद्धकथा के रूप में स्वीकार्य हो गई थी। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में इस समस्या पर उस प्रकार के कोई प्रकरण ग्रन्थ भी प्रणीत नहीं हुए जैसा कि प्रमाणशास्त्रीय अन्य प्रकरणों को लेकर छोटे- बड़े ग्रन्थ प्रणीत हुए हैं। अतएव कहा जा सकता है कि दिङ्नाग ने इस समस्या को पुनः जीवन्त रूप प्रदान किया है। यद्यपि दिङ्नाग की युक्तियों में कोई नवीनता नहीं है फिर भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की व्यापक रूप से स्वीकृत अवधारणा का खण्डन करने के उद्देश्य से उनका विनियोग बौद्ध एवं बौद्धेतर दर्शनों के मध्य एतद्विषयक एक ऐतिहासिक वाद-विवाद को जन्म दिया। न्याय, मीमांसा, वेदान्त इत्यादि के दार्शनिकों ने दिङ्नाग को एकबारगी

पूर्वपक्ष बनाते हुए अपने-अपने पक्ष से प्राप्यकारित्व का भरपूर समर्थन किया है। इसके चलते सन्निकर्षवाद, प्राप्यकारित्ववाद एवं अप्राप्यकारित्ववाद की विचार-सरणी में कुछ नये आयामों का समावेश हुआ है। दिङ्नाग ने प्राप्यकारित्व विरोधी युक्तियों को इस रूप से पुन: प्रस्तुत किया है।

सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानाधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादि योगत: ॥[२०]
सत्यपि च बहिर्भावो न शक्तिर्विषये क्षणे।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात् ॥[२१]

अर्थात् सान्तरग्रहणात्, पृथुतरग्रहणात्, दिग्देशव्यपदेशात्, एककालग्रहणात्, अधिष्ठानात् बहिर्नाक्षं, पश्येदप्युन्मील्य नीमिलनात् नामक छ: हेतुओं के चलते चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध नहीं किया जा सकता। इन्हीं हेतुओं को अवान्तर रूप से श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता के पक्ष में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ दिङ्नाग द्वारा पुन: प्रस्तुत उपर्युक्त हेतुओं के युक्त्याकार और बनावट को समझने के लिए आवश्यक है कि इस बात को ध्यान में रखा जाय कि इनकी प्रयुक्ति वास्तव में प्राप्यकारित्व की कैसी अवधारणा को पूर्वगृहीत करके की गई है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि उपर्युक्त षड़विध हेतुओं के युक्त्याकार में यह पूर्वगृहीत है कि इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं क्योंकि प्राप्यकारित्व भौतिक पदार्थ का धर्म है। पुन: प्राप्यकारित्व के लिए सन्निकर्ष को भी पूर्वगृहीत किया गया है और यह सन्निकर्ष चक्षु का चाक्षुष विषय देश में समानाधिकरण्य पूर्वक ही हो सकता है। अब यदि प्राप्यकारित्व की पूर्वापेक्षायें ऐसी ही हैं तो दिङ्नाग की युक्तियाँ उसके विरोध में निम्नलिखित रूप से फलित होती हैं।

१. सान्तरग्रहणात् - यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसके द्वारा अन्तर सहित देशान्तर में वस्तु का ग्रहण नहीं हो सकता, जबकि चक्षु के द्वारा दूर, अतिदूर की वस्तु का ही ग्रहण होता है। दूर अतिदूर की 'प्राप्ति' तो प्राप्यकारित्व नियम से सम्भव नहीं क्योंकि भूत विशेष ही इन्द्रिय है, अर्थात् कृष्णतारा रूप भूतविशेष ही आलोकादि भूत विशेष से अनुगृहीत होकर चक्षु कहलाता है। अत: चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता ही सुवच है।

२. अधिकग्रहणात् - यदि चक्षु को प्राप्यकारी माना जाय तो उसके द्वारा पृथुतर प्राप्ति अर्थात् राष्ट्र, वन और पर्वत इत्यादि वस्तुओं का ग्रहण नहीं हो सकता, जबकि चक्षु के द्वारा ऐसे महत्-आकार के परिमाणों का ग्रहण होता ही है। अवधेय है कि प्राप्यकारिता नियम से दो वस्तुओं में रहने वाला संयोग सम्बन्ध संयोगी के एक देश में यानी अल्पभाग से ही होता है, समस्त से

नहीं। अत: राष्ट, वन, पर्वत के जितने भाग का चक्षु: गोलक से संयोग होगा, उतने का ही ग्रहण मानना चाहिए, परन्तु होता है अधिक-ग्रहण। इस कारण चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानना ही उचित है।

३. दिग्देशव्यपदेशात् - यदि चक्षु को प्राप्यकारी माना जाये तो वह चाक्षुष विषय देश में ही प्राप्यकारी होगा और तब ऐसी स्थिति में चक्षु द्वारा दिक् और देश का व्यपदेश नहीं पायेगा, जबकि चाक्षुष ग्रहण में सुतरां ऐसा व्यपदेश होता है और स्पृश्य-ग्रहण में नहीं होता। अत: चक्षु स्वरूपत: अप्राप्यकारी ही है।

४. एककालग्रहणात् - यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे अपने गोलक से निकल कर विषय देश में जाकर विषय को प्राप्त करना होगा। ऐसी स्थिति में निकटस्थ और अतिदूरस्थ वस्तु का ग्रहण क्रमश: होना चाहिए जबकि पेड़ की शाखा और चन्द्रमा का ग्रहण एक काल में ही होता है। अत: चक्षु अप्राप्यकारी है।

५. बहिर्नाक्षं अधिष्ठानाद् - चक्षु का चाक्षुष विषय देश में वस्तुप्राप्यकारी होने के लिए आवश्यक है कि वह अपने गोलक से निकल कर विषय देश में समानाधिकरण्य प्राप्त करें। परन्तु चक्षु का अपने गोलक से बाहर जाना मान्य नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए कि अधिष्ठान गोलक में स्थित कृष्णतारा ही चक्षु है क्योंकि उसकी चिकित्सा आदि कर्म वहीं किये जाते हैं। पुन: अधिष्ठान से बाहर चक्षु में दर्शन-सामर्थ्य नहीं होता है।

६. पश्येदप्युन्मील्य निमीलनाद् - यदि प्राप्यकारिता के नियम के तहत यह मान भी लिया जाये कि चक्षु अपने गोलक से निकलकर बाहर जाती है और बाहर जाती हुई चक्षुरिन्द्रिय में भी दर्शन-सामर्थ्य होती है तो यह भी मानना पड़ेगा कि आँख का पलक बंद कर लेने पर भी वस्तु को देखा जाना सम्भव होना चाहिए। ऐसा नहीं होता, इसलिए चक्षु का दर्शन-सामर्थ्य अप्राप्यकारी रूप से ही मानना समुचित है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो उपर्युक्त हेतुओं एवं तज्जनित युक्तियों के द्वारा दिङ्नाग ने प्राप्यकारित्व की अवधारण का विरोध चारों तरफ से घेर कर किया है। इस घेरेबन्दी की मजबूती तब और दिखाई पड़ती है जब यह देखा जाय कि किस तरह दिङ्नाग की युक्तियाँ अन्वय-व्यतिरेक रूप से न केवल एक दूसरे का समर्थन करती हैं बल्कि एक दूसरे के प्रत्युत्तर की सम्भावना को भी निरस्त करती जाती हैं। उदाहरण के लिए मूल युक्ति 'सान्तरग्रहणात्' है और उसके प्रत्युत्तर की सम्भावना को 'अधिष्ठानात् बहिर्नाक्षं' निरस्त कर देता है।

दिङ्नाग के उपर्युक्त आक्षेपों का बौद्धेतर दार्शनिकों में उद्योतकर भारद्वाज, कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट ने अपनी-अपनी ओर से समाधान

प्रस्तुत करने का भूरि-भूरि प्रयास किया है। इनके समाधान के समवेत प्रयास में जो एक बात स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ती है वह यह कि किसी ने दिङ्नाग की युक्तियों को अन्यथा नहीं कहा बल्कि उन्हें वस्तुस्थिति का संवादी ही स्वीकार किया है। इसलिए समाधान के सारे उपाय और उपालम्भ वास्तव में उन आक्षेपों का प्राप्यकारित्ववादी स्पष्टीकरण देने के प्रयास ही कहे जा सकते हैं। अब यदि स्पष्टीकरण समुचित हो तो कहा जा सकता है कि दिङ्नाग के आक्षेप प्राप्यकारित्व का निरसन कर एकबारगी अप्राप्यकारित्व का विधान नहीं करते हैं। परन्तु यह बात पूरे तौर से नहीं कही जा सकती है, क्योंकि स्पष्टीकरण के लिए जिन आधारों को अपनाया गया है, वे वस्तुस्थिति के उतने संवादी नहीं हैं। यहाँ उन सभी आधारों की चर्चा तो नहीं की जा सकती लेकिन उनमें से कुछ जो महत्त्वपूर्ण है उनका खुलासा इस प्रकार किया जा सकता है। अवधेय है कि दिङ्नाग के सारे आक्षेपों का प्राप्यकारित्ववादी स्पष्टीकरण केवल एक आधार पर दी जा सकती है, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय, जैसा कि नैयायिक स्वीकार भी करते हैं कि चक्षु-रश्मि चक्षु-गोलक से बाहर निकलकर विषय देश में जाती है। परन्तु इस तथ्य को मान्य ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह बात न केवल काल्पनिक बल्कि सर्वथा अवैज्ञानिक भी है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के आधुनिक मर्मज्ञ प्रो. विश्वम्भर पाही[२२] का सुचिन्तित मत है कि "नयनरश्मि विषयक परम्परागत न्याय-वैशेषिक मत, प्राणिशास्त्र, एवं मनोविज्ञान के इन्द्रिय स्वरूप विषयक तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष विषयक एवं भौतिक शास्त्र के प्रकाशविषयक सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने से अस्वीकार्य है। वस्तुत: इन्द्रियों की संरचना एवं इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति प्रकिया के विषय में यथोपलब्धिन्याय रूपी पद्धतिमूलक आधारभूत मान्यता के अनुसार विज्ञान की सम्बन्धित शाखाओं पर आश्रित रहना आवश्यक है।" ऐसे ही प्राप्यकारित्व पक्ष से अप्राप्यकारित्व के विरोध में एक युक्ति दी जाती है कि यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी होवें तो दिवार, प्राचीर से ओझल वस्तु का भी ग्रहण होना चाहिए। अब चूँकि काँच, स्पटिक इत्यादि से ओझल वस्तु भी आँख से दिखाई पड़ती है, इसलिए अपातत: ऐसा प्रतीत होता है कि काँच इत्यादि को वेधकर नयनरश्मि उस पार की वस्तु को देखने में समर्थ होती है लेकिन दिवार चूँकि रश्मि का बाधक होता है, इसलिए दिवार के उस पार की वस्तु चक्षु के ग्रहण योग्य नहीं होती। इस प्रतियुक्ति में प्राप्यकारित्ववादी पूर्वाग्रह यह है कि वे ऐसा समझते हैं कि दिवार चूँकि नयनरश्मि का अवरोधक है, इस कारण उस पार की वस्तु से चक्षु का सन्निकर्ष नहीं हो पाता जबकि वास्तविकता यह है कि एक ओर तो नयनरश्मि जैसी कोई वस्तु नहीं होती और दूसरी ओर दिवार नामक भूत पदार्थ नयन का

आवरक न होकर उस पार के किसी भूत पदार्थ का आवरक भी तो हो सकता है। वास्तव में जिस आग्रह के साथ अप्राप्यकारित्व के प्रति ऐसे अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं, उससे तो अच्छा यही होता कि सर्वग्रहण का प्रसंग उत्थापित कर दिया जाता - इस तथ्य को ध्यान में रखे बिना कि जैसे अयस्कान्त मणि का एक प्रभाव क्षेत्र होता है वैसे ही इन्द्रिय योग्यता-सामर्थ्य का भी एक सीमांकित ग्रहण -क्षेत्र होता है।

वस्तुत: दिङ्नाग की प्राप्यकारिता विरोधी युक्तियों का मूल स्वर इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष का खण्डन करना प्रतीत होता है, क्योंकि सन्निकर्ष की पूर्वापेक्षा में ही प्राप्यकारित्व नियम बनता है। पुन: सन्निकर्ष के निरस्त होने पर यह भी नहीं समझा जाना चाहिए कि अप्राप्यकारित्व का पक्ष ही केवल शेष बचता है। यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो बौद्धों का एतद्विषयक कोई पक्ष ही नहीं बनता है क्योंकि उनकी दृष्टि में कुछ इन्द्रियाँ सम्प्राप्तग्राही और कुछ असम्प्राप्तग्राही स्वीकार की गई हैं। अतएव बौद्धों का वास्तविक पक्ष सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्ववाद और असन्निकर्ष मूलक अप्राप्यकारित्ववाद के बदले ऐन्द्रिक स्वरूप योग्यता मूलक सम्प्राप्तासम्प्राप्तग्राहित्व का पक्ष प्रतीत होता हैं। इसलिए बौद्ध दर्शन में सन्निकर्ष के बदले फस्सो अर्थात् "त्रयाणां सन्निपात: स्पर्श:" की अवधारणा मान्य की गई है।[२३] शान्तरक्षित[२४] ने प्राप्यकारिता के नियम के सभी पक्षों की समीक्षा करते हुए अन्त में इस विषय पर एक बहुत समीचीन टिप्पणी की है कि सन्निकर्षमूलक प्राप्यकारित्व की अवधारणा एक अतिरिक्त और अनावश्यक प्रतिज्ञा है। यदि इसे मान भी लिया जाये तब भी हमें आवश्यक रूप से प्रत्येक इन्द्रियों में अपने-अपने विषय के ग्रहण की स्वरूप-योग्यता को स्वीकार ही करना पड़ेगा। अब इन्द्रियों की यह स्वरूप-योग्यता ही वस्तु के इन्द्रिय वेद्य प्रत्यक्षात्मक ग्रहण की व्याख्या के लिए पर्याप्त है। इसके साथ सन्निकर्ष की अवधारणा को अतिरिक्त रूप से स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इससे समस्या सुलझने के बजाय और उलझ जाती है। इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के बिना सन्निकर्ष व्यर्थ है, लेकिन सन्निकर्ष के बिना भी इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता किसी वस्तु के प्रत्यक्ष-ग्रहण के लिए आधार प्रदान करती है। भर्तृहरि ने भी 'इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता तथा' कहते हुए प्रत्येक इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में अनादि योग्यता को स्वीकार किया है। ज्ञानश्री मित्र[२५] ने भी सन्निकर्षवाद की कठिनाईयों को आधारभूत रूप से उजागर करते हुए यह दिखाया है कि इस अभ्युपगम से सविकल्पक ज्ञान की सम्यक् व्याख्या नहीं की जा सकती है। उनका निष्कर्ष यह है कि यह तो अनुभव से ही निश्चित होगा कि उष्ट्र के साथ न

होकर घट के साथ सन्निकर्ष हुआ और अनुभव तब होगा जब सन्निकर्ष से उसकी उत्पत्ति हो। इसप्रकार अन्योन्याश्रय दोष का प्रसंग उपस्थित होता है और इसके निवारणार्थ आवश्यक है कि सन्निकर्ष के अतिरिक्त इन्द्रियों की योग्यता जैसी किसी व्यवस्था को स्वीकार किया जाय। परन्तु योग्यतामूलक व्यवस्था मान लेने पर सन्निकर्ष अनावश्यक अतिरेक रूप से व्यर्थ हो जायेगा। पुनः, सन्निकर्ष द्वारा उत्पत्ति से अनुभव मानने पर विकल्पों की शृंखला से व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी और तब अर्थानुभव का स्पष्ट प्रतिभास असम्भव होगा क्योंकि अव्यवहित क्षण का ही अनुभव स्पष्ट हो सकता है। इस समस्या के समाधान के लिए निर्निमेष प्रत्यक्ष पर्यन्त को अव्यवहित अनुभव नहीं कहा जा सकता। ऐसा मानने पर सन्निकर्ष की प्रौढ़ता का तारतम्य मानते हुए स्मृति पर्यन्त प्रत्यक्ष का विस्तार स्थापित किया जा सकता है। अतएव अन्दर ही अन्दर सन्निकर्षवाद की अनेक कठिनाईयाँ हैं। इन्द्रियों की स्वरूप-योग्यता के आधार पर ही सभी प्रकार के अनुभवों की व्याख्या सम्भव है।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. *प्राप्यप्रकाशकारित्व पद में प्राप्य पद "आप्लृ व्याप्तौ" स्वादिगणपठित धातु के साथ प्र-उपसर्ग पूर्वक निष्पन्न होने से 'ल्यप्' प्रत्ययान्त प्रयोग है। अतएव व्यूत्पत्ति की दृष्टि से प्राप्यप्रकाशकारिता स्वीकार करने पर चक्षुरादि द्वारा प्रकाश्य विषय के देश में इन्द्रियों का समानाधिकरण्य अपरिहार्य हो जाता है। अप्राप्यकारित्व का व्युत्पत्तिपरक अर्थ इसके विपरीत समझना चाहिए।*

२. *'सम' तथा 'नि' उपसर्ग के साथ "कृष विलेखने (आकर्षणे)" धातु से 'धञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'सन्निकर्ष' शब्द अपने में आकर्षण का भाव लिये हुए सामीप्य का अर्थ व्युत्पन्न कराता है।*

३. *कठोपनिषद् - २१/१ - पराञ्चिरवानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्गपश्यति नान्तरात्मन्।*

४. *न्यायसूत्र - ३/१/४४-४५-४६*

५. *श्लोकवार्त्तिक - ४/४३*

६. *प्रज्ञापना सूत्र - १५/९९१*

७. *परमत्थदीपनी, पृ. २५१ - तत्थ पसादे अल्लीयित्वा लग्गित्वा उप्पपन्नं आरम्भणं "सम्पतं" नाम। केसग्गमत्तं पि मुञ्चित्वा उप्पन्नं "असम्पत्तं" नाम।*

८. *अट्ठसालिनी, पृ. २५३- घाण-जिह्वा-काया सम्पत्तविसयगाहका, निस्सयवसेन चैव सयञ्च अत्तनो निस्ससंय अल्लीने येव विसये विञ्ञाण हेतुता।*

९. *विभाषा, पृ. १५६ - चक्खुसोतं पनेतेसु होता सम्पत्तगाहकं।*
विञ्ञाणुप्पत्तिहेतुत्ता सान्तराधिक गोचरे॥

१०. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका, वाचस्पति मिश्र - पृ. ५२१, अहङ्काराद्धि बुद्धिविकाराद् वैकारिका- दशेन्द्रियाणि जायन्त इति ...।

११. तर्कभाषा, केशवमिश्र - पृ. २२,

१२. द्रष्टव्य - एच. एम. गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन, पृ. ७१

१३. यामाकामी सोगेन, सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्ट थॉट - पृ. १४६ - क: पुनरिन्द्रियार्थ इति। इति परमेश्वमें इति पद्यते। तस्य धारतोन्दिन्तीन्द्रियाणीति रूप द्रव्यम्। कथं कृत्वा इन्दन्तीति इन्द्राणीरप्रत्यय औणादिक: । इन्द्राप्येवेन्द्रियाणीति स्वार्थ धस्तद्धित: । अथवा इन्दन्तीतीन्द्रियम्।

१४. अभिधर्मकोश - १/४३-४४- चक्षु: श्रोत मनोऽप्राप्त विषयं त्रयमन्यथा, त्रिभिर्घ्राणादिभिस्तुल्यविषय ग्रहणं मनम्।

इन्द्रियों के सम्प्राप्त ग्राहित्व एवं असम्प्राप्तग्राहित्व के लिए अभिधर्मकोश १/४५-४६-४७ में युक्तियों का संग्रह इस प्रकार किया गया है- अप्राप्तग्राहिण: सिद्धा दूरासन्न समग्रहात् । प्रदीपादिप्रभावश्चेत् न समं तत्समुद्भवात् ।। सर्वग्रहण प्रसंगश्चेन्नायस्कान्तादि दर्शणात्। सर्वगत्वाददोषश्चेन्ना योगात्तितैलवत्।।

१५. पूर्वोक्त सन्दर्भ सं. - ७, परमत्थदीपनी एवं ८, अट्ठसालिनी।

१६. पूर्वोक्त सन्दर्भ सं. - ९, विभाषा

१७. विभाषा- पृ. १५६

१८. विभाषा- पृ. १५६ - यदि चेतं द्वयं अत्तसमीपं येव गण्हति। अक्खिण्णं तथा मूलं पस्सेयं भुमुकस्स च।।

१९. विभाषा- पृ. १५७ एवं अभिधर्मकोश स्फुटार्था - १/४३

२०. प्रमाण समुच्चय, एच. आर. आर. आयंगर द्वारा पुन: संकलित में भी यह कारिका उधृत की गई है लेकिन मैंने वाचस्पति मिश्र द्वारा उधृत इस कारिका को यहाँ उधृत किया है।

२१. वाचस्पति मिश्र, न्यायवात्तिक तात्पर्य टीका- पृ. ११८ पर उधृत।

२२. वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श- पृ. २८६, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय - २०००

२३. सन्निकर्ष के बदले सन्निपात की अवधारणा और उसकी व्याख्या के लिए द्रष्टव्य हमारा आलेख-बौद्धदर्शन में सारुप्य की अवधारणा, उन्मीलन, वर्ष १८ अंक १, २००४

२४. द्रष्टव्य सतकड़ी मुखर्जी, बुद्धिस्ट फिलॉसफी ऑफ युनिवर्सल फ्लक्स- पृ. ३०६

२५. ज्ञानश्री मित्र निबन्धावली-पृ. ३५१- घटेन्द्रियसन्निकर्षो नोष्ट्रेणेति तदनुभवादेव निश्चेयम्। तदनुभवत्वं चास्य तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेरितीतरेतराश्रय दोष:, प्रकारान्तरेण तदनुभसिद्धौ वा सन्निकषोत्तरस्थ वैयर्थ्यात्। अपि च तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेस्तदनुभवत्वे विकल्प मात्र व्यवस्थापिता स्पष्ट प्रतिभासोर्थस्यानुभव: स्यान्न स्पष्ट:।

४.

जैन दर्शन में
इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व एवं अप्राप्यकारित्व

सागरमल जैन

भारतीय प्रमाणशास्त्रीय चिन्तन में ज्ञान की प्राप्ति के साधनों के रूप में इन्द्रियाँ, मन और आत्मा की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानी गई है। न्यायदर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं - १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. शब्द (आगम) और ४. उपमान। इनमें भी प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण के साधन के रूप में इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, क्योंकि उसके अनुसार इन्द्रिय का अपने विषय से सन्निकर्ष (संस्पर्श) होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है, उसमें दो ही प्रमाण माने गए हैं - १. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। पुन: प्रत्यक्ष प्रमाण भी दो प्रकार का है -१. पारमार्थिक प्रत्यक्ष और २. सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष। पारमार्थिक प्रत्यक्ष का कारण तो आत्मा है, उसकी मान्यता है कि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से आत्मा का ज्ञान गुण प्रकट होता है, किन्तु जहाँ तक सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष का प्रश्न है, उसके साधन मन और इन्द्रियाँ हैं। जैन दर्शन के प्राचीन ग्रन्थों और आगम साहित्य में ज्ञान के पाँच भेद माने गए हैं -१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मन:पर्यायज्ञान और ५. केवलज्ञान।[1] तत्त्वार्थ सूत्र और नन्दीसूत्र में इनमें से अन्त के तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहकर इनका हेतु आत्मा के ज्ञानावरण कर्म का क्षय, उपशम और

क्षयोपशम माना है।[२] यद्यपि प्रथम दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की भी आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं किन्तु इनमें भी मतिज्ञान में निमित्त कारण मन और इन्द्रियाँ हैं।[३] अत: प्रथमत: इसे परोक्ष ज्ञान ही माना गया। किन्तु कालान्तर में मतिज्ञान के अन्तर्गत होने वाले इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के रूप में स्वीकार किया गया और उसका हेतु मन और इन्द्रियों को माना गया।[४]

प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व का स्वरूप

यहाँ मूल प्रश्न यह है, कि इन्द्रियाँ अपने विषय का ज्ञान किस प्रकार से करती हैं। भारतीय दर्शनों में जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, वह स्पष्ट रूप से यह मानता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का संस्पर्श या सन्निकर्ष करके ही उन्हें जानती हैं। यह सिद्धान्त इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षवाद या इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है। यह बात तो सामान्यतया सभी स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करके ही उन्हें जानती हैं, किन्तु मूलप्रश्न यह है कि क्या इन्द्रियों का अपने विषयों से निकटस्थ रूप में संस्पर्श होता है या वे दूर से ही उन्हें ग्रहण कर लेती हैं। जहाँ तक न्यायदर्शन का प्रश्न है, वह यह मानता है कि इन्द्रियों का अपने विषयों से वास्तविक रूप में संस्पर्श या सन्निकर्ष होता है और तभी वे उसे जानती हैं। दूसरे शब्दों में पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से यथार्थ सम्पर्क स्थापित करके अर्थात् उनका संस्पर्श करके ही उन्हें जानती हैं। जबकि जैन और बौद्ध दर्शन यह मानते हैं कि कुछ इन्द्रियाँ तो अपने विषयों का संस्पर्श करके ही उन्हें जानती हैं किन्तु कुछ इन्द्रियाँ ऐसी भी हैं, जो दूर से ही अपने विषयों का ग्रहण कर लेती हैं, उनका वास्तविक रूप से संस्पर्श नहीं करती हैं। इसके साथ ही भारतीय दार्शनिकों में विशेष रूप से जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने यहाँ यह प्रश्न भी उठाया कि सम्पर्क-स्थापन, संस्पर्शन या सन्निकर्ष की इस प्रक्रिया में विषय इन्द्रियों की ओर आकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं या इन्द्रियाँ अपने विषय की ओर जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करती हैं, या उनका संस्पर्श करती हैं ? जहाँ तक न्यायदर्शन की मान्यता है तो कुछ स्थितियों में विषय इन्द्रियों के सन्निकट आकर उनसे सम्पर्क स्थापित करते हैं जैसे-गन्ध और कुछ स्थितियों में इन्द्रियाँ भी उन विषयों के सन्निकट जाकर उनसे सम्पर्क स्थापित करती है जैसे चक्षुरन्द्रिय।

बस यहीं से इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर भारतीय दार्शनिक चिन्तन में विवाद का प्रारम्भ होता है। प्राप्यकारित्व वह सिद्धान्त है, जो यह मानता है कि इन्द्रियाँ अपने विषय का वास्तविक रूप से

संस्पर्श करके या उससे सम्पर्क स्थापित करके सन्निकर्ष के माध्यम से उसे ग्रहण करती हैं जबकि अप्राप्यकारित्व वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि कुछ इन्द्रियाँ ऐसी भी हैं जो अपने विषयों से दूरस्थ रहकर ही उनका ग्रहण कर लेती है, उनमें वास्तविक रूप से संस्पर्श, सम्पर्क या सन्निकर्ष नहीं होता है।

जैन दर्शन में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की अवधारणा

भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन पाँचों इन्द्रियों और मन को प्राप्यकारी मानता है, जबकि बौद्ध दर्शन स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानता है और श्रवणेन्द्रिय तथा चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय दूर से ही अपने विषय का ग्रहण कर लेती हैं। उनका अपने विषयों से वास्तविक संस्पर्श या सन्निकर्ष नहीं होता है। जहाँ तक जैन दर्शन का प्रश्न है वह स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय-इन चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय और मन को अप्राप्यकारी मानता है। जैनदर्शन के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय और मन अप्राप्यकारी हैं। क्योंकि ये दोनों अपने विषयों का संस्पर्श करके उन्हें ग्रहण नहीं करते हैं अपितु दूर से ही अपने विषयों को जान लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्रिय के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर जैनदर्शन का न्यायदर्शन और बौद्धदर्शन दोनों से ही मतभेद है। जहाँ न्यायदर्शन पाँचों ही इन्द्रियों को नियम से प्राप्यकारी मानता है वहाँ जैनदर्शन चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है किन्तु चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। इसी सन्दर्भ में जब हम बौद्ध दर्शन से जैनदर्शन की तुलना करते हैं तो यह पाते हैं कि जहाँ बौद्धदर्शन श्रवणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानता है, वहाँ जैनदर्शन श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानता है और मात्र चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। पुन: इस प्रश्न को लेकर भी जैन दर्शन का न्याय दर्शन से दूसरा मतभेद यह भी है कि न्यायदर्शन यह मानता है, कि चक्षुरिन्द्रिय के विषय स्वयं आकर चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श नहीं करते, अपितु चक्षुरिन्द्रिय से तेजोरश्मिाँ निकलकर उनसे संस्पर्श करती हैं। जबकि जैनदर्शन का कहना है कि कोई भी इन्द्रिय अपने स्वक्षेत्र से बाहर जाकर विषय संस्पर्श नहीं करती है, अपितु जो विषय इन्द्रियों के संस्पर्श क्षेत्र में आते हैं उन्हें ही जानती है और ऐसी इन्द्रियाँ ही प्राप्यकारी कहीं जा सकती हैं। जबकि जो इन्द्रिय अपने स्वक्षेत्र में रहते हुए भी दूरस्थ विषयों का ग्रहण कर लेती है, वह अप्राप्यकारी कहलाती है। जैनदर्शन के अनुसार स्पर्श, रस, गन्ध और शब्द ऐसे विषय हैं जिनका ज्ञान उनकी ग्राहक चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी कही जाती हैं। इसके विपरीत चक्षुरिन्द्रिय दूर से ही

अपने विषय का ग्रहण कर लेती है। अत: वह अप्राप्यकारी कही जाती है। जैनदर्शन के अनुसार चक्षुरिन्द्रिय के विषय न तो स्वयं चक्षुरिन्द्रिय से संस्पर्श करते हैं और न चक्षु अपने स्वक्षेत्र से बाहर जाकर उनका संस्पर्श करती है। वस्तुत: चक्षुरिन्द्रिय में ऐसी असाधारण सामर्थ्य है कि बिना संस्पर्श किये अपने विषयों को जान लेती है। इसलिए जैनदर्शन पाँचों इन्द्रियों में से चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी और चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। परवर्ती जैन आचार्यों (९ वीं से १२ वीं शती) ने अपनी मान्यता के समर्थन में बौद्धों और नैयायिकों की तत्सम्बन्धी अवधारणाओं की समीक्षा भी की है।

यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्र मूल (ई. सन् २-३ री शती) में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर कोई चर्चा नहीं मिलती है, किन्तु उसी के समकालिक या किंचित् पूर्ववर्ती प्रज्ञापनासूत्र (ई. सन् प्रथम-द्वितीय शती) नामक उपांग के इन्द्रियद्वार में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की चर्चा सर्वप्रथम उपलब्ध होती है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी तत्त्वार्थसूत्र की प्रथम टीका सर्वार्थसिद्धि (लगभग पाँचवीं शती) में सर्वप्रथम यह चर्चा मिलती है। प्रज्ञापनासूत्र के इन्द्रिय पद में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है कि श्रवणेन्द्रिय स्पृष्ट अर्थात् संस्पर्शित शब्दों को सुनती हैं या अस्पृष्ट (अस्पर्शित) शब्दों को सुनती है ? उसके उत्तर में कहा गया हैं कि श्रवणेन्द्रिय स्पृष्ट शब्दों को सुनती हैं।[5] किन्तु जब चक्षुरिन्द्रिय के सम्बन्ध में यही प्रश्न पूछा गया कि चक्षुरिन्द्रिय स्पृष्ट रूप को देखती है या अस्पृष्ट रूप को देखती है, तो उसके उत्तर में कहा गया है कि चक्षुरिन्द्रिय अस्पृष्ट रूप को देखती है, स्पृष्ट रूप को नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व और प्राप्यकारित्व की चर्चा के मूलबीज जैनदर्शन में कम से कम प्रज्ञापनासूत्र के काल से अर्थात् ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि टीका में प्रज्ञापना के समरूप आगम-वचनों को उद्धृत करते हुए चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता और अन्य इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सिद्ध की गई है।[6] प्रज्ञापना के अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा के अन्य दार्शनिक ग्रन्थों यथा-प्रमाणनयतत्त्वालोक, रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादरत्नाकर आदि में तथा दिगम्बर परम्परा के अनेक ग्रन्थों यथा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, पञ्चसंग्रह (प्राकृत), धवला, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि में भी यह चर्चा मिलती है। इससे यह फलित होता है कि जैन दर्शन में यह चर्चा ईसा की प्रथम शती से लेकर ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक पूरे जोर-शोर से चलती रही है। जहाँ प्रज्ञापना सूत्र, पञ्चसंग्रह (प्राकृत) आदि में मात्र इतना ही कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय,

घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय-ये चार इन्द्रियाँ अपने-अपने स्पर्शित विषयों का ही अनुभव करती हैं, जबकि चक्षुरिन्द्रिय अस्पर्शित रूप को देखती है, वहाँ परवर्ती काल के जैन दर्शन के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में अन्य दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा भी की गई है।

ज्ञातव्य है कि प्रज्ञापना सूत्र के इन्द्रिय पद में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि श्रवणेन्द्रिय प्रविष्ट शब्दों को सुनती है या अप्रविष्ट शब्दों को सुनती हैं। 'इसके उत्तर में कहा गया है कि श्रवणेन्द्रिय प्रविष्ट शब्दों को ही सुनतीं है, अप्रविष्ट शब्दों को नहीं सुनती है। श्रवणेन्द्रिय के समान ही घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय भी अपने-अपने प्रविष्ट विषयों को ग्रहण करती हैं। प्रज्ञापना सूत्र की मलयगिरि की वृत्ति में (१३ वीं शती) स्पृष्ट और प्रविष्ट का अन्तर बताते हुए भी कहा गया है कि जैसे-शरीर पर रेत या धूल कण लगते हैं उसी तरह इन्द्रिय का अपने विषय के साथ मात्र संस्पर्श हो तो वह विषय स्पृष्ट (स्पर्शित) कहलाता है। जबकि वे विषय जो इन्द्रिय के प्रदेशों के साथ एकाकार होते हैं, उनमें प्रवेश करते हैं, तो वे बद्ध और प्रविष्ट कहलाते हैं। उदाहरण के रूप में किसी खाद्य पदार्थ का रसनेन्द्रिय से स्पर्शित होना स्पृष्ट है, किन्तु उस पदार्थ के रस का हमारे स्वाद कोषों से एकाकार होना वह बद्ध या प्रविष्ट होना है। जैनदर्शन की यहाँ यह मान्यता है कि चारों इन्द्रियाँ अपने स्पृष्ट, बद्ध और प्रविष्ट विषयों को ही जानती हैं, परन्तु चक्षुरिन्द्रिय, अस्पृष्ट,अबद्ध और अप्रविष्ट विषयों को जानती है। यहाँ हम देखते हैं कि आगम युग तक या सर्वार्थसिद्धि के काल तक जैन आचार्यों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में अपने पक्ष का प्रस्तुतिकरण मात्र रहा है, अन्य मतों की समीक्षा नहीं। जबकि तत्त्वार्थ सूत्र की राजवर्त्तिक टीका, (आठवीं शती) प्रमाणनयतत्त्वालोक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका (सभी प्राय: ११ वीं शती) आदि ग्रन्थों में इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के प्रश्न पर न केवल स्वपक्ष का मंडन है, अपितु परपक्ष का खण्डन भी मिलता है। इस काल के जैन आचार्यों ने प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व के प्रश्न पर नैयायिकों और बौद्धों के मतों की विस्तार से समीक्षा की है।

चक्षु के प्राप्यकारित्व के सम्बन्ध में नैयायिकों की समीक्षा

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पाँचों इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के प्रश्न पर वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य दार्शनिक भी न्यायदर्शन की मान्यता के समर्थक रहे हैं अर्थात् न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य सभी पाँचों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। अत: इस सम्बन्ध में जैन दार्शनिकों द्वारा की गई न्याय दर्शन की

समीक्षा इन सभी दर्शनों पर भी लागू हो जाती है। पुनः यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन दार्शनिक भी चक्षु के अतिरिक्त अन्य चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं अत: एक ओर उन्होंने नैयायिक आदि की समीक्षा मात्र चक्षु की प्राप्यकारिता के सम्बन्ध में की है तो दूसरी ओर बौद्धों की श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा की है। यहाँ हम सर्वप्रथम चक्षु की प्राप्यकारिता की समीक्षा करेंगे फिर श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा करेंगे।

चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्यकारिता के सम्बन्ध में नैयायिकों की मान्यता यह है कि चक्षुरिन्द्रिय के विषय स्वयं आकर तो चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श नहीं करते हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय से तैजस निकलकर चक्षुरिन्द्रिय के विषयों का संस्पर्श कर उन्हें जानती है। इस पर जैनों की प्रथम आपत्ति यह है कि तैजस चक्षु से निकलकर जाता हुआ दिखाई नहीं देता है, दूसरे यदि चक्षु प्राप्यकारी है, तो वह एक साथ पर्वत, चन्द्र आदि अनेक विषयों का संस्पर्श कैसे कर सकती है। तीसरे यदि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्यकारी है तो वह अपने आकार से कई गुना बृहत्काय पदार्थों यथा पर्वत आदि का संस्पर्श कैसे कर सकती है? नैयायिकों ने जैनों के इन तीनों आक्षेपों का उत्तर इस क्रम में प्रस्तुत किया है कि प्रथम तो चक्षु से जो तैजस निकलकर चक्षुरिन्द्रिय के विषयों का संस्पर्श करता है उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं हो सकता है, क्योंकि उस तैजस में रूप अनुद्भूत हैं अर्थात् वह अमूर्त है। अत: उसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। इस पर जैनों का प्रत्युत्तर यह है कि अनुमान तो व्याप्ति पर निर्भर होता है और व्याप्ति ज्ञान की संस्थापना बिना प्रत्यक्ष के सम्भव नहीं है, अत: जिसका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है उसकी व्याप्ति स्थापना सम्भव नहीं है और जहाँ व्याप्ति ज्ञान नहीं है वहाँ अनुमान नहीं हैं। यदि यह कहा जाये कि बिल्ली, शेर, वृषभ आदि की आँखों में प्रभा (चमक) देखी जाती है, किन्तु वह प्रभा नेत्रस्थित प्रतीत होती है, बाहर जाती हुई प्रतीत नहीं होती है, अत: इस तर्क के आधार पर चक्षु प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होता है। यदि यह कहा जाये कि आँख में लगे हुए अंजन का प्रत्यक्ष नहीं होता है, फिर भी वह चक्षु-ज्ञान की निर्मलता का कारण होता है, उसी तरह चाहे तैजस का प्रत्यक्ष न हो, फिर भी वह चाक्षुष ज्ञान का हेतु होता है। नैयायिकों के इस तर्क का उत्तर देते हुए जैन दार्शनिक कहते हैं कि चक्षु में अंजन की उपस्थिति चाहे वह चक्षु नहीं देख पाये किन्तु अन्य व्यक्ति के चक्षु से तो उसका भी प्रत्यक्ष होता है। दूसरा व्यक्ति यह जान लेता है -इस आँख में अंजन है और इस आँख में नहीं। पुन: जैसे अंजन द्रव्य का अस्तित्व है, वैसे ही चाहे प्रभा (रश्मिचक्र) का अस्तित्व हो भी किन्तु चक्षु से प्रभा को बाहर जाते हुए तो

देखा नहीं जाता है। उल्लू, बिल्ली आदि अंधेरे में इसलिए नहीं देखते हैं कि उनकी आँखों से रश्मिचक्र (तेजोद्रव्य) बाहर जाता है, यदि ऐसा होता तो फिर मनुष्य को भी अंधकार में देखने में उतना ही सक्षम होना था क्योंकि तेजोद्रव्य दोनों के चक्षुओं में हैं। वास्तविकता यह है कि उनकी आँखों की पुतलियाँ अंधेरे में अधिक फैलकर प्रतिछाया को ग्रहण करने में अधिक समर्थ होती हैं। उनकी आँखों की रश्मि निकल बाहर नहीं जाती हैं। पुन: प्रभा या रश्मि या तो सूक्ष्म होगी या विभु; यदि वह सूक्ष्म है तो स्थूल पदार्थों का समग्र रूप से संस्पर्श नहीं कर पायेगी और यदि वह व्यापक है तो फिर सभी को एक साथ जान लेगी किन्तु ऐसा होता नहीं है, चक्षु दीवार आदि की ओट में रहे हुए विषयों को नहीं जान पाती है, अत:चक्षु प्राप्यकारी नहीं हो सकती हैं। यदि नैयायिकों की ओर से यह कहा जाये कि चक्षु निकटस्थ और दूरस्थ पदार्थों को एक साथ न जानकर क्रम पूर्वक ही जानती है, वह तैजस पहले निकटस्थ पदार्थ का ग्रहण करते हैं और फिर दूरस्थ का किन्तु समय का अन्तराल इतना कम होता है कि वे एक साथ प्रतीत होते हैं जैसे सुई से सौ कामल पत्तों को छेदते हुए भी हम उन्हें क्रमश: छेदते हैं किन्तु ऐसा लगता है कि हमने उन्हें एक साथ छेद दिया। इस सम्बन्ध में जैनदार्शनिकों का उत्तर यह है कि चाक्षुषज्ञान में अनेक विषयों का जो बोध होता है, उसमें क्रम नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रिय अनेक विषयों को एक साथ जानती हैं। भीड़ में हम अनेक मनुष्यों को उनके अंग-प्रत्यंगों और उनकी वेशभूषा आदि को एक साथ जानते हैं। जैनों के इस आपेक्ष का कि यदि चक्षुप्राप्यकारी है, तो वह अपने से बृहत्काय पर्वत आदि को संस्पर्श करके नहीं जान सकती हैं, नैयायिकों का उत्तर यह है कि चक्षु वास्तविक इन्द्रिय नहीं है, वास्तविक इन्द्रिय तैजस है और तैजस जैसे दीपक आकार में छोटा होकर भी अपने प्रकाश को व्याप्त करके सम्पूर्ण कमरे (कक्ष) की वस्तुओं को प्रकाशित कर देता हैं उसी प्रकार तैजस या रश्मि चक्र भी फैलकर चक्षु से बृहत्काय वस्तुओं को प्रकाशित कर जान लेता है। इसके प्रत्युत्तर में जैनों का कथन है कि प्रकाश तो पौद्गलिक है और उसका फैलना या व्याप्त होना प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, जबकि चक्षु-तैजस या रश्मिचक्र का व्याप्त होना अनुभव में नहीं आता है। अत: जब चक्षु-तैजस का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तो उसके व्याप्त होने का कथन कैसे स्वीकार किया जा सकता है। दूसरे जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि यदि चक्षु तैजस को अमूर्त (अनुद्भूत रूपवाला) मानकर उसे व्याप्त माना जाये जैसे आकाश तो ऐसी स्थिति में उसे विश्व के समस्त पदार्थों का एक साथ दृष्टा या प्रकाशक मानना होगा और तब व्यक्ति चक्षु के माध्यम से

विश्व के समस्त पदार्थों का दृष्टा-ज्ञाता हो जायेगा, किन्तु यह सत्य नहीं है। हम दीवार आदि के उस पार के पदार्थों को भी नहीं जान पाते हैं, अत: चक्षु का तैजस न तो अमूर्त माना जा सकता है और न व्यापक गुण वाला। यदि कहा जाये कि जैन भी अमूर्त आत्मा को मात्र शरीर व्यापी मानते हैं सर्वव्यापी नहीं तो फिर चक्षु-तैजस को चक्षु में ही व्याप्त मानना होगा। साथ ही यदि नैयायिक उसे प्रसारण शील मानता है तो प्रसारण को दृश्य मानना पड़ेगा। जैन प्रकाश को प्रसारणशील मानते हैं किंतु उनके अनुसार प्रकाश पौद्गलिक है और दृश्य है जबकि नैयायिकों का तैजस दृश्य नहीं है। अत: चक्षु से तैजस निकलकर बाह्यार्थ का संस्पर्श करके उसे जानता है यह सिद्ध नहीं होता है।

पुन: नैयायिकों के द्वारा यह कहा जाये कि रसनेन्द्रिय के समान चक्षु भी बाह्येन्द्रिय है अत: वह भी बाह्यार्थ का संस्पर्श करके ही उसे जानती है, तो उनका यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि जो भी बाह्येन्द्रिय होती है, वे सब प्राप्यकारी ही होते हैं -ऐसा नियम या व्याप्ति नहीं है। बाह्यार्थ चक्षु के समीप आकर न तो चक्षु का संस्पर्श करते हैं और न चक्षु को बाह्यार्थों के समीप जाकर उनका संस्पर्श करते देखा जाता है, अत: चक्षु अप्राप्यकारी है। अन्य इन्द्रियों के विषय जैसे-उन-उन इन्द्रियों के संस्पर्श करते हैं वैसे चक्षु के विषय उसका संस्पर्श नहीं करते हैं। अत: चक्षु इन्द्रिय प्राप्यकारी सिद्ध नहीं होती हैं। चक्षु के अप्राप्यकारित्व के विषय में जैनाचार्यों का एक तर्क यह है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो उसे अपना संस्पर्श करते रहे हुए अतिनिकटवर्ती अंजन आदि को भी जानना चाहिए, क्योंकि स्पर्शेन्द्रिय आदि जो भी प्राप्यकारी इन्द्रियाँ हैं वे अपने अतिनिकटवर्ती संस्पर्शित अपने विषय को जानती हैं, जबकि चक्षु अपना स्पर्श करते रहे हुए अंजन आदि के रूप को जानने में समर्थ नहीं है अत: चक्षु अप्राप्यकारी है, वह दूर से ही अपने विषयों का ग्रहण करती हैं।

बौद्ध सम्मत श्रवणेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा

ज्ञातव्य है कि जैनाचार्यों ने जहाँ एक ओर नैयायिक आदि दार्शनिकों के चक्षु के प्राप्यकारित्व का खण्डन किया, वहीं दूसरी ओर उन्होंने बौद्धों के श्रवणेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व का भी खण्डन किया है। बौद्धों का मानना है कि श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी है और वह भी अपने विषय को बिना संस्पर्श किये ही जान लेती है, वह दूरस्थ ध्वनि का ग्रहण करती है।[८] किन्तु जैनाचार्य उनके मंतव्य से सहमत नहीं हैं, वे नैयायिकों के समान ही श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानते हैं।

श्रवणेन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए बौद्धों का प्रथम तर्क यह है कि जो इन्द्रिय प्राप्यकारी होती है अर्थात् अपने विषय को संस्पर्श करके

जानती है उसे दिग्देश अर्थात् दूरी और निकटता का तथा पूर्व-पश्चिम आदि दिशा का बोध नहीं होता है जैसे रसनेन्द्रिय को अपने विषय की दूरी, निकटता आदि दिग्देश का ज्ञान नहीं होता है जबकि श्रवणेन्द्रिय को दिग्देश का ज्ञान होता है, वह यह जानती हैं कि शब्द कितनी दूरी से एवं किस दिशा से आ रहा है। अत: श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी है क्योंकि उसे दिग्देश का ज्ञान होता है। जैनाचार्यों ने उनकी इस मान्यता का खण्डन स्वयं उन्हीं की मान्यता से किया है। रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि आप (बौद्ध) यह मानते हो कि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय प्राप्यकारी हैं। इन दोनों इन्द्रियों को अपने विषयों के दिग्देश का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय यह जानती है कि किस फूल की सुगन्ध किस दिशा से आ रही है, इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय वायु के स्पर्श से यह भी जान लेती है कि यह शीतल वायु किस दिशा से आ रही है। यदि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए भी प्राप्यकारी हैं तो फिर श्रवणेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए प्राप्यकारी क्यों नहीं हो सकती है। इस पर भी यदि बौद्ध यह कहें कि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय को दिग्देश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, वे अनुमान से ही दिग्देश का ज्ञान प्राप्त करती हैं, उन्हें दिग्देश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। इस सम्बन्ध में जैनों का उत्तर यह है -घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के समान ही श्रोत्रेन्द्रिय को भी दिग्देश का ज्ञान तो अनुमान से होता है क्योंकि दिग्देश का ज्ञान उसका अपना विषय नहीं है, अत: घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के समान श्रवणेन्द्रिय को भी प्राप्यकारी मानना होगा। पुन: यदि श्रवणेन्द्रिय अप्राप्यकारी होती तो अनुकूल वायु से दूर के शब्द का भी ज्ञान और प्रतिकूल वायु में समीप के शब्द के ज्ञान का अभाव कैसे सिद्ध होता ? इससे सिद्ध होता है कि श्रवणेन्द्रिय अपने विषय शब्द को संस्पर्श करके ही जानती है अत: वह प्राप्यकारी हैं।

पुन: बौद्धों का तर्क यह भी है कि यह श्रवणेन्द्रिय प्राप्यकारी है तो बन्द कमरे में बाहर के शब्द का ज्ञान कैसे हो जाता है ? इस सम्बन्ध में जैनों का उत्तर यह है कि जिस प्रकार बन्द कमरे में वायु के सहारे बाहर रहे हुए कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों की गंध प्रवेश कर जाती है, वैसे वायु के सहारे शब्द ध्वनि भी कमरे में प्रवेश कर जाती है। अत: घ्राणेन्द्रिय से समान श्रवणेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।

आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व की समीक्षा

जैनाचार्य श्रवणेन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय के समान प्राप्यकारी इसलिए भी मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जिस प्रकार गन्ध पौद्‌गलिक एवं प्रसरणशील है, उसी प्रकार शब्द भी पौद्‌गलिक एवं प्रसरणशील हैं। जैन दर्शन की मान्यता

है कि शब्द जहाँ बोले जाते है वहाँ से यात्रा करते हुए सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं। अत: हम जो भी शब्द सुनते हैं, वह श्रवणेन्द्रिय से संस्पर्शित होकर ही अपना बोध कराता है। आज विज्ञान भी यह मानता है कि शब्द, पौद्गलिक और गतिशील है। ध्वनि की यात्रा सम्बन्धी जो भी खोज हुई है वह जैनदर्शन की ध्वनि (शब्द) सम्बन्धी मान्यताओं की वैज्ञानिक सत्यता ही सिद्ध करती है। अत: श्रवणेन्द्रिय की प्राप्यकारिता अब आधुनिक विज्ञान से भी सिद्ध हो जाती हैं।

किन्तु जहाँ तक चक्षुरिन्द्रिय की अप्राप्यकारिता का प्रश्न है, वैज्ञानिक दृष्टि से उस पर चिन्तन अपेक्षित है। न्यायदर्शन की यह मान्यता तो विज्ञान सम्मत नहीं है कि चक्षु से तैजस निकलकर अपने रूप का स्पर्श करता है, किन्तु इस बात में आंशिक सत्यता अवश्य है कि रूप प्रकाश और छाया के रूप में अपनी यात्रा करते हुए हमारी चक्षुरिन्द्रिय का संस्पर्श करता है। वस्तुत: चक्षु जिसे जानती है वह वस्तु नहीं अपितु वस्तु का प्रतिबिम्ब होता है जो चक्षु द्वारा ग्रहण किया जाता है। जैन दर्शन में शब्द के समान ही प्रकाश और छाया को भी पौद्गलिक माना गया है। अत: जैनदर्शन में प्रकाश और छाया के रूप में चक्षुरिन्द्रिय को प्राप्यकारी मानने में बाधा नहीं है। चक्षु संस्पर्श करके रूप को जानती है साक्षात् वस्तु को नहीं। जिसे वह जानती है वह उसका प्रतिबिम्ब ही हैं। अत: वस्तु की अपेक्षा से चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तु रूप उसके विषय का संस्पर्श नहीं होता है, जिसका ग्रहण होता है वह प्रकाश और छाया के रूप में परिणत उसका प्रतिबिम्ब ही है, मूल विषय नहीं। वस्तुत: प्रतिबिम्बग्राहिता चक्षुरिन्द्रिय की इन्द्रियों में विशिष्टता है और इस संदर्भ में अर्थात् प्राप्यकारित्व-अप्राप्यकारित्व की समस्या पर चक्षुरिन्द्रिय की इस विशाष्टिता को ध्यान में रखकर विचार किया जाना चाहिए।



सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. *तत्त्वार्थसूत्र - १/९*

२. *वही - १/१०-११ एवं नन्दीसूत्र - २*

३. *नन्दीसूत्र - ४*

४. *वही - ४*

५. *प्रज्ञापना सूत्र - १५/९९०*

६. *प्रज्ञापना सूत्र - १/१०*

७. *प्रज्ञापना सूत्र - १५/९९१*

८. *अभिधर्मकोश - १/४१*

9.

सांख्य दर्शन में
इन्द्रियों का प्रतिविषय अध्यवसायमूलक प्राप्यकारित्व

रजनीश कुमार शुक्ल

भारतीय प्रमाणमीमांसा की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में से एक इन्द्रिय प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर भारतीय दार्शनिक दो समूहों में बँटे हुए हैं। बौद्ध दार्शनिकों ने जहाँ कतिपय इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता की सम्भावना को प्रस्तुत कर सभी वैदिक दर्शनों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया पर एक प्रश्नचिन्ह खड़ा किया है वहीं वैदिक दर्शनों में विशेषतया न्याय, मीमांसा, सांख्य तथा वेदान्त प्राप्यकारित्व के पक्ष को सम्पुष्ट करते हैं। प्राप्यकारित्व का अर्थ है इन्द्रियों की अपने विषय के साथ जुड़कर विषय ग्राह्यता। इस दृष्टि से घ्राण, त्वक् और रसनेन्द्रिय को लेकर प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता का कोई विवाद नहीं है। इन तीनों इन्द्रियों को सभी दर्शन स्पष्ट रूप से प्राप्यकारी मानते हैं। एतद्विविषयक मूल विवाद चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रिय को लेकर के ही है।

प्राप्यकारिता के पक्षधर न्यायादि दर्शन भी इस समस्या पर एक मत होते हुए भी इन्द्रियों के स्वरूप को लेकर एक मत नहीं हैं। जहाँ, सांख्य और अद्वैत वेदान्त इस दृष्टि से एक पक्ष में हैं वहीं न्याय तथा मीमांसा दूसरे पक्ष में। नैयायिक और मीमांसक भी इन्द्रियों को लेकर सम्पूर्ण रूप से एक मत नहीं हैं, न्याय के मतानुसार जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ भौतिक हैं वहीं मीमांसा चक्षु,

रसन्, त्वक् एवं घ्राणेन्द्रिय को भौतिक मानते हैं लेकिन श्रोत्रेन्द्रिय को विभु स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार वेदान्त तथा सांख्य दार्शनिक भी वृत्ति तथा मन को लेकर एक मत तो हैं किन्तु इन्द्रियों को भौतिक स्वीकार करने के चलते वेदान्ती भी न्याय के पक्ष में खड़े हो जाते हैं।

द्रष्टव्य है कि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता का यह विवाद इन्द्रियों की भौतिकता-अभौतिकता को लेकर उतना गहरा नहीं है जितना कि इसके अन्य कारण हैं। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह ध्यातव्य है कि प्राप्यकारिता के समर्थक सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अपने विचार-सारणी में वस्तुवादी हैं जबकि अप्राप्यकारिता का मण्डन करने वाले वैयाकरण एवं बौद्ध इत्यादि न्यूनाधिक रूप में विज्ञानवादी परम्परा के हैं। इससे कहीं-न-कहीं यह ध्वनि तो अवश्य निकलती है कि प्राप्यकारिता की समस्या का वस्तुवादी विचार-सरणी के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए। इसी विषय को केन्द्र में रखकर यहाँ सांख्यवादियों की दृष्टि से प्राप्यकारिता की समस्या का विवेचन करना हमारा अभीष्ट है। यद्यपि सांख्यदर्शन के आकार ग्रन्थों सूत्र[1], कारिका इत्यादि में भी इस समस्या को स्पष्ट रूप से विवेचित किया गया है तथापि इसका विकसित स्वरूप श्लोकवार्त्तिक में कुमारिल द्वारा तथा न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट द्वारा प्रतिपादित सांख्यपक्षीय विवेचन से समझा जा सकता है। सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका[2] टीका में कुछ सीमा तक इस पर विवेचन प्राप्त होता है किन्तु यह विवेचन भी न्यायमञ्जरीकार के द्वारा प्रस्तुत सांख्य पक्ष से अधिक, कुछ भी नहीं है। वस्तुत: प्राप्यकारिता के पक्ष में सांख्य मत कितना महत्त्वपूर्ण है इसके दिग्दर्शन के लिये यहाँ कुमारिल को उधृत करना अनुचित नहीं होगा। कुमारिल इस विवाद में प्राप्यकारिता के मूल पक्षधर के रूप में सांख्यों का उल्लेख करते हुए बौद्ध विचारकों को यह चेतावनी देते हैं कि आप बौद्धगण इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानकर, तब तक मीमांसादर्शन के प्रत्यक्ष लक्षण में दोष का उद्भावन नहीं कर सकते हैं जब तक कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने वाले सांख्यादि दर्शन के अनुयायियों को परास्त नहीं कर लेते हैं।[3]

कुमारिल की इस अभ्युक्ति से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि प्राप्यकारित्व का सिद्धान्त मूलत: सांख्यों का है और बौद्धों की आपत्ति के साथ इसमें अन्य दार्शनिक निकायों को विचार परम्परा को आगे बढ़ाने का अवसर प्राप्त होता है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि इस विवाद-संवाद में सम्मिलित होने वाले सभी विचारक वस्तुवाद के न्यूनाधिक पक्षधर हैं। सांख्यों की प्राप्यकारिता के सिद्धान्त पर जो आपत्ति बौद्धदर्शन के द्वारा प्रस्तुत की गई है वह सभी वस्तुवादी दर्शनों पर समान रूप से प्रसक्त होता है। बौद्ध आपत्तियों का कुमारिल के द्वारा दिया गया प्रत्युत्तर स्पष्टत: सांख्यमत का पोषण करता है। यद्यपि इस उत्तर से स्वयं मीमांसा के मत का सुतरां पुष्टिकरण एवं स्पष्टीकरण

नहीं होता, फिर भी इस उत्तर के द्वारा कुमारिल वस्तुवादी ज्ञानमीमांसा पर बौद्धपक्ष से किये गये आक्रमण का उत्कृष्ट बचाव प्रस्तुत करते हैं। साथ ही साथ कुमारिल इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सिद्ध कर सर्वज्ञता-खण्डन के लिए आधार भी बना लेते हैं।

प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता के इस विवाद में इन्द्रियों के स्वरूप का विवेचन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा आहंकारिक; विशेषतया चक्षुरिन्द्रिय की भौतिकता-अभौतिकता को लेकर के सांख्यों का मीमांसा तथा न्याय दर्शन से मतभेद है। इसका विवेचन न्यायसूत्र में करते हुए कहा गया है कि चक्षुरिन्द्रिय भौतिक है अथवा अभौतिक यह संशय इसलिये होता है कि विषय के आँख की पुतली से समीप होने तथा दूर होने पर भी विषय की उपलंभता होती है। यदि चक्षुरिन्द्रिय को भौतिक माना जाय तो विषय का आँख की पुतली के साथ सटे होने पर ही प्रत्यक्ष संभव होना चाहिए। इसके विपरीत अभौतिक या आहंकारिक स्वीकार करने पर विषय का न सटते हुए भी प्रत्यक्षतः ग्रहण संभव है। सांख्यों की इस सम्बन्ध में स्पष्ट मान्यता है कि इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ भूत तत्त्व से उत्पन्न न होकर के तन्मात्र से उत्पन्न होती हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह तर्क अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि आँख की पुतली के नष्ट होने पर रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः इसे भौतिक ही मानना होगा। इसका प्रतितर्क यह है कि यदि चक्षु भौतिक है तो अत्यन्त समीपस्थ वस्तु का प्रत्यक्ष ही होना चाहिए-त्वगवत्, किन्तु दूर का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः इसे भौतिक न मानकर के व्यापक मानना होगा। व्यापक पदार्थ भौतिक नहीं हो सकता। अतः व्यापकत्व के आधार पर अभौतिकता की सिद्धि होती है। इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि यदि इसे भौतिक माना जाय तो उसके द्वारा महत् तथा अणु का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों को अभौतिक ही स्वीकार करना उचित होगा। इस संबंध में न्याय की अनेक प्रकार की आपत्तियाँ हैं जो इन्द्रिय को भौतिक मानते हुए उसकी प्राप्यकारिता को सिद्ध करने के लिए दी गईं हैं। किन्तु बौद्धों के द्वारा जिन दोषों का उद्भावन प्राप्यकारिता के पक्ष में किया गया है इसका उत्तर इन्द्रियों को भौतिक स्वीकार करते हुए दिया जाना कठिन है। यह कठिनाई सर्वाधिक स्पष्ट रूप से श्लोकवार्त्तिककार के विवेचन में देखी जा सकती है।

वस्तुतः सांख्य दर्शन के द्वारा प्रतिपादित इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का सिद्धान्त दो हेतुओं की पूर्ति करता है- एक तो वस्तुवाद को उत्कट द्वैत के संरक्षणपूर्वक सिद्ध करता है तो दूसरी ओर न्यायादि मतों से उलट इन्द्रियों को प्रमाण न स्वीकार करते हुए इन्द्रियवृत्तिवाद का पोषण कर लेता है। इस विचार का भी पर्यवसान अन्ततः वस्तुवादी ज्ञानमीमांसा पूर्वक उत्कट द्वैतवादी तत्त्व-मीमांसा की स्थापना ही है।

इस दृष्टि से सांख्यों की ज्ञानमीमांसा के वैशिष्ट्य को समझे बिना सांख्यदर्शन में प्राप्यकारिता के सिद्धान्त को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। पूर्व में ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि सांख्यदर्शन में इन्द्रियाँ अभिमानिक अर्थात् अहङ्कार से उत्पन्न हैं। जैसा कि युक्तिदीपिकाकार कहते हैं कारक वस्तुकारक होने से ही प्राप्यकारी होती है। इस आधार पर अभिमानिक इन्द्रियों की घटपटादि देश में वृत्ति स्वीकार करना सरल हो जाता है। सांख्यों के चिन्तन में इन्द्रियों के स्वरूप का विवेचन ही इस प्रकार का है कि इन्द्रिय वृत्ति की स्वीकार्यता सहज रूप से बन पाती है। यहाँ इन्द्रियाँ सत्वगुणप्रधानक होने के कारण लघु हैं और प्रत्यक्ष के पूर्व शरीर को न छोड़ते हुए प्रकाशवत शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषयों के साथ सम्बद्ध हो जाती हैं। घटादि आकारों में इन्द्रियों का यह परिणाम होना ही इन्द्रियवृत्ति है।[४] इन्द्रियवृत्ति सांख्यों की अत्यन्त मौलिक मान्यता और समस्या है। इसके आधार पर वे प्राप्यकारित्व की समस्या का ही नहीं अन्य विविध ज्ञानमीमांसीय समस्याओं का समाधान सहजतापूर्वक कर लेते हैं। इस 'वृत्ति' को लक्षित करते हुए सांख्यदर्शन में कहा गया है कि रूपादिषु पञ्चानां लोचनमात्र मिष्यते वृत्तिः। रूपादि का आलोचन ही वृत्ति है। आलोचन तथा ग्रहण को यहाँ समान अर्थ में लिया गया है। 'मात्र' शब्द से यह स्पष्ट है कि ग्रहणातिरिक्त इन्द्रियों का अन्य कोई व्यापार नहीं है। इस प्रकार न्याय दर्शन के इन्द्रियप्रमाणवाद का इस से खण्डन हो जाता है। इस लक्षण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य एवं विशेष स्वरूपात्मक ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक प्रतीति कराना मात्र ही इन्द्रियों की वृत्ति है।

यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ग्रहण-मात्र ज्ञान नहीं है। ग्रहण नियतविषयक होता है जबकि ज्ञान अनियतविषयक भी हो सकता है। इसी कारण से सांख्यों ने अनियत विषयक अन्तःकरण की ही वृत्ति को ज्ञान स्वीकार किया है। जो अनियतविषयक है उसका विषय सर्व होता है। अतः अनियतविषयक अन्तःकरण से सर्व विषयक ज्ञान संभव है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि नियत विषय होते हुए भी इसे प्रदीपवत प्रकाशक मानने में क्या आपत्ति है ? इसके उत्तर में सांख्यवादी स्पष्टतः कहते हैं कि ऐसा स्वीकार करने पर जिस प्रकार प्रकाशक प्रदीप को विषय के जानने वाले अन्य करण की अपेक्षा होती है उसी प्रकार इन्द्रियों को भी कारणान्तर की अपेक्षा होने लगेगी। किन्तु इन्द्रियातिरिक्त करण को स्वीकार करना उचित नहीं है, एतदर्थ इन्द्रियों को विषय का प्रकाशक नहीं माना जा सकता है।

इस समस्या को ठीक से समझने के लिए आवश्यक है कि सांख्यों की दृष्टि से ग्रहण, प्रत्यय एवं प्रकाश के बीच के अन्तर को स्पष्ट कर लिया जाय। विषयाकार इन्द्रियवृत्ति ग्रहण है तथा यह गाय है, वह दौड़ रही है, इस प्रकार का निश्चय प्रत्यय है- प्रत्यय को ही बुद्धि की वृत्ति अथवा अध्यवसाय के रूप में भी

माना गया है। ग्रहण वर्तमानकालिक होता है जबकि प्रत्यय में त्रिकाल विषयता होती है। दोनों के विपरीत प्रकाश विषयरूपता को ग्रहण नहीं करता है, वह तो व्यवधान रूप छायात्मक धर्म अन्धकार को नष्ट कर चक्षुरिन्द्रिय को अनुगृहीत करने के साथ विषय का व्यंजक बनता है।

प्राप्यकारिता पर बौद्ध पक्ष की आपत्ति के चार महत्त्वपूर्ण तर्क हैं, [५] सान्तर ग्रहण के कारण, पृथुतर ग्रहण के कारण, दिग्देश व्यवहार से, सन्निकृष्ट और अतिदूर विषय का समान काल में गहण होने से इन्द्रियों को अप्राप्यकारी स्वीकार करना होगा। इन चारों तर्कों में प्रथम दो दिङ्नाग के द्वारा अत्यन्त प्रखरता के साथ उठाये गये हैं। उनका मानना है कि प्राप्यकारिता के पक्ष को स्वीकार करने पर अन्तर के साथ विषय के ग्रहण की समस्या खड़ी होगी। वृक्ष बहुत दूर है, शब्द बहुत दूर से आ रहा है इत्यादि का ज्ञान कठिन हो जायेगा। इसके साथ ही दीर्घ परिमाण की वस्तुओं का ग्रहण भी दुष्कर होगा। जिस प्रकार प्राप्यकारी त्वगेन्द्रिय से वस्तु का उतने ही अंश में ग्रहण होता है जितने अंश में वस्तु का त्वग् के साथ प्राप्ति सम्बन्ध बनता है। चक्षु आदि की प्राप्यकारिता को स्वीकार करने के साथ दूर नजदीक इत्यादि के अन्तर का ग्रहण व्याख्यायित नहीं होगा।

इसके उत्तर में सांख्य मत से यह कहा जा सकता है कि जिस इन्द्रिय में जिस विषय को ग्रहण करने की क्षमता होती है वह इन्द्रिय ही उस विषय को ग्रहण करती है। इसका निर्णय इन्द्रियों के कार्य के द्वारा ही हो सकता है, यही उस इन्द्रिय की वृत्ति है। अत: प्राप्यकारिता के पक्ष में यह अनुमान दिया जा सकता है कि बहिरेन्द्रियत्वात् त्वगादिवत् प्राप्यकारित्वं। किन्तु इस अनुमान पर बौद्ध पक्ष से प्रत्यक्ष विरुद्धता का तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। पुन:, इस अनुमान के प्रतितर्क के रूप में यह भी कहा जा सकता है कि वह्निरनुष्ण: द्रव्यत्वात् जलवत् अनुमान जैसे दुष्ट है उसी प्रकार यह अनुमान भी दुष्ट है। किन्तु वृत्ति को स्वीकार करने पर यह दोष उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि इस अनुमान में दोष तभी प्रसक्त होता है जब इन्द्रियाँ भौतिक हों। किन्तु सांख्यदर्शन में इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं। इसी कारण प्रदीप के समान शरीर से बाहर निकल कर घटादि आकारों में परिणत हो जाती हैं। ऐसा मानने से सांख्य दृष्टि से कोई बाधा नहीं।

अब यह प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के आधार पर सांख्यदर्शन में वस्तुवाद का रक्षण किस प्रकार से हो पाता है? इसको स्पष्ट करने के लिए इन्द्रियवृत्ति को स्पष्ट करने के बाद अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने से बाहर निकलकर वस्तुओं का ग्रहण करती हैं। यदि ज्ञानेन्द्रियों और अन्त:करण से बाहर उनकी स्थिति को स्वीकार नहीं किया जायेगा तो इन्द्रियों की प्राप्यकारिता की सिद्धि के लिए द्राविड़-प्राणायाम की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखने की आवश्यकता

है कि सांख्यदर्शन इन्द्रिय या अन्त:करण का किसी वस्तु की अनुपलब्धि के आधार पर उसका अभाव नहीं मानते। इसके विपरीत सांख्यों ने पदार्थ की सूक्ष्मता अथवा व्यवधान इत्यादि को उसका हेतु स्वीकार किया है।

अब एक प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है कि इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं तथा चित्त का एक आयाम इसके साथ ही इन्द्रिय भी है, अत: मन की प्राप्यकारिता को स्वीकार करके भौतिक इन्द्रियों की प्राप्यकारिता की भी सिद्धि वेदान्त सम्मत तरीके से की जा सकती है। इस कल्पना में लाघव भी दिखाई देता है। किन्तु यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि मन का धर्म संकल्प-विकल्प है। यह ज्ञानेन्द्रिय के साथ ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय के साथ कर्मेन्द्रिय हो जाता है। साथ ही मन अध्यवसाय वृत्ति वाला है। प्राप्यकारिता के लिये प्रत्ययरूप अध्यवसाय की नहीं ग्राहककारणभूत इन्द्रिय की आवश्यकता है जिससे ग्रहण कार्य सम्पन्न हो सके। यह कार्य चित्त अथवा मन के द्वारा संभव नहीं है। अत: इन्द्रियों की प्राप्यकारिता को स्वीकार ही करना पड़ेगा तथा सर्वविध शुद्ध प्राप्यकारिता की स्थिति अभौतिक इन्द्रिय की स्वीकृति से बन सकती है। अभौतिक इन्द्रियाँ व्यापक होते हुए ही प्राप्यकारिता का सम्यक् सम्पादन कर सकती हैं। इन्द्रियों को आहंकारिक और विभु मानना इसलिए भी आवश्यक है ताकि वे वृहद् पर्वतादि को व्याप्य रूप में ग्रहण कर सकें। अत: मन की प्राप्यकारिता को यदि किसी रूप में स्वीकार भी करना है तो परम्परया ही किया जा सकता है, क्योंकि साक्षात् विषय-ग्रहण में मन की भूमिका नहीं होती। चूँकि अनवधान की स्थिति में ग्रहण भी नहीं होता है अत: ग्राहक इन्द्रियों का मन का परम्परया ग्रहण में योगदान होता है और इस रूप में उसकी प्राप्यकारिता संभव हो सकती है। किन्तु निर्दुष्ट स्थिति में मात्र इन्द्रियों में ही प्राप्यकारित्व है।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. *सांख्यसूत्र - नाप्राप्त-प्रकाशकत्वमिन्द्रियाणाम् - ५/१०४, एवं- प्राप्तार्थ प्रकाशलिङ्गाद्वृत्ति सिद्धि: - ५/१०६*

२. *युक्तिदीपिका ३/२६-२८- द्विविधानि इन्द्रियाणि....अपहृत्य व्यञ्जकत्वाय कल्पते, चक्षुषो अनुग्रहाय।*

३. *मीमांसाश्लोकवार्त्तिक - प्रत्यक्षसूत्रम् - ४० से ५१ तक।*

४. *विज्ञानभिक्षु - तथा च स्वार्थ-सन्निकर्ष- जन्याकारस्याश्रयो वृत्ति: प्रत्यक्ष प्रमाणमिति निष्कर्ष:।... बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्थ शिखातुल्या बाह्यार्थसन्निकर्षादिव तदाकारोल्लेखिनी भवति।*

५. *वाचस्पति मिश्र, न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका - पृ. ११८, सान्तर ग्रहणं न स्यात्....स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात्।*

10.

समवेत रूप में
इन्द्रिय प्राप्यकारित्वाप्राप्यकारित्व विमर्श

शंकरदयाल द्विवेदी

प्रत्यक्ष प्रमाण के सहकारिभूत षड्विध सन्निकर्षों का औचित्य केवल तभी सम्भव है, जब मनस् युक्त सभी इन्द्रियों में विषय को प्राप्त करने का सामर्थ्य स्वीकार किया जाये। इस हेतु इन्द्रिय और अर्थ के बीच सन्निकटता आवश्यक है। अत: भारतीय दर्शन में सन्निकटता के आधार पर परिभाषणीय इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को सम्भव बनाने के लिये इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का सिद्धान्त विकसित हुआ। इन्द्रियों की प्राप्यकारिता से अभिप्राय इन्द्रियों की उस शक्ति या स्वभाव से है जिसके द्वारा वे अपने-अपने विषय को प्राप्त करके सन्निकर्ष बनाती हैं। प्राप्यकारिता का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी इन्द्रियाँ सभी विषयों के प्रति प्राप्यकारी हैं। अपितु अलग-अलग इन्द्रियों की अलग-अलग विषयों के प्रति प्राप्यकारिता होती है। जिस प्रकार इन्द्रिय में प्राप्यकारिता की सामर्थ्य होती है, उसी प्रकार अर्थों में भी अर्थ्यमानता की सामर्थ्य होती है। तात्पर्य टीकाकार कहते हैं- "अर्थग्रहणेनार्थ्यमानतया ज्ञेयस्वरूपयोग्यतादर्शिता।" अर्थात् अर्थ की अर्थ्यमानता का अभिप्राय है- ज्ञेयस्वरूपयोग्यता, जिसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय में अर्थ को प्राप्त करने की प्राप्यकारिता नामक सामर्थ्य के होते हुए भी उससे अर्थ का सन्निकर्ष तब

तक नहीं होगा जब तक अर्थ में ज्ञेयस्वरूपयोग्यता न हो। जैसे कि इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के होते हुए भी आकाश और परमाणु में ज्ञेयस्वरूपयोग्यता न होने से परमाणु और आकाश का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होता।

इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व के विषय में भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों में दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। प्रथम मत के अनुसार सभी इन्द्रियों में इस प्रकार की प्राप्यकारिता का अभाव है, उसी मत में कुछ लोग घ्राण, रसन और त्वक् की प्राप्यकारिता तो स्वीकार करते हैं। किन्तु चक्षु और श्रोत्र की प्राप्यकारिता का निषेध करते हैं। दूसरे मत में सभी इन्द्रियों में प्राप्यकारित्व का होना स्वीकार किया जाता है।

प्रथम मत - यह मत बौद्धों का है। वस्तुत: बौद्धतार्किक दिङ्नाग ने सर्वप्रथम अक्षपाद के प्रत्यक्षलक्षक सूत्र का खण्डन करते हुये इन्द्रियों की प्राप्यकारिता पर प्रश्न उठाकर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को असम्भव बताया है। प्रचलित धारणा है कि बौद्ध तार्किक सभी इन्द्रियों को अप्राप्यकारी सिद्ध करते हैं। परन्तु बौद्ध तार्किक केवल चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध करते हैं और इसी आधार पर इन्द्रियों को अप्राप्यकारी घोषित करते हैं।[२] इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विरोध में बौद्धों के निम्नलिखित तर्क हैं -

१. सान्तरग्रहणात् - अर्थात् सान्तर या दूर की वस्तु का ग्रहण करने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हो सकतीं। इन्द्रियों को प्राप्यकारी कहा जा सकता था यदि वह केवल सन्निकटस्थ वस्तु का ही ग्रहण करतीं, किन्तु आँख और श्रोत्र विप्रकृष्ट या अतिदूर की वस्तु का भी ग्रहण करती हैं, अत: इन्हें प्राप्यकारी नहीं कहा जा सकता।

२. पृथुतरग्रहणात् - इन्द्रियाँ अपने परिमाण से महत्तर या अपेक्षाकृत बहुत बड़े परिमाण वाली वस्तु का भी ग्रहण करती हैं। यदि वह अपने परिमाण के बराबर वाले दृश्य को देखतीं तो प्राप्यकारी कही जा सकती थीं। अत: इन्द्रियाँ प्राप्यकारी नहीं हैं।

३. दिग्देशव्यपदेशात् - इन्द्रियाँ यदि प्राप्यकारी होतीं तो स्वसन्निकटस्थ वस्तु का ही ग्रहण करतीं और उस समीपस्थ विषय के लिये दिग्देश का कथन सम्भव नहीं होता। परन्तु हम प्रकटत: इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात वस्तुओं के विषय में दिशा और देश का कथन करते हैं। अत: इन्द्रियाँ के प्राप्यकारित्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

४. एककालग्रहणात् - समीपवर्ती और दूरवर्ती विषयों का समान काल में ग्रहण देखा जाता है। प्राप्यकारी इन्द्रियों के द्वारा समीपस्थ शाखा और अतिदूरस्थ चन्द्रमण्डलादि विषयों का एक समान काल में ग्रहण नहीं होना चाहिए था।

५. अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षम् - चक्षुर्गोलक या कृष्णतारा के बाहर निकलकर विषय तक पहुँचने की बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि यह कहें कि कृष्णतारा में स्थित सामर्थ्य ही इन्द्रिय है जो दूरवर्ती विषय को प्राप्त करती है, तो ठीक नहीं है, क्योंकि चिकित्सा आदि के प्रयोग कृष्णतारा के साथ ही होते हैं और उसे ही सब लोग नेत्रेन्द्रिय कहते हैं। यदि चक्षुर्गोलक से बाहर आँख द्वारा विषय का प्रत्यक्ष माना जाय तो पलक गिरने पर भी आँख द्वारा विषय का ग्रहण होना चाहिए था। दिङ्नाग के उपर्युक्त तर्कों का संग्रह निम्न कारिकाओं में देखा जा सकता है-[३]

सान्तरग्रहणं न स्यात् प्राप्तौ ज्ञानेऽधिकस्य च।
अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षं तच्चिकित्सादियोगतः॥
सत्यपि न बहिर्भावे न शक्तिर्विषयेक्षणे।
यदि च स्यात्तदा पश्येदप्युन्मील्य निमीलनात्॥

इस प्रकार बौद्धों द्वारा इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विरुद्ध अनेक तर्कों की बौछार कर यह सिद्ध किया गया है कि इन्द्रियाँ प्राप्यकारिणी नहीं हैं और इस प्रकार अप्राप्यकारिता के कारण इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की असंगति दिखाकर बौद्धों ने न्याय के प्रत्यक्ष लक्षण का भी खण्डन किया है।

द्वितीय मत - न्याय दर्शन में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रमा को प्रत्यक्ष कहा गया है। प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति इन्द्रियाँ करण हैं और इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुये नैयायिकों ने इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन किया है। न्यायदर्शन एक बाह्यार्थवादी दर्शन है और उसकी ज्ञानमीमांसा अपेक्षाकृत अधिक तार्किक एवं लोकसम्मत है। इन्द्रियों की अनेकता और विषयों की बहुलता के कारण इन्द्रियों की प्राप्यकारिता अनेक रूपों में देखी जाती है। चक्षुरादि भौतिक इन्द्रियाँ अपने- अपने कारणभूत द्रव्य के सूक्ष्म प्ररमाणुओं से उत्पन्न हुई हैं। ये सब स्वविषयग्रहणसामर्थ्य रूप की है, अतः सूक्ष्म, अदृश्य और अतीन्द्रिय हैं। हम व्यवहार में जिसे आँख, नाक, कान जिह्वा और त्वचा कहते हैं ये वस्तुतः इन्द्रियों

के अधिष्ठान हैं। इन्द्रियों द्वारा अवयवी द्रव्य, उनमें समवेत गुण, कर्म एवं जाति, इन सबके अभाव और समवाय- ये सब तत्तद् इन्द्रिय के प्राप्यकारी विषय हैं। इस प्रकार की प्राप्यकारिता के फलस्वरूप संयोग, संयुक्त समवाय, सुयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्यभाव नामक छ: प्रकार के सन्निकर्ष उत्पन्न होते हैं। तैजस परमाणुओं से उत्पन्न चक्षुरिन्द्रिय में प्रसरणशीलता होने से वह समीप और दूर के विषयों का ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है। यद्यपि न्यायदर्शन में अर्थ के (१) महत्परिमाण, (२) उद्भूतरूप, (३) प्रकाश और (४) व्यवधानराहित्य को भी चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्यकारिता के लिये आवश्यक माना गया है। ऐसे ही नव्यन्याय में महत्परिमाण को छहों इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के लिये आवश्यक माना गया है। श्रोत्र की प्राप्यकारिता का नियम भिन्न है। एक तो श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दगुणाश्रय आकाश का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि श्रोतेन्द्रिय भी आकाश ही है और इन्द्रिय स्वयं अतीन्द्रिय हो से अपना ग्रहण नहीं करती। दूरदेश में उत्पन्न क्षणिक और आशुविनाशी शब्द को सजातीय शब्दान्तर का जनक मानकर उत्पन्न हुआ शब्दसन्तान कान तक पहुँचता है। अत: श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता शब्दसन्तान के श्रवण देश में पहुँचने के कारण है। रसनेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय की प्राप्यकारिता तो लोकसिद्ध है। रसनेन्द्रिय की प्राप्यकारिता षड्विध उद्भूत रसों, उनकी जातियों और अभावों के प्रति है। त्वगिन्द्रिय की प्राप्यकारिता शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत उद्भूतस्पर्श के अलावा पृथ्वी, जल और तेज के प्रति भी है। प्राचीन नैयायिक वायु को अतीन्द्रिय मानते हैं। लेकिन नव्यन्याय में वायु के प्रत्यक्ष में स्पर्शेन्द्रिय की प्राप्यकारिता स्वीकार की गयी है। घ्राणेन्द्रिय की प्राप्यकारिता वायु द्वारा प्रेषित पुष्प आदि से फैलने वाले गन्धाश्रय परमाणुओं के घ्राण से सन्निकटस्थ होने पर उद्भूत गन्ध के प्रति है। किन्तु घ्राणेन्द्रिय गन्धाश्रय पृथ्वी आदि द्रव्यों का ग्रहण करने में असमर्थ होती है।

न्यायदर्शन में षड्विध सन्निकर्षों के अतिरिक्त आत्मन: सन्निकर्ष, मन: इन्द्रिय सन्निकर्ष को भी प्रत्यक्ष के लिए आवश्यक माना गया है। अत: बाह्य विषयों के प्रति मनस् की प्राप्यकारिता नहीं होती। किन्तु आत्मस्थ गुणों - सुख-दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान के प्रति और आत्मप्रत्यक्ष के समय आत्मा के प्रति मनस् की प्राप्यकारिता है। आत्मस्थ गुणों के प्रति मनस् और सुखादि का सन्निकर्ष और मनस् और आत्मा का सन्निकर्ष स्वीकार किये जाते

हैं और आत्मा के प्रत्यक्ष के समय एकमात्र मनस् और आत्मा का सन्निकर्ष ही स्वीकार किया जाता है।

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विषय में नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अनुमान है- इन्द्रियाणि प्राप्यकारिणी कारकत्वात् वास्यादिवत्।[४] जिस प्रकार छिदा के करण कुल्हाड़ी को प्राप्यकारी कहा जाता है, क्योंकि वह लकड़ी को प्राप्त कर उसके साथ छिदाजनक संयोग बनाकर छिद्र उत्पन्न करता है। इन्द्रियाँ भी उसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति करण कारण होती हैं, और कारकत्व के कारण वह भी प्राप्यकारी होती हैं। न्यायदर्शन के प्राचीन आचार्यों- उद्योतकर (न्यायवार्त्तिक), वाचस्पति मिश्र (तात्पर्य टीका), जयन्त भट्ट (न्यायमञ्जरी) और उदयनाचार्य (न्यायपरिशुद्धि), ने इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विरुद्ध बौद्धों के तर्कों का विस्तार से खण्डन करके प्राप्यकारित्व पक्ष को दृढ़तर बनाया है जिसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाना समीचीन होगा -

१. बौद्धों के प्रथम हेतु सान्तर ग्रहण के निम्नलिखित सम्भावित अभिप्रायों में से प्रत्येक का खण्डन किया गया है -

(क) अप्राप्त का ग्रहण - इस अर्थ के स्वीकार करने पर बौद्धों का अनुमान होगा- इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं, अप्राप्तग्राही होने से स्पष्ट है कि यहाँ जो हेतु है वही साध्य है, अत: त्याज्य है।

(ख) अन्तर के साथ ग्रहण - यहाँ अन्तर का अर्थ क्या है- आकाश, अभाव या कोई दूसरा द्रव्य। 'आकाश के साथ ग्रहण' यह अर्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि आकाश अतीन्द्रिय है। अभाव के साथ ग्रहण यह अर्थ भी समीचीन नहीं है क्योंकि अभाव का ग्रहण विशेषणविशेष्य भाव नाम के एक अतिरिक्त सन्निकर्ष के द्वारा होता है। यदि 'अन्य किसी द्रव्य के साथ ग्रहण' यह तीसरा सम्भावित अर्थ स्वीकार करें तो यह अन्य द्रव्य इन्द्रिय द्वारा अर्थग्रहण के व्यवधान डालने वाले दीवार आदि के रूप में ही हो सकता है जो ग्रहण का साधक नहीं अपितु बाधक है।

(ग) सान्तर है जो उसका ग्रहण-सान्तर: इति ग्रहणम् - इस अर्थ को स्वीकार करने पर इसके आधार पर इन्द्रिय द्वारा प्राप्ति या अप्राप्ति सिद्ध नहीं होती अपितु यह शरीरावधि को एक अतिरिक्त कारण के रूप में सिद्ध करता है। जो वस्तुएँ इन्द्रिय और शरीर-दोनों से सम्बद्ध होती हैं वे निरन्तर होती हैं, जहाँ केवल इन्द्रिय ही वस्तु से सम्बद्ध होती है, वहाँ सान्तरता प्राप्त

होती है। अत: इसके द्वारा इन्द्रिय की अप्राप्तप्राप्यकारिता नहीं सिद्ध होती, अपितु शरीरावधिनिमित्तकता ही सिद्ध होती है।

२. बौद्धों का दूसरा हेतु है- पृथुतरग्रहणात्। अर्थात् इन्द्रिय के परिमाण से अधिकतर परिमाण वाले राष्ट्र वनादि का चाक्षुष प्रत्यक्ष। न्यायदर्शन में परिमाण को एक गुण माना गया है और द्रव्यों के परिमाण के प्रति इन्द्रियों को प्राप्यकारी कहा गया है। चक्षुरिन्द्रिय की प्राप्यकारिता वटधान्य अर्थात् बरगद के बीज से लेकर गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक है। नैयायिकों के विचार से अणु और महत् सब प्रकार के परिमाण वाले विषयों का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्ध मात्र से होता है। वस्तुत: परिमाण के ग्रहण के लिये नैयायिकों ने छह सन्निकर्ष के अलावा चतुष्टय सन्निकर्ष को आवश्यकता बताया है - यह चतुष्टय सन्निकर्ष है -[६]

१. अवयवी इन्द्रिय के द्वारा अवयवी अर्थ क़ा सन्निकर्ष,
२. इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अवयवी अर्थ का सन्निकर्ष,
३. अवयवी इन्द्रिय के द्वारा अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष,
४. इन्द्रिय के अवयवों द्वारा अर्थ के अवयवों का सन्निकर्ष,

३. बौद्धों का तीसरा हेतु है 'दिग्देश व्यपदेश'। नैयायिकों का कहना है कि प्रत्यक्ष द्वारा अर्थ के विषय में किया गया दिग्देश का कथन इन्द्रियों की अप्राप्यकारिता नहीं सिद्ध करता अपितु इससे भी शरीरावधिनिमित्त की आवश्यकता ही सिद्ध होती है। इन्द्रियाँ अत्यन्त समीपवर्ती और दूरवर्ती वस्तुओं का जो ग्रहण करती हैं उनमें से जो अर्थ शरीर सम्बद्ध होते हैं उनमें दिग्देश का व्यपदेश नहीं होता किन्तु जो अर्थ शरीर से बाहर होते हैं उनमें शरीरावधिनिमित्तान्तर द्वारा दिग्देश का कथन होता है।

४. बौद्धों का चौथा तर्क है - तुल्यकालग्रहणात् न्यायपक्ष का उत्तर है कि समीपवर्ती और दूरवर्ती वस्तुओं का तुल्यकाल ग्रहण वास्तव में होता ही नहीं। यद्यपि इन्द्रियाँ प्रकाशक होती हैं, अत: गतिमान् प्रकाश की तरह अपने विषय तक अत्यन्त शीघ्रता से पहुँचती हैं। इसी से निकटवर्ती शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमा के प्रकाश की गति से काम करने वाले तैजस परमाणुओं से उत्पन्न चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने में आये सूक्ष्मकालभेद को न समझ पाने के कारण ऐसा आरोप लगता है। इस सूक्ष्म काल भेद को उत्पलपत्रशतव्यथन न्याय से समझा जा सकता है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सन्निकट उत्पन्न शब्द और

सुदूर आकाश में उत्पन्न गर्जन के बीच कालभेद श्रवणेन्द्रिय द्वारा स्पष्ट: समझा जाता है। अत: यह आरोप निराधार है।

५. 'अधिष्ठानाद् बहिर्नाक्षम्' आदि तर्क के विरोध में न्याय मत श्रोत्र, चक्षुष् आदि को इन्द्रिय न मानकर इन्द्रिय का अधिष्ठान ही मानता है। न्याय पक्ष अधिष्ठेय इन्द्रिय की रुग्णता दूर करने के लिये अधिष्ठान चक्षुर्गोलक के साथ चिकित्सा प्रयोग में दोष नहीं मानता। जिस प्रकार कूष्माण्ड के लतामूल के सींचने या काटने से उसके फल की वृद्धि या विनाश होते हैं, उसी प्रकार अधिष्ठान चक्षुर्गोलक के स्वास्थ या रुग्ण होने पर इन्द्रिय के भी स्वस्थ, रुग्ण होने तथा चक्षुर्गोलक के उपचार से इन्द्रिय के स्वस्थ होने में कोई दोष नहीं है। अधिष्ठान कृष्णतारा में रहने वाली चक्षुरिन्द्रिय अधिष्ठान से निकलकर विषय का ग्रहण करती है, किन्तु वही कृष्णतारा के नष्ट हो जाने पर विषय ग्रहण की सामर्थ्य खो देती है। जो नेत्र निमीलन के बाद भी प्रत्यक्ष होने का आरोप है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि निमीलन की दशा में आँख की पलक ही व्यवधान बन जाती है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इन्द्रिय की प्राप्यकारिता के लिये व्यवधानराहित्य आवश्यक है - चाहे वह व्यवधान कुड्य (दीवार) कटादि (चटाई) हो या फिर नेत्र की पलक। कुड्यादि आवरणों के द्वारा इन्द्रिय की प्राप्यकारिता में बाधा पहुँचाने का तथ्य भी प्राप्यकारिता पक्ष का ही समर्थन करता है। यदि इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मान लिया जाय तब इन्द्रियों द्वारा अर्थ को प्राप्त करने में कुड्यादि का व्यवधान बनाना ही सम्भव नहीं रह जायेगा।

६. कुछ इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने के पक्ष के विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि इन्द्रियों के इन्द्रियत्व में कोई विलक्षणता नहीं है। चक्षु: श्रोत्रे प्राप्यकारिणी इन्द्रियत्वात् घ्राणादिवत्। अर्थात् जिस प्रकार घ्राण, रसन आदि इन्द्रिय होने से प्राप्यकारी हैं, उसी प्रकार चक्षु और श्रोत्र भी इन्द्रिय होने के कारण प्राप्यकारी होंगे और यदि बौद्ध लोग चक्षुरादि इन्द्रियों को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए सभी इन्द्रियों को अप्राप्यकारी कहें तो नैयायिक पुन: कारकत्व हेतु देकर 'इन्द्रियं प्राप्यकारी, कारक त्वात् वास्यादिवत्' यह अनुमान दुहरा देंगे। अर्थात् करण कारक होने के कारण समस्त इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, वास्यादि की तरह।

इस प्रकार बड़ी सूक्ष्मता से विचार करते हुए न्यायपक्ष से बौद्धों के सभी तर्कों का खण्डन करके इन्द्रियों की प्राप्यकारिता और इसके द्वारा स्वाभिमत

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को अव्याहत रखते हुए अक्षपाद के प्रत्यक्ष लक्षक सूत्र को निर्दुष्ट सिद्ध किया गया है।[८]

तृतीय मत - तृतीय मत के रूप में हम यहाँ सांख्यों के अभिमत को ले सकते हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न मानी गयी हैं। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ अहंकार से सात्त्विक अंश से उत्पन्न होती हैं और इसलिये इन्द्रियाँ प्राप्यप्रकाशकारी मानी जाती हैं। सांख्य-पक्ष यह शंका व्यक्त करता है - जो लोग इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से मानते हैं, उनके लिये इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व सिद्ध करना कठिन है, भौतिक इन्द्रियों का दूरवर्ती विषयों तक पहुँचना सम्भव नहीं है, जबकि आहंकारिक इन्द्रियाँ व्यापक होने के कारण समीप और दूर के समस्त विषयों के प्रति प्राप्यकारी होंगी।

सांख्यमत का खण्डन - जयन्त प्रभृति नैयायिक सांख्यों के आहंकारिकेन्द्रियवाद का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार केवल इसी कारण इन्द्रियों को अहंकार से उत्पन्न मानन अनुचित है। भूतप्रकृतिक इन्द्रियाँ भी प्राप्यकारी हो सकती हैं। वस्तुत: ज्यादा विरोध चक्षुरिन्द्रिय द्वारा दूरवर्ती विषयों के ग्रहण को लेकर है। अत: जयन्त तैजस परमाणुओं से उत्पन्न चक्षुरिन्द्रिय में प्रसरण क्षमता स्वीकार करते हैं।[९] चक्षुरिन्द्रिय अपने अधिष्ठान चक्षुर्गोलक से बाहर निकलकर विषय को प्राप्त करता है। चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्गोलक की रूपग्राहक सामर्थ्य है जो एक प्रकार की शक्ति है और चक्षुर्गोलक आदि अधिष्ठान इस प्रकार की शक्ति के आश्रय हैं। तेज परमाणुओं से उत्पन्न चक्षुरिन्द्रिय से कदाचित् दहनोत्पत्ति का प्रसङ्ग आने के प्रश्न पर जयन्त कहते हैं कि जिस भड़भूजे के भर्जनकपाल में स्थित तप्तबालुका में तेजोप्त परमाणु उपस्थित तो रहते हैं, पर वहाँ अग्नि नहीं उत्पन्न; होती उसी प्रकार आँखों से भी आग उत्पन्न होने का प्रश्न करना अनुचित है।[१०] निष्कर्ष रूप में जयन्त न्यायमान्यता के अनुसार इन्द्रियों के भौतिकत्व का समर्थन करते हुये सभी इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन करते हैं।[११]

चतुर्थ मत - प्रकृत प्रसंग में चतुर्थ मत के रूप में वेदान्त का पक्ष रखा जा सकता है। इस मत में भी प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आवश्यक माना गया है। मध्वाचार्य ने इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व का समर्थन करते हुए कहा है कि इन्द्रियाँ यदि विषय को प्राप्त किये बिना विषय का ग्रहण करने में

समर्थ होतीं तो दूरस्थ वस्तुओं के स्पर्श और रस का भी ग्रहण किया जाता। यदि यह कहा जाय कि केवल आँख और श्रोत्र ही अप्राप्यकारी हैं तो उस पर वेदान्तियों का कहना है कि तब आँख और श्रोत्र नष्ट हो चुके दृश्यों का, शब्दों का ग्रहण क्यों नहीं करते। अत: इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विषय में वेदान्तियों के विचार नैयायिकों से मिलते जुलते हैं। श्रोत्र के विषय में विद्यारण्य का विचार है कि आँख की ही तरह श्रोत्रेन्द्रिय भी दूरस्थ शब्दों का श्रवण करने की सामर्थ्य रखती है। इसके लिये शब्द का सन्तान मानने की आवश्यकता नहीं है। शब्दसन्तान न मानने के पीछे वेदान्तियों का तर्क है कि तब शब्दों की उत्पत्ति के समय और दिशा में अन्तर करना सम्भव नहीं होगा। कान में पहुँचे शब्द के ग्रहण के साथ अलग-अलग समय और दिशाओं में शब्दोत्पत्ति का ज्ञान नहीं होगा। जबकि हम प्रत्यक्षत: इस प्रकार का अनुभव करते हैं। इस प्रकार किञ्चित् संशोधन के साथ वेदान्तदर्शन में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।[१२]

इस प्रकार उपर्युक्त विमर्श के आधार पर कहा जा सकता है कि न्याय दर्शन में जिस व्यापकता के साथ इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के पक्ष को उपस्थापित किया गया है, आस्तिक परम्परा के सभी दर्शनों में उसी का समर्थन किंचित्-किंचित् भेद और परिष्कार के साथ किया गया है। इस पक्ष को प्रबलतर बनाने में कुमारिल भट्ट का योगदान बड़ा ही उल्लेखनीय रहा है। यहाँ उसे सन्दर्भ बनाया जाना सम्भव नहीं हो सका। वस्तुत: इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का प्रश्न आज भी ज्ञानमीमांसीय दृष्टि के लिये उपयोगी है। आधुनिक शरीर विज्ञानी भी यह मानते हैं कि आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं, इन स्थानों पर स्थित संवेदक तंत्रिका के विभिन्न अवयवों के माध्यम से सांवेदनिक प्रभाव मस्तिष्क तक पहुँचकर विभिन्न प्रकार के अनुभवों का आकार ग्रहण करते हैं। मनोविज्ञान की शाखा के रूप में कॉगनिटिव साइन्स के अन्तर्गत ज्ञान प्रक्रिया की वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक व्याख्या के प्रयत्न अभी समाप्त नहीं हुए हैं। भारतीय ऋषियों का प्राचीन दर्शन आज के अनुसन्धाताओं का भले ही मार्गदर्शन न करे, किन्तु पाथेय अवश्य बनेगा, इस कारण प्राप्यकारिता आदि के प्रश्न वर्तमान में भी प्रासङ्गिक बने हुए हैं।



संदर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. न्यायवार्त्तिक - १/१/४- इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्युक्तम्, इन्द्रियस्याप्राप्यकारित्ववात्।

२. वही - अप्राप्यकारिणी चक्षु:श्रोत्रे इति एके।

३. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका (राजेश्वर शास्त्री द्रविड़) पृ. ११८- यथोक्तं दिङ्नागेन .... इत्यादि।

४. न्याय मञ्जरी- आ. ८ -प्राप्यकारि हि कारकं दृष्टम।

५. न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका -१/१/४ - शरीरावच्छिन्ना खल्वात्मान: शरीराशरीर सम्बद्ध इत्यनुभूयते तमेव सान्तर इति मन्यते।

६. वही-तद् यथा इन्द्रियेणार्थस्य सम्बन्ध:, इन्द्रियावयवैरथस्य, अर्थावयवैरिन्द्रियस्य, इन्द्रियावयवैरर्थावयवानाम्।

७. वही - यद्यपि कृष्णतारानुग्रहोपघाताभ्यां .... समर्थो न छिन्नमूलेति सिद्धम्।

८. न्याय मञ्जरी- आ. ८- न प्राप्यकारित्वमुत्स्रष्टुं ..... तथा सत्येषामुत्सृजेम।

९. वही - चक्षुष: तेज: प्रसरणात्प्राप्यकारिता।

१०. वही - कार्यसत्तया हि तथाविधं कारणं कल्प्यते ..... तेजस: पच्यमानद्रव्यपाक सिद्धे:।

११. वही - अतएव सर्वेन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वं .... सन्निकर्ष: षट्प्रकारो व्याख्यात:।

१२. द्रष्टव्य- *D. M. Datta, Six ways of knowing - chap. II & III.*

11.

परिशिष्ट : एक

इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रकरण संग्रह

अम्बिकादत्त शर्मा

सम् तथा नि उपसर्गों के साथ "कृष विलेखने (आकर्षणे)" धातु से "घञ्" प्रत्यय द्वारा निष्पन्न "सन्निकर्ष" शब्द अपने में "आकर्षण" का भाव रखते हुए सामीप्य का अर्थ देता है, अतएव इसके विलोम "विप्रकर्ष" से विकर्षणयुक्त दूरी का अर्थ आता है। दर्शनों के प्रत्यक्ष विवेचन में इन्द्रिय और अर्थबोध के अवान्तर व्यापार का अर्थ देता हुआ यह शब्द प्राय: "इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष" के स्थान पर आता है।

वैशेषिक दर्शन-

वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य प्रत्यक्ष पदार्थ हैं। छहों इन्द्रियाँ द्रव्यरूप हैं, अत: उनका द्रव्य से संयोग सम्बन्ध होता है किन्तु शेष पदार्थ द्रव्य में समवेत रहकर ही प्रत्यक्षभागी बनते हैं। सिद्धान्तत: दो ही सम्बन्ध हैं - संयोग और समवाय, जो विविध सन्निकर्षों का कार्य करते हैं। सामान्य का शेष तीनों में समवाय सम्बन्ध रहता है। द्रव्यों में चार ही प्रत्यक्ष हैं - पृथ्वी, जल, तेज और आत्मा। आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है और शेष चाक्षुष हैं। गुणादित्रय का प्रत्यक्ष आश्रयीभूत द्रव्यों के माध्यम से होता है -

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम्। (वैशेषिक सूत्र ८/१/४)

अर्थात् सन्निकर्षभागी गुणों और कर्मों के विषय की ज्ञानोत्पत्ति का कारण उनका समवायी द्रव्य होता है। उपस्कार में स्पष्ट किया गया है -सन्निकर्षश्च तेषां द्रव्यघटित एव, संयुक्तसमवायेन तेषां ग्रहणात् - अर्थात् रूपादि गुणों तथा उत्क्षेपणादि कर्मों का सन्निकर्ष द्रव्य से ही घटित होता है क्योंकि उनका ग्रहण संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से होता है- इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में गुणों तथा कर्मों का समवाय सम्बन्ध है। उपस्कार में अन्य तथ्य भी स्पष्ट किये गये हैं --

१. चम्पक और कर्पूर के भाग प्रत्यक्षयोग्य नहीं होते फिर भी उनके गन्ध का ग्रहण द्रव्य सन्निकर्षपूर्वक ही होता है। तात्पर्य यह कि इन्द्रिय संयुक्त चम्पकादि के अवयव में समवाय सम्बन्ध से स्थित गन्ध का ग्रहण मान्य है। द्रव्य से स्वतन्त्र गुण का कोई सन्निकर्ष नहीं होता। (इस प्रकार वायु के अप्रत्यक्ष होने पर भी त्वकसंयुक्त वायु में समवेत स्पर्श के ज्ञान का सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय ही होता है)।

२. आकाशस्थित शब्द के ज्ञान में द्रव्य के प्रत्यक्ष की योग्यता अपेक्षित नहीं है किन्तु आकाशसमवेत शब्दगुण का समवाय सन्निकर्ष आकाश द्वारा ही बनता है।

३. ननु अदृष्ट-सन्निकर्ष-कल्पना कुत: क्रियत इति चेन्न, ज्ञाननिष्पत्ते: कार्येण हि कारणमवश्यं कल्पनीयम्। अर्थात् ज्ञानोत्पत्तिरूप कार्य से कारणरूप सन्निकर्ष का अनुमान होता है। इन्द्रियों और पदार्थों के असन्निकर्ष में ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती, अत: सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष का कारण है।

सामान्य विशेषेषु सामान्य विशेषाभावात् तत एव ज्ञानम्। (वैशेषिक सूत्र ८/१/५) अर्थात् अनवस्थाभय से व्यवस्था है कि सामान्य-विशेष में सामान्यविशेष नहीं रहते, अत: आश्रयद्रव्य के सन्निकर्ष से ज्ञानोत्पत्ति होती है। उपस्कार में विवरण दिया गया है -

द्रव्य-गुण-कर्म में समवेत सत्ता सामान्य है जिसके विशेष द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व हैं। इन तीनों सामान्यों के विशेष पृथिवीत्वादि, रूपत्वादि तथा उत्क्षेपणत्वादि हैं। इनका ग्रहण अपने-अपने आश्रय द्रव्यों के माध्यम से होता है -

तत्र द्रव्यगतानां सामान्यानां तत एव योग्याश्रयविशेषादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्त समवायात् - अर्थात् द्रव्यगत सामान्यों-पृथिवीत्व, जलत्व आदि का ग्रहण आश्रयीभूत यथायोग्य द्रव्य के कारण से संयुक्त समवाय सन्निकर्ष द्वारा होता है।

गुणकर्मगतानामपि सामान्यानां तत एव योग्याश्रयादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्तसमवेतसमवायात् समवेत-समवायाच्च सार्वेन्द्रिय ज्ञानम्। गुणत्वे

च संयुक्त-समवेत समवायात् शब्दत्व-कत्वादौ समवेत समवायात् - अर्थात् गुण तथा कर्म के सामान्यों का आश्रयीभूत द्रव्य के अधीन संयुक्त समवेतसमवाय तथा शब्दत्व जाति का समवेत समवाय सन्निकर्ष से यथावत् सभी इन्द्रियों से जन्य ज्ञान होता है क्योंकि द्रव्याश्रित गुणगत गुणत्वरूपत्व आदि का सन्निकर्ष (तथा धर्मत्व-गमनत्व आदि का) संयुक्त समवेत-समवाय है - इन्द्रिय संयुक्त द्रव्य में समवेत गुण कर्म में गुणत्व-कर्मत्व आदि का समवाय है। आकाश में समवेत शब्दगत शब्दत्व-कत्वादि सामान्यों के ज्ञान में संयोग सम्बन्ध असंभव है क्योंकि कर्णगत आकाश ही श्रवणेन्द्रिय है, अत: वहाँ समवेत समवाय सन्निकर्ष है।

गुणत्वे च संयुक्त समवाय: समवायश्च न प्रत्यासत्ति: - अर्थात् गुणत्वजाति के ज्ञान में केवल संयुक्त समवाय और समवाय सन्निकर्ष नहीं होते हैं किन्तु शब्दत्व के लिए समवेत समवाय तथा अन्य गुणजातियों के लिए संयुक्त समवेत समवाय प्रत्यासत्ति है।

सामान्य विशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु (वैशैषिक सूत्र ८/१/६) अर्थात् द्रव्य, गुण तथा कर्म में सामान्य-विशेष-सापेक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे स्पष्ट करते हुए उपस्कार में कहा गया है - द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व-विशिष्ट बुद्धिस्तावदस्ति। विशिष्ट ज्ञानं च विशेष्य-विशेषणेन्द्रिय सन्निकर्षादुत्पद्यत इति सामान्य विशेषापेक्षा तत्रावश्यकी। भवति हि द्रव्यमिदं गुणोयं कर्मेदमिति विशिष्टज्ञानमिति भाव: - अर्थात् द्रव्य, गुण तथा कर्म में द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व से विशिष्ट बुद्धि जन्म लेती है। विशेष्य-विशेषण के इन्द्रिय सन्निकर्ष से विशिष्ट ज्ञान बनता है अत: उसमें सामान्य और विशेष की अपेक्षा अनिवार्य है। इदन्ता के साथ द्रव्य, गुण तथा कर्म का विशिष्ट ज्ञान होने से पाँचों उक्त सन्निकर्ष विशेष्यता और विशेषणता से अन्वित रहते हैं।

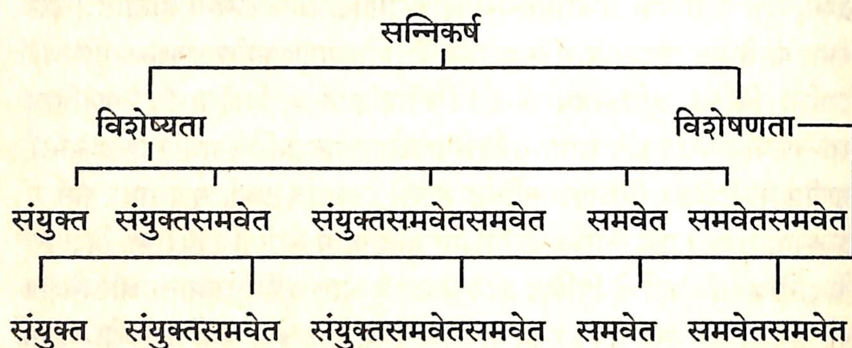
द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम्। (वैशैषिक सूत्र ८/१/७) अर्थात् द्रव्य में द्रव्य, गुण तथा कर्म की अपेक्षा से ज्ञान उत्पन्न होता है। ''घण्टावान श्वेत गाय जा रही है'' के प्रत्यक्ष में घण्टारूप द्रव्य, श्वेत गुण और गमन क्रिया की अपेक्षा से गोद्रव्य में विशिष्ट ज्ञान उदय लेता है जिसमें गोपिण्ड की विशेष्यता और तीनों की विशेषणता है।

नागृहीत-विषेशणा विशिष्टप्रतीतिर्नवा विशेषण-सम्बन्धमन्तरेणेति भवति द्रव्यकगुणकर्मापेक्षा (उपस्कार) - अर्थात् विशेषण के ज्ञान एवं सम्बन्ध के बिना विशिष्टप्रतीति न होने से द्रव्यज्ञान में द्रव्यादि तीन विशेषणों की उपेक्षा है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते। (वैशेषिक सूत्र ८/१/८) अर्थात् गुणकर्म में गुणकर्म के न रहने से उनके ज्ञान में उनकी अपेक्षा नहीं होती, अत: गुणकर्म-विशिष्ट गुणकर्म का ज्ञान नहीं होता है-द्रव्य का त्रितयविशिष्ट ज्ञान पाया जाता है। तीनों का सामान्यविशिष्ट ज्ञान द्रव्य के माध्यम से ही होता है।

विशेषण सम्बन्ध-विशेषण-तज्ज्ञानानां विशिष्ट-प्रत्यक्ष-प्रमां प्रति कारणत्वम् (उपस्कार, वेशैषिक सूत्र ८/१/९) अर्थात् विशेषण, उसके सम्बन्ध और उन दोनों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति कारण है। इस प्रकार विशेषणता तथा विशेष्यता नाम के दो सन्निकर्ष विशेषण विशेष्यभाव के अनुसार बनते हैं।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में उक्त रीति से पाँच मूल सन्निकर्ष स्वीकृत है - द्रव्यप्रत्यक्ष में संयोग, 'द्रव्यगत गुण-कर्म-जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय, द्रव्यसमवेत गुणकर्माश्रित जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त समवेतसमवाय, श्रोत्राकाशगत शब्दप्रत्यक्ष में समवाय और जाति प्रत्यक्ष में समवेतसमवाय। विशिष्टज्ञान में विशेष्यता तथा विशेषणता के आधार पर सन्निकर्षों की संख्या दस हो जाती है -



इस प्रकार हम देखते हैं कि वैशेषिक दर्शन में स्वस्वीकृत पदार्थ-व्यवस्था के अनुरूप प्रत्यक्ष योग्य पदार्थों के लिए आधारभूत रूप से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष की व्यवस्था बनायी गई है। परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदायों में इसे प्रतितंत्र सिद्धान्त के रूप में यथायोग्य अपनाया गया है। इस दर्शन में अभाव को प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अनुमेय माना गया है। नव्यन्याय के अभाव प्रत्यक्षवाद का भूरिश: खण्डन श्रीधर ने न्यायकन्दली में किया है। उपर्युक्त रेखांकित दसविध सन्निकर्ष लौकिक अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान के हेतु बनते हैं। इसके अतिरिक्त अलौकिक सन्निकर्ष का विचार वैशेषिक परम्परा में योगज प्रत्यक्ष के अन्तर्गत युक्त-योगज और वियुक्त-योगज रूप से किया गया है।

न्यायदर्शन -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ... प्रत्यक्षम्। (न्यायसूत्र १/१/४)

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। (भाष्य)

अर्थात् अर्थ के साथ इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। भाष्यकार ने आगे चतुष्टय सन्निकर्ष का विवरण दिया है -

आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमर्थेन।

अर्थात् आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से संयोग होता है। परन्तु प्रत्यक्ष का विशिष्ट व्यापार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष है क्योंकि आत्ममन: संयोग ज्ञानमात्र का साधन है। आगे मन को इन्द्रिय मानते हुए मानस प्रत्यक्ष की व्यवस्था है। पुन: कहा गया है -मन: संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञान-हेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानि (न्यायभाष्य १/१/१६) - अर्थात् इन्द्रिय के साथ मन:संयोग की अपेक्षा के बिना केवल इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ज्ञानसाधन मानने पर अनेक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति का दोष आता है। उद्योतकार ने सन्निकर्षों का संक्षिप्त परिगणन किया है - योयं सन्निकर्षशब्द: संयोग-समवाय-विशेषणविशेष्य-भावव्यापकत्वादुपात्त इति सोयं सन्निकर्ष: प्रत्यक्षस्यकारणं भवति। (न्यायवार्त्तिक १/१/४)

अर्थात् सन्निकर्ष शब्द संयोग, समवाय और विशेषणविशेष्यभाव को व्याप्त करताहै और वह सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का कारण है। इसमें छहों सन्निकर्षों को बीज रूप से लिया गया है क्योंकि शेष की निष्पत्ति इन्हीं तीन के समायोजन से होती है।

न्याय कोश के अनुसार सन्निकर्षस्त्विन्द्रियाणामर्थ: सह षट्प्रकार:- (भाग १, पृ. ६८) अर्थात् इन्द्रियों का अर्थों के साथ छह प्रकार का सन्निकर्ष होता है - संयोग संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव। इसका विवरण इस प्रकार है -

१. द्रव्यं चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण वा संयोगाद् गृह्यते। अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय अथवा त्वगिन्द्रिय से संयोग सन्निकर्ष द्वारा द्रव्य का ग्रहण होता है- द्रष्टव्य है कि न्याय दर्शन में चार द्रव्य-पृथिवी,जल, तेज और आत्मा प्रत्यक्ष हैं जिसमें आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है, अत: शेष तीन द्रव्यों के लिए ही यह व्यवस्था है।

२. तद्गतो रूपादिर्गुण: संयुक्तसमवायात्। अर्थात् द्रव्यगत रूपादि गुण (उत्क्षेणादि कर्म तथा सामान्य) का ज्ञान संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से होता है। (क्योंकि इन्द्रिय-संयुक्त द्रव्य में गुण, कर्म और सामान्य का समवाय सम्बन्ध है। इस प्रकार त्वगिन्द्रियसंयुक्त वायु में स्पर्श का समवाय सम्बन्ध होने से प्रत्यक्ष मान्य है)

३. रूपत्वादिसामान्यानि संयुक्तसमवेतसमवायाद् गृह्यन्ते । चक्षुषा संयुक्तं द्रव्यं, तत्र समवेतं रूपं, रूपे च समवेतं रूपत्वमिति । अर्थात् रूपत्वादि जातियों का ग्रहण संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से होता है । क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य में समवेत रहने वाले रूप में रूपत्व का समवाय है ।

४. समवायाच्छब्दो गृह्यते । श्रोत्रमाकाशद्रव्यं तत्र समवेत: शब्द: । अर्थात् श्रोत्ररूप आकाशद्रव्य में समवेत शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सन्निकर्ष से होता है ।

५. शब्दत्वं समवेतसमवायाद् गृह्यते । श्रोत्राकाशा-समवेते शब्दे तद्धि समवेतमिति । अर्थात् श्रोत्राकाशसमवेत शब्द में समवेत शब्दत्व जाति के प्रत्यक्ष का व्यापार समवेत समवाय सन्निकर्ष है ।

६. संयुक्तविशेषणमावादभावग्रहणं व्याख्यातम् इह घठो नास्तीति ।

चक्षुषा संयुक्तों भूप्रदेशस्तद्विशेषणीभेतश्चाभाव इति । अर्थात् संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से ''इस भू- प्रदेश में घट नहीं है'' इस अभाव का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि चक्षु:संयुक्त भूतल में अभाव विशेषण है ।

द्रष्टव्य है कि सन्निकर्ष के विषय में जयन्त भट्ट ने कतिपय भिन्न तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो इस प्रकार हैं -

(क) तच्चेदं प्रत्यक्षं चतुष्टयसन्निक र्ष, त्रयसन्निकर्षा और द्वयसन्निकर्ष । अर्थात् प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष तीन प्रकार से होते हैं-चतुष्ट्य प्रकारक, त्रिप्रकारक एवं द्वयप्रकारक सन्निकर्ष ।

(ख) बाह्ये रूपादौ विषये चतुष्टयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते-आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति । अर्थात् आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से संयोग होने पर चतुष्टय सन्निकर्ष द्वारा बाह्य रूपादि विषयों का ज्ञान उत्पन्न होता है ।

(ग) सुखादौ तु त्रयसन्निकर्षाज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र चक्षुरादिव्यापाराभावात् । अर्थात् सुखादिरूप आत्मगुणों की उपलब्धि त्रयसन्निकर्ष से होती है क्योंकि वहाँ बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती ।

(घ) आत्मनि तु योगिनो द्वयोरेवात्ममनसो: संयोगाज्ज्ञानमुपजायते, तृतीयस्य ग्राह्यस्य ग्राहकस्य तत्राभावात् । अर्थात् आत्मविषयक योगिप्रत्यक्ष में आत्ममन: संयोगरूप द्वयसन्न्किर्ष रहता है क्योंकि वहाँ आत्मा से भिन्न ग्राह्य अथवा ग्राहक का अभाव है ।

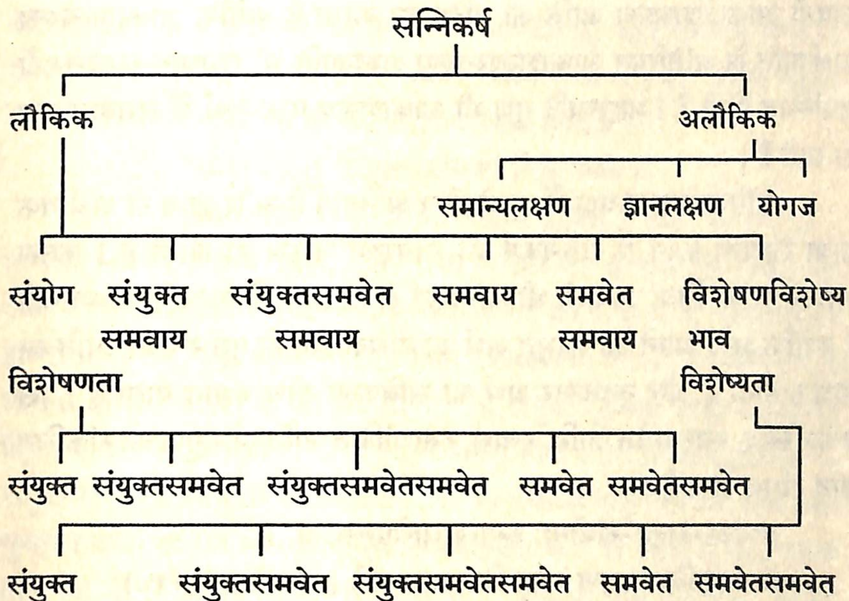
प्रश्न उठता है कि सन्निकर्ष होता है, इसमें क्या प्रमाण है ? व्यवहित या

विप्रकृष्ट पदार्थ की इन्द्रिय द्वारा अनुपलब्धि ही इसका प्रमाण है कि सन्निकर्ष ही इन्द्रियव्यापार है -

यदि हि असन्निकृष्टमपि चक्षुरादिन्द्रियमर्थ गृह्णीयाद् व्यवहितोपि ततोर्थ उपलभ्यते, न चोपलभ्यते, तस्मादस्ति सन्निकर्ष: । अर्थात् यदि सन्निकर्ष के बिना इन्द्रिय द्वारा अर्थग्रहण होता तो व्यवहित अर्थ की सन्निकर्षरूप इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध के बिना उपलब्धि होती लेकिन वैसा न होने से सन्निकर्ष की सत्ता प्रमाणित होती है।

इन्द्रियाणां कारकत्वेन प्राप्यकारित्वात् संसृष्टं च कारकं फलाय कल्पत इति कल्पनीय: संसर्ग: ... रसन-स्पर्शनयोश्च स्पष्टं प्राप्य-कारित्वमुपलभ्यत इति तत्सामान्यादिन्द्रियान्तरेष्वपि कल्पनीयमिति । (न्यायकोश पृ. ६९) अर्थात् इन्द्रियाँ कारक हैं, अत: प्राप्यकारी हैं क्योंकि साध्य या कार्य से संसर्ग लाभ कर के ही कोई कारक फलोत्पाद में समर्थ होता है। त्वक् तथा रसन इन्द्रियों की प्राप्यकारिता प्रत्यक्ष है जिसके आधार पर अन्यों की अनुमित है। यह संसर्ग वहाँ सन्निकर्ष कहा गया है।

सामान्य रूप से न्यायदर्शन में सन्निकर्षों की व्यवस्था निम्नलिखित है।



अलौकिक सन्निकर्षों में केवल योगिप्रत्यक्ष का निरूपण प्राचीन न्याय तथा वैशेषिक में विशेष हुआ है। शेष नव्यन्याय में आपसी मतभेदों के साथ अधिक विवेचित हैं।

व्याकरणदर्शन -

व्याकरण में शब्ददर्शन का महत्त्व है। आकाशस्थ बैखरीशब्द अर्थ संपृक्त रहता है और अर्थ शब्दसम्पृक्त। परन्तु न्याय-वैशेषिक के अनुसार उनका सन्निकर्षरूप सम्बन्ध नहीं बन पाता -

पदार्थीकृ त एवान्यै: सर्वत्राभ्युपगम्यते ।
सम्बन्धस्तेन शब्दार्थ: प्रविभक्तुं न शक्यते ॥
(वाक्यपदीयम् ३/३/१२)

अर्थात् वैशेषिकों ने षट्पदार्थों में संयोग को गुणरूप तथा समवाय को स्वतन्त्र पदार्थ मान लिया है और इस प्रकार सत्ता के शक्तिरूप सम्बन्ध को सर्वत्र दो में विभक्त किया है, परन्तु उससे शब्द और अर्थ का विभाग नहीं किया जा सकता क्योंकि उन्हें पृथक् पदार्थ मान लेने पर संयोग तथा समवाय में से एक भी सम्बन्ध नहीं बन पाता।

समवायात् स्व आधार: स्वा च जाति: प्रतीयते ।
एकार्थ समवायात् तु गुणा: स्वाधार एव ये ॥ (वही ३/३/१३)

अर्थात् (हेलाराज के अनुसार) आकाश-शब्द अपने आकाश नामक अर्थ और अपनी आकाशशब्दत्व जाति का प्रतिपादन करता है क्योंकि आकाशत्वरूप अर्थजाति के अतिरिक्त आकाशत्वस्वरूप शब्दजाति भी समवाय सम्बन्ध से उपस्थित होती है। महत्त्वादि गुण भी आकाशरूप एक अर्थ में समवाय रूप से रहते हैं।

सविकल्पक प्रत्यक्ष में शब्दोल्लेख अनिवार्य है अ ौर शब्द से अर्थ तक यात्रा सम्पन्न करने में सन्निकर्ष की व्यवस्था जटिल हो जाती है। केवल शाब्दबोध को लिया जाय तो भी सन्निकर्ष से ही ज्ञान की व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि शब्द अपने आधारभूत अर्थ का बोधक होने से पूर्व स्वगत जाति का बोधक होता है और तदनन्तर अर्थ का सविकल्प बोध स्थान पाता है। इस प्रकार स्वयं, स्वसमवेत जाति, स्वार्थ, स्वार्थाश्रित जाति और गुण का संकलित ज्ञान संभव होता है।

द्रव्यत्व-सत्ता-संयोगा: स्वान्याधारोपबन्धना: ।
तत्प्रेदशविभागाश्च गुणा द्वित्वादयश्चये ॥ (वही ३/३/१४)

अर्थात् ''आकाश'' शब्द और उसके अर्थ को लेकर विचार किया जाय तो द्रव्यत्वरूप अपरजाति, सत्तारूप महाजाति और उन दोनों का सम्बन्ध न केवल आकाश में रहते हैं अपितु आकाशेतर पृथिवी आदि में भी समवेत हैं। यह

समवाय सम्बन्ध स्वपर्याप्त होने से आकाश में परिसमाप्त माना जाता है परन्तु आकाश में उसके प्रदेश-विभाग मूर्तद्रव्यों के संयोग, पृथकत्व, द्वित्वादि संख्या आदि गुणों का समवाय भी मानना पड़ता है क्योंकि वैशेषिक में दो से अधिक सम्बन्ध अमान्य हैं। उक्त सभी का ज्ञान शब्द द्वारा होने से सन्निकर्ष सम्बन्ध जटिलता को प्राप्त होता है -

केचित् स्वाश्रयसंयुक्ता: केचित् तत्समवायिन: ।
संयुक्तसमवेतेषु समवेतावस्तथा परे ॥
(वही ३/३/१५)

अर्थात् शब्द की ओर से वाच्य अर्थ के विशिष्ट ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि शब्द के आश्रयीभूत आकाश से घटादि में समवेत रूपादि गुण, उत्क्षेपणादि कर्म और घटत्वादि जाति के बोध हेतु स्वाश्रयसंयुक्तसमवाय सन्निकर्ष मान्य होता है। इन गुणों और कर्मों में रूपत्व तथा उत्क्षेपणत्व आदि जातियों का ज्ञान स्वाश्रयसंयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष से व्याख्या पाता है।

शब्द से अनुविद्ध सविकल्पक प्रत्यक्ष शब्द आकाशदेशीय होने से उसे स्वाश्रय बनाता है और तभी संप्रयोगादि सन्निकर्ष व्यवस्थित होते हैं, अत: घटप्रत्यक्ष में घटशब्द के आश्रयीभूत आकाश का पहले सम्बन्ध बनता है और तब चक्षुरिन्द्रिय का घट से संयोग स्थान पाता है। इस प्रकार पहला सन्निकर्ष केवल संयोग न हो कर स्वाश्रयसंयोग होता है।

स्वाश्रयेण तु संयुक्ते: संयुक्तं विभुगम्यते ।
समवायस्य सम्बन्धी नापरस्तत्र दृश्यते ॥ (वही ३/३/१६)

अर्थात् व्यापक पदार्थ-दिक्, काल तथा आत्मा का आकाश के साथ कोई सम्बन्ध असम्भव होने से अन्य कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता, अत: दिक्कालात्म शब्दों द्वारा उन विभु अर्थों का प्रतिपादन स्वाश्रयसंयुक्त संयोग सन्निकर्ष से मानना होगा - शब्दों के आश्रय आकाश से संयुक्त पृथिवी आदि का संयोग दिक्, काल और आत्मा के साथ मान्य करना होगा। इस प्रकार (हेलाराज के अनुसार) उक्त विभुओं में समवेत गुणों का स्वाश्रयसंयुक्तसमवाय से और गुणगत जातियों का स्वाश्रयसंयुक्तसमवेत-समवाय से ग्रहण होगा। इतना होने पर भी समवाय के सम्बन्ध की कोई व्यवस्था नहीं बन पाती क्योंकि समवाय का समवाय मानने पर अनवस्थादोष आता है।

तस्माच्छब्दार्थयोर्नैव सम्बन्ध: परिकल्पंते ॥ (वही ३/३/१७)

अर्थात् उक्त अनुपपत्तियों के कारण शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं बन

पाता क्योंकि वैशेषिकसम्मत दोनों ही सम्बन्ध अनुपपन्न हैं। वस्तुत: शब्दबोध्य द्रव्यगत गुण तथा जाति आदि शब्दस्थित हैं और शब्द के माध्यम से अर्थगत होकर अर्थजात्यादि की व्यवस्था होती है -

यथा रक्ते गुणे तत्त्वं कषाये व्यवदिश्यते ।
संयोगसन्निकर्षाच्च वस्त्रादिष्वपि गृह्यते ॥
तथाऽशब्दार्थसम्बन्धाच्छब्दे जातिरवस्थिता ।
व्यपदेशोऽर्थजातीनां जातिकार्याय कल्पते ॥

(वही ३/१/७-८)

अर्थात् जिस प्रकार रक्त गुण में रक्तत्व रहता है किन्तु उस गुण के आश्रयीभूत द्रव्य को रक्त कहा जाता है और फिर उस कषाय द्रव्य का वस्त्रादि में संयोगसन्निकर्ष होने पर वे भी कहे और जाने जाते हैं उसी प्रकार अर्थत्व जाति शब्दसम्बन्ध से शब्दगत होकर अर्थजातियों के वाच्य होने पर जातिकार्य में समर्थ होती है। शब्द और अर्थ में अभेद होने के कारण अर्थ जाति शब्द से होकर पुन: अर्थ में परम्परा सम्बन्ध का व्यवहार लेती है किन्तु जाति का सीधे अर्थसमवाय व्यवहृत नहीं हो सकता। इस प्रकार "स्वसम्बन्ध-समवेत-समवाय" सन्निकर्ष से गुण तथा जाति का बोध संभव होता है-अर्थ से सम्बद्ध शब्द में समवेत जात्यादि का अर्थगत समवाय व्यवहार में आता है।

न्यायदर्शन विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष को अभावप्रत्यक्ष तक सीमित मानता है परन्तु व्याकरण के अनुसार भावप्रत्यक्ष में भी उसकी व्याप्ति होने से सन्निकर्ष-व्यवस्था असंगत प्रतीत होती है क्योंकि पदज्ञान के बिना प्रत्यक्ष आदि की व्याख्या नहीं हो पाती -

शब्दानुविद्धस्यैवार्थस्यावगमात् ... प्रत्यक्षादावपि विषयताभाननियम-निर्वाहाय पदभानमावश्यकम्। यज्ज्ञानं यत्पदादिविषयं तत् जज्जन्यबोधविषयता-समानविषयताकत्वनियमात्। (लघु मंजूषा, पृ. ३३५) अर्थात् अर्थावगति में शब्दानुवेध अनिवार्य है क्योंकि न्यायदर्शन में मान्य विशेषणता, विशेष्यता तथा संसर्गता नाम वाली तीन विषयताओं के निर्वाह हेतु पदज्ञान प्रत्यक्षादि में भी आवश्यक है। नियम यह है कि जिस पद अथवा वाक्य के विषय का ज्ञान होता है उससे जन्य अर्थबोध और पदज्ञान की विषयता एक होती है। जैसा कि देखा जा चुका है कि पदजन्य पदार्थबोध में सन्निकर्षव्यवस्था प्रभावी नहीं हो पाती -

सन्निकर्षादिभिस्तु न व्यवस्था, घटो रूपवानिति ज्ञानवद् घटस्य रूपमिति रूपविशेष्यकज्ञानस्यापि तेन सन्निकर्षे जननात्। (वही ,पृ. ३३७)

अर्थात् सन्निकर्ष को रूपत: एक मानकर घटज्ञान में संयोग, घटरूपज्ञान में संयुक्तसमवाय और घटरूपत्वज्ञान में संयुक्तसमवेतसमवाय से व्यवस्था असम्भव है क्योंकि सर्वत्र विशेषणविशेष्यभाव अपरिहार्य रहता है। जैसे, "भूतल में घट" संयुक्तविशेष्यता, "घटयुक्त भूतल" संयुक्तविशेषणता, "घट में रूप" संयुक्तसमवेतविशेष्यता, 'रूपवान् घट' संयुक्तसमवेत विशेषणता, "घटगत रूप में रूपत्व" संयुक्तसमवेतसमवेत-विशेष्यता और "रूपत्वविशिष्टरूपवान् घट" संयुक्तसमवेतसमवेत-विशेषणता के उदाहरण होंगे; परन्तु ऐसी व्याख्या भी असंगत रहेगी क्योंकि विशेषणता एवं विशेष्यता में पृथग्भाव अनुपपन्न है कि अलग-अलग उन्हें लेकर बोध की व्याख्या हो सके।

घटरूपोभयविषयक-ज्ञानस्य तत्संस्कारस्य वा पूर्व संत्त्वेन यदा यज्जानं पूर्व तदा तस्य विशेषणतेत्यप्युक्तम्, विशेषणज्ञानस्येव विशेष्यतावच्छेदकरूपेण विशेष्याग्रहदशायां तदनुपपत्त्या विशेष्यज्ञानस्यापि विशिष्टबुद्धि कारणत्वात्। अन्यथा किंचित् रूपवदित्येव स्यन्न तु घट इत्यादि। (वही)
अर्थात् न्यायवैशेषिक की ओर से तर्क हो सकता है कि घट तथा रूप का ज्ञान अथवा उनका संस्कार प्रत्यक्ष से पूर्व रहता हैं, अत: जब जो ज्ञान पहले उदय पाता है तब उसमें उस अर्थ की विशेषणता प्रकट होती है। यह स्थापना अयुक्त है क्योंकि विशेषणज्ञान के समान ही विशेष्यज्ञान न होने पर विशिष्टबुद्धि असंभव है। विशेष्यज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान मानने पर 'रूपवान् घट:' का बोध न होकर "किंचित् रूपवान्" का ही बोध होगा।

इस प्रकार विशिष्ट बुद्धि का कारण शब्दज्ञान है। शब्दरहित अर्थ ज्ञान सविकल्पक नहीं हो सकता जो विशिष्ट बोध है किन्तु घट और रूप का निर्विकल्पक बोध ही संभव है। सन्निकर्ष व्यवस्था से उसकी व्याख्या नहीं हो पाती क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेषण विशेष्यभाव अपृथग्भूत रहता है। यह मानना निरर्थक है कि जिस ज्ञान में जिसका प्रथम उदय होता है वही अर्थ उस ज्ञान का विशेषण बन जाता है क्योंकि विशेष्यज्ञान के बिना विशिष्टज्ञान नहीं हो सकता और विशेषण-विशेष्य सापेक्ष एवं संपृक्त तत्त्व हैं।

मीमांसादर्शन (भाट्टमत) -

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्। (मीमांसा सूत्र १/१/४) अर्थात् वर्तमान वस्तु के साथ इन्द्रियों के सम्यक् प्रयोग में पुरुष को होने वाले बुद्धिजन्म को प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ न्यायवैशेषिक के 'सन्निकर्ष' के स्थान पर 'सम्प्रयोग' को लक्षणघटक बनाया गया है जिसे स्पष्ट करते हुए कुमारिल ने कहा है -

सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारण: ।

प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोर्थषु कथ्यते ।। (श्लोकवार्त्तिक, प्रत्यक्ष ३८)

अर्थात् 'सम्प्रयोग' के 'सम्' का 'सम्यक्' अर्थ है जो प्रत्यक्षाभासीय दुष्प्रयोग का निवारण करता है और अर्थ में इन्द्रियों के व्यापार को प्रयोग कहा गया है। यहाँ सन्निकर्ष के स्थान पर 'सम्प्रयोग' अपना कर चिन्तन को नई दिशा दी गई है। यह विप्रयोग का विलोम सम्यक् एवं प्रकृष्ट योग है जो इन्द्रियार्थ सम्बन्धरूप व्यापार का कार्य करता है। यही मीमांसा का सन्निकर्ष है। इन्द्रियों को इस मत में न्यायवैशेषिक के समान वस्तु प्राप्यकारी माना गया है, अत: सम्प्रयोगरूप सन्निकर्ष इन्द्रिय वृत्ति है जो उत्पत्तिनाशशील हुआ करती है -

दीपप्रभा यथा तस्मिन् विश्यति विनश्यति ।

तथा बहिर्गताप्येषा मूलच्छेदाद् विनश्यति ।। (वही ४९)

अर्थात् जिस प्रकार प्रदीप के नाश से उसकी प्रभा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार इन्द्रियाधिष्ठानरूप शरीराङ्ग के नाश से बाह्य इन्द्रियवृत्ति भी नष्ट होती है।

व्याकरणदर्शन द्वारा यह समस्या उठाई गयी है कि शब्दानुविद्ध ज्ञान में सन्निकर्ष-व्यवस्था अनुपपन्न है क्योंकि शब्दाश्रय आकाश से इन्द्रियार्थ सम्बन्ध की परम्परा अपनानी पड़ती है और विशेषणविशेष्यभाव से होने वाले विशिष्ट ज्ञान की व्याख्या असंभव रहती है। इसका प्रत्याख्यान करते हुए कुमारिल ने कहा है -

यथा त्वज्ञातशब्दानां वाच्ये तद्धीर्न जायते ।

तथैवाज्ञातवाच्यानामुपलब्धेऽपि वाचके ।।

तस्मान्नातीव वाच्यानां वाचकाधीनता भवेत् ।।

स्मारकत्वाच्च तेष्वेव पारतन्त्र्यं प्रतीयते ।।

(वही २०३-४)

अर्थात् जिस प्रकार वाचक शब्द को जाने बिना वाच्यार्थ में यथावत् ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार वाच्यार्थज्ञानरहित वाचक की उपलब्धि भी असम्भव रहती है, अत: वाच्य सर्वथा वाचकाधीन नहीं होता किन्तु अर्थ का स्मारक होने से शब्द में अर्थ स्वतंत्रता प्रतीत होती है। टीका में पार्थसारथि मिश्र ने स्पष्ट किया है - न शब्दरूपेणार्थोवगम्यते, यथावस्थितमेव त्वर्थरूपं शब्द:स्मारयति। अर्थात् शब्दरूप से अर्थबोध नहीं होता प्रत्युत यथास्थित अर्थरूप की स्मृति शब्द द्वारा करायी जाती है।

यहाँ विवेच्य है कि जब तक संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध का स्पष्ट भान नहीं होता तब तक अनध्यवसाय रहता है जो यथार्थज्ञान नहीं माना जाता। अर्थ के

यथास्थित रहने पर भी निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञान को शब्दाधीन मानते हुए वैयाकरणों ने सन्निकर्ष-व्यवस्था का प्रत्याख्यान किया है। इसके कुछ निकट रहते हुए ही कुमारिल मत में सम्प्रयोगज प्रत्यक्ष की चर्चा है। इस सन्निकर्षव्यवस्था में समवाय तथा समवेतसमवाय सन्निकर्षों का कोई स्थान नहीं है क्योंकि ये शब्द तथा शब्दत्व के प्रत्यक्ष हेतु न्यायवैशेषिक दर्शन में मान्य है। परन्तु मीमांसादर्शन के अनुसार शब्द द्रव्य है जिसका श्रोत्रेन्द्रिय से संयोगसन्निकर्ष ही हो सकता है। श्रोत्रेन्द्रिय भी यहाँ आकाशरूप न होकर दिग्रूप है।

वयंतुदिशः श्रोत्रमिति दर्शानाद् दिग्भागमेव कर्ण-शष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रमाचक्ष्महे। (शास्त्रदीपिका, पृ ५३)

अर्थात् श्रुतिप्रामाण्य (ऋग्वेद १/९०) से कर्णकुहरगत दिगंश ही श्रोत्रेन्द्रियत्वरूप में अभिमत है। शब्दद्रव्य से श्रोत्रद्रव्य का संयोगसन्निकर्ष पर्याप्त है और शब्दत्व बोध में संयुक्तसमवाय। अतः तीन ही सन्निकर्ष मान्य हैं -

सन्निकर्षश्च संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेत-समवायश्चेति। द्रव्यं संयोगेन, तद्गतगुणकर्मजात्यो द्वितीयेन, गुणकर्मगतजातयस्तृतीयेन। (भाट्टचिन्तामणि., पृ. १६) अर्थात् तीन सन्निकर्षों में संयोग से द्रव्य, संयुक्तसमवाय से द्रव्यगत गुण, कर्म तथा गति और संयुक्तसमवेतसमवाय से गुण-कर्मगत जातियों का प्रत्यक्ष होता है।

भाट्टमीमांसा की एक शाखा समवाय सम्बन्ध को पदार्थ नहीं मानती। तदनुसार संयोग ही एकमात्र सन्निकर्ष है, किन्तु समवाय के स्थान पर तादात्म्य की योजना द्वारा दो या तीन सन्निकर्ष स्वीकार्य किये गये हैं - सन्निकर्षस्तु द्विविधः - संयोगः संयुक्ततादात्म्यं चेति। (मानमेयोदय, पृ. १२)

इस मत में (समस्त कुमारिल मीमांसा में) सभी द्रव्य प्रत्यक्ष हैं।

१. पृथ्वी, जल और तेज का चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय के संयोग से प्रत्यक्ष होता है। (वही)
२. वायुप्रत्यक्ष का सन्निकर्ष त्वक्संयोग है। (वही)
३. दिक्, आकाश और तमोद्रव्य का चक्षुःसंयोग सन्निकर्ष है। (वही)
४. श्रोत्रसंयोग शब्दप्रत्यक्ष का कारण है। (वही)
५. मनः संयोग से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। (वही)
६. सभी इन्द्रियों के संयोग से काल का ग्रहण मान्य है (वही, पृ. १३)

रूपादीनां तु संयुक्तद्रव्यतादात्म्यमेव नः । प्रतीतिकारणं तस्मान्न सम्बन्धान्तरस्पृहा ॥ (वही) अर्थात् द्रव्यगत रूपादि गुणों की प्रतीति का कारण संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है।

यदा तु जातिगुणकर्मगतानां सत्ता-रूपत्व-कर्मत्वादीनां ग्रहणं तदा तेषामेव परम्परया तादात्म्यसंभवात् संयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्षः । (वही) अर्थात् जाति, गुण तथा कर्म में स्थित सत्ता, रूपत्वादि और कर्मत्वादि का प्रत्यक्ष संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष से ही उपपन्न है क्योंकि जात्यादि के साथ द्रव्य का तादात्म्य परम्परा से सत्तादि में संभव है।

यद् वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय संयुक्तसमवेतसमवायमाश्रयन्ते तथास्माकमपि संयुक्ततादात्म्य-तादात्म्यं नाम तृतीयः सन्निकर्षः तस्माद् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः (वही पृ. १४), अर्थात् यदि परम्परा सम्बन्ध अमान्य हो तो नैयायिकों के संयुक्तसमवेतसमवाय के समान संयुक्ततादात्म्यतादात्म्य नाम से तृतीय सन्निकर्ष माना जा सकता है। इस प्रकार दो या तीन प्रकार का सन्निकर्ष होता है।

जातिगुणकर्मणां च स्वाश्रयैस्तादात्म्यमेव सम्बन्धः । (वही) अर्थात् जाति, गुण तथा कर्म का अपने आश्रयीभूत द्रव्यों के साथ तादात्म्य ही सम्बन्ध है। न्यायवैशेषिक के षोढा सन्निकर्षों का परिगणन करके प्रत्याख्यान करते हुए कहा गया है -

तत्राद्यं त्रिविधं तावन्नाममात्रेण भिद्यते ।
समवायादयस्त्वन्ये सन्निकर्षा निराश्रयाः ॥

(वही, पृ. १५)

अर्थात् प्रथम तीन सन्निकर्ष नामभेद से यहाँ भी स्वीकृत हैं परन्तु शेष तीन समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्यभाव-निराधार हैं क्योंकि शब्द के द्रव्य होने से समवाय तथा समवेतसमवाय की अपेक्षा नहीं है और अभाव के लिए पृथक् अनुपलब्धि प्रमाण होने तथा समवाय के सर्वथा न होने से तदर्थ स्वीकृत विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष अनुपपन्न है।

प्राभाकरास्तु संयोगः संयुक्तसमवायः समवाय इति त्रेधासन्निकर्षमाहुः। तन्मते रूपत्वादीनामभावात् संयुक्तसमवायो नाश्रयणीयः । शब्दत्वस्याभावात् समवेतसमवायोपि । अभावस्य चाभावात् समवायस्य च प्रत्यक्षत्वाभावात् विशेषणविशेष्यभावो नाश्रयणीय इति । तदपि मतं रूपत्वादीनां साधनात् ... निराकृतम् (वही, पृ. १६-१७)

अर्थात् प्राभाकारों के अनुसार तीन सन्निकर्ष हैं - संयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय । तदनुसार रूपत्वादि जातियों के अभाव से संयुक्तसमवेतसमवाय और शब्दत्व जाति के न होने से समवेतसमवाय सन्निकर्ष अपेक्षित नहीं है। विशेषण-विशेष्यभाव भी अस्वीकृत है क्योंकि प्रभाकरमीमांसा में अभाव पदार्थ नहीं है और समवाय अप्रत्यक्ष है। रूपत्वादि जातियों को अमान्य करना इस मत का अनुपपन्न प्रयास है।

मीमांसादर्शन (गुरुमत) -

प्रभाकरमीमांसा में कर्म के अनुमेय होने से तदर्थसन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं है। गुणगत जातियों के अमान्य होने से संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष अनपेक्षित है। यहाँ शब्द आकाश का गुण है, अत: न्यायवैशेषिक के समान ही समवाय सन्निकर्ष स्वीकृत है। वायु भी प्रत्यक्ष द्रव्य है, अत: त्वगिन्द्रियजन्य संयोग सन्निकर्ष से उसकी उपलब्धि मान्य है। शालिकनाथ मिश्र ने कहा है -

यच्च संयुक्तसमवेतत्वात् कर्मणां प्रत्यक्षत्वमुक्तं तदप्ययुक्तम्, तस्य संयोगविभागलक्षणानुमेयत्वात्। (प्रकरण पञ्चिका, पृ. १३३)

अर्थात् न्यायादि दर्शनों में जो माना गया है कि इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में समवेत क्रिया का संयुक्तसमवाय से प्रत्यक्ष होता है वह अयुक्त है क्योंकि कर्म प्रत्यक्ष न होकर संयोग-विभाग से अनुमेय पदार्थ है।

यच्च संयुक्तसमवेतसमवायाद् गुणत्वादीनां ग्रहणमिष्टं तदपि तेषामभावादेवा- युक्तम्। समवेतसमवायाच्च शब्दत्वग्रहणमप्येवमेवानुपपन्नम्। (वही)

अर्थात् गुणत्व, रूपत्व आदि का ग्रहण संयुक्तसमवेतसमवाय से और शब्दत्व का प्रत्यक्ष समवेतसमवाय से जो माना गया है वह अयुक्त है क्योंकि वे जातियाँ नहीं होतीं। अभाव अपदार्थ है, अत: विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं। अन्योन्याभाव के विषय में कहा गया है -

अन्यच्चसमवायविशेषणता नाम सन्निकर्षान्तरं किमिति नेष्यते ? यथा गोरश्वस्य चान्योन्याभावप्रतीतये संयुक्तविशेषणता नाम सन्निकर्षान्तरमाश्रीयते तथा ककार-खकारयोरपीतरेतरेतराभावावगमाय समवेतविशेषणतालक्षणं सन्निकर्षान्तरमप्युपगन्तुमुचितम्। (वही, पृ. १३४)

अर्थात् जब गो तथा अश्व के अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष हेतु संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष माना जाता है तब ककार और खकार के अन्योन्याभाव की प्रतीति के लिए समवेत विशेषणता का आश्रय क्यों नहीं लिया जाता ?

तस्मात् त्रिविध एव सन्निकर्ष: प्रत्यक्ष हेतु: -
संयोग: संयुक्तसमवाय: समवायश्चेति। (वही)

अर्थात् तीन प्रकार का ही सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का कारण है - संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय।

द्रव्यजातिगुणेषु इन्द्रियसंयोगोत्था सा प्रत्यक्षा प्रतीतिर्मेयेषु इन्द्रियसंयोगेन, तत्संयुक्तसमवायेन समवायेन च जायते। (वही, पृ. १४७)
अर्थात् इन्द्रियसंयोग से द्रव्य, इन्द्रियसंयुक्तसमवाय से जाति तथा गुण और इन्द्रियसमवाय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है।

पुन: आन्तरिक या मानस और बाह्य अथवा ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष की व्यवस्था दो प्रकार से देखी जाती है - अभ्यन्तराणां सुखादीनां ग्रहणे सन्निकर्षद्वयं कारणम् -आत्ममन: संयोगाख्य: सन्निकर्ष: सुखादिमन:सन्निकर्षश्च संयुक्तसमवाय-लक्षण:। (वही, पृ. १५३)
अर्थात् आभ्यन्तरसुखादि के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष होते हैं। (१) आत्मा का मन से संयोग और (२) मन का सुखादि से संयुक्तसमवाय। मन:संयुक्त आत्मा में सुखादि के समवेत रहने से यह व्यवस्था सुकर है।

बाह्यरूपादिग्रहणे च सन्निकर्षचतुष्टयं कारणम् आत्ममन:सन्निकर्ष:, मन इन्द्रिय सन्निकर्ष:, द्रव्येन्द्रियसन्निकर्ष:, रूपेन्द्रियसन्निकर्षश्च। (वही,पृ. १५३-५४)

अर्थात् बाह्य रूपादिगुणों और जातियों के प्रत्यक्ष में चार सन्निकर्ष अपेक्षित है - आत्मा तथा मन का संयोग, मन और इन्द्रिय का संयोग, इन्द्रिय तथा द्रव्य का संयोग और गुण या जाति से इन्द्रिय का संयुक्तसमवाय। इस प्रकार बाह्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष में प्रथम तीन की ही अपेक्षा है। प्रभाकर के त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद में आत्मा के ज्ञान के लिए सन्निकर्ष की अपेक्षा ही नहीं होती।

सांख्य-योगदर्शन -

सांख्ययोगदर्शनों की प्रत्यक्षप्रक्रिया में इन्द्रियों को प्रणालीमात्र माना गया है। उस नाली से प्रवाहित चित्तवृत्ति विषयाकार होकर चैतन्य में प्रतिबिम्बित होती है, बाह्य इन्द्रिय का विषयाकार परिणाम नहीं होता। द्रव्य-गुणादि के विभाग न होने के कारण सन्निकर्षों की संख्या भी नहीं बन सकती परन्तु इन्द्रिय का अर्थ से सामान्य सम्बन्धमात्र स्वीकृत है -

नाप्राप्त-प्रकाशकत्वमिन्द्रियाणाम् ...। (सांख्य सूत्र ५/१०४)

अर्थात् इन्द्रिय अप्राप्यकारी न होकर वस्तुप्राप्यकारी है। प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद वृत्तिसिद्धि:। (वही, ५/१०६) अर्थात् प्राप्त अर्थ के प्रकाशक होने से इन्द्रियों की वृत्ति का अनुमान होता है।

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थ सर्पतीति। (वही, ५/१०७)
अर्थात् विषय के साथ सम्बन्ध हेतु गतिशील वृत्ति एक प्रकार का तत्त्वरूप परिणाम है। वह न इन्द्रिय का अंश है और न ही गुण।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। (वही १/८९)
अर्थात् जो बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञान विषयसम्बद्ध रहकर उसके आकार का उल्लेख करता है वह प्रत्यक्ष है।

विज्ञानभिक्षु सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि तथा च स्वार्थ-सन्निकर्ष-जन्याकारस्याश्रयो वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणमिति निष्कर्षः। वृत्तिः सम्बन्धार्थसर्पति ... न वृत्तेः सन्निकर्षजन्यत्वम् ... चक्षुरादिद्वारक-बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखातुल्या बाह्यार्थसन्निकर्षादेव तदाकारोल्लेखिनी भवति।
अर्थात् सूत्र का निष्कर्ष है कि पदार्थ के सन्निकर्ष से जनित आकार की आश्रयीभूत बृद्धिवृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण है - इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं। वृत्ति सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होती क्योंकि विषय-सन्निकर्ष पाने हेतु इन्द्रियद्वार से गति लेती है। बुद्धिवृत्ति प्रदीपशिखावत् बाह्य अर्थ से सन्निकर्ष प्राप्त कर आकारवान् बनती है और वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इस प्रकार वृत्ति का अर्थ से सन्निकर्ष अवान्तर व्यापार है जिसका कारण वृत्ति है। सन्निकर्ष वृत्तिपरिणामरूप है जिसका उत्तरभावी फल विषयाकारता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष वृत्तिविषयसन्निकर्ष का उपकारमात्र है जो प्रमाणरूप नहीं हो सकता। इस तथ्य पर योगभाष्यविवरण में विविक्त प्रकाश डाला है -

(क) ये चापीन्द्रियार्थ-सन्निकर्षस्य प्रत्यक्षत्वमभ्युपयन्ति न तेषामपि सम्यगभ्युपेतम्, सन्निकर्षस्य क्रिया-फलत्वात्। ... सन्निकर्षो हि ज्ञानस्योत्पादको न तस्य ज्ञापकः। (योगभाष्यविवरण १/७)
अर्थात् जो मनीषी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं उनका मत उपपन्न नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष का फल क्रिया है। कारण कि सन्निकर्ष ज्ञान का उत्पादक है, ज्ञापक नहीं।ज्ञापक न होने से वह प्रमाण नहीं हो सकता। यह आक्षेप सन्निकर्षप्रत्यक्षवाद पर है जिसे अवान्तर व्यापार भी नहीं कह सकते क्योंकि वह व्यापारजन्य है - उसे ही पाने हेतु चित्तवृत्तिरूप व्यापार की व्यवस्था है-

(ख) सन्निकर्षश्च संयोगः। स च क्रियाजस्तैरिष्यते। यतो सदुपजायते तत् तस्य प्रमाणम्, तच्च तस्य फलं यदुपजायते। (वही)
अर्थात् जो दार्शनिक सन्निकर्षवादी हैं उनके अनुसार सन्निकर्षरूप संयोग

क्रियाजन्य होता है। ऐसी स्थिति में वृत्तिरूप क्रिया ही प्रमाण बन सकती है जो सन्निकर्ष की जननी है क्योंकि जो जिससे जन्म लेता है वह उसका प्रमाण और जो उत्पन्न होता है वह उसका फल सर्वमान्य है।

(ग) अथापि स्यात्-ज्ञानस्यापि प्रमेयत्वात् तच्चापि उत्पद्यमानं प्रमीयतेति तदुत्पत्तिकारणस्य सन्निकर्षस्य ज्ञापकत्वमेवेति। तच्च न। ज्ञानं ज्ञानेन ज्ञायेत, तेषां तथाभ्युपगमात्। न च सन्निकर्षो ज्ञानम्, ज्ञानोत्पादकत्वेनाभ्युपगमात्। (वही) अर्थात् यदि माना जाय कि ज्ञान भी प्रमेय होने से उत्पन्न होते समय प्रमेय हो सकता है जिससे ज्ञानोत्पत्तिकारण सन्निकर्ष को ज्ञान का ज्ञापक माना जा सकता है तो यह असंगत है क्योंकि तब प्रतिपक्षी ज्ञान से ज्ञान का ज्ञान स्वीकार कर लेता और सन्निकर्ष ज्ञान न होकर उसका उत्पादक हैं, फलत: वह उसका प्रमेय सिद्ध किया जा सकता था।

(घ) अथ ज्ञानस्य ज्ञाने सन्निकर्षो निमित्तत्वात् प्रमाणमिति चेद्, अदृष्टेश्वरेच्छा-विषय-निमेषोन्मेषादीनामपि निमित्तत्वात् प्रमाणत्वे क: प्रद्वेष:। न च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वे आत्मनश्च स्वभावचिद्-रूपत्वानभ्युपगमे शक्यानवस्था परिहर्तुम्। (वही) अर्थात् प्रतिवादी का तर्क हो सकता है कि ज्ञान के ज्ञान में निमित्त होने के आधार पर इस सन्निकर्ष को प्रमाण माना जा सकता है। परन्तु इससे ज्ञान के असंख्येय निमित्तों को प्रमाण मानने का संकट आता है, जैसे, अदृष्ट, ईश्वरेच्छा, विषय, निमेष तथा उन्मेष आदि। ज्ञान को ज्ञेय मानने में अनवस्था अवश्यंभावी है जिसका परिहार केवल आत्मा को चित्स्वरूप स्वयंप्रकाश मानकर ही हो सकता हैं।

(ङ) अथ आत्मसमवेतमात्रतयैव ज्ञानस्य ज्ञेयता न ज्ञानान्तरमपेक्षते येनातिप्रसज्येतेति चेद्, अस्याप्यन्यत् प्रत्यक्षलक्षणं वाच्यम्, अनिन्द्रियसन्निकर्षादि-लक्षणत्वादात्मनि ज्ञानसमवायत्वस्य। सन्निकर्षस्य च ज्ञानोत्पत्तिफलत्वात् तदुत्पत्तिव्यवधाने सति तस्य ज्ञानेन नानन्तर्यम्। (वही) अर्थात् अनवस्था दोष के निराकरण और ज्ञानाधिकरण आत्मा के स्वीकार हेतु यह माना जा सकता है कि आत्मसमवेत होने से ज्ञान की ज्ञेयता होती है जिसे ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं है। उस दशा में न्यायदर्शन का प्रत्यक्षलक्षण अव्याप्त हो जायेगा जिसमें "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान" को प्रत्यक्ष कहा गया है। सन्निकर्ष के बिना ही ज्ञान मानने पर दूसरा प्रत्यक्षलक्षण बनाना होगा। मन:संयोग सन्निकर्ष स्वीकार करते ही अनवस्था आयेगी। इसके अतिरिक्त करण वही होता है जिसके व्यापार के समनन्तर कार्य हो, परन्तु ज्ञान के ज्ञान में प्रथम ज्ञान

की उत्पत्ति द्वितीय के लिए व्यवधानरूप हो जाती है जिससे व्यवहित होने पर सन्निकर्ष का स्वरूप नहीं बन सकता।

तस्मात् तदानन्तर्येणापि न सन्निकर्षफलत्वं ज्ञानस्य (वही) अर्थात् यदि सन्निकर्ष और ज्ञान में अव्यवधान माना जाय तो भी उसे सन्निकर्ष का फल नहीं कहा जा सकता क्योंकि द्वितीय ज्ञान व्यवहित रहता है।

एतावता सांख्य-योग दर्शन में बुद्धिवृत्ति प्रमाण है जो विषयाकार होकर चित्स्वरूप बिंब में प्रतिबिम्बित होकर प्रमा बनती है। विषयाकार लेने हेतु बुद्धि की क्रिया ही वृत्ति है जिससे बुद्धि और विषय का संयोग होता है और वही एकमात्र सन्निकर्ष है। समवाय के अमान्य होने से अन्य सन्निकर्ष दूरापास्त है। अभाव को वस्तु का अवस्थापरिणाम मानने वाला यह दर्शन उसे पदार्थ नहीं मानता कि विशेष्यविशेषणभाव की अपेक्षा हो क्योंकि परिणामी आधार का प्रत्यक्ष ही आधारपरिणाम रूप अभाव का प्रत्यक्ष है। रूपादि चौबीस गुणों का यहाँ अस्तित्व नहीं है, जाति को वस्तुस्वरूप से भिन्न नहीं माना जाता और क्रिया द्रव्य का परिणाम है। इस प्रकार प्रत्यक्ष निश्चयात्मक ज्ञान होने से सविकल्पक है जिसमें चित्तवृत्ति रूप परिणाम का प्रत्यय स्थान पाता है।

अद्वैतवेदान्त -

सांख्ययोग दर्शनों के समान अद्वैतवेदान्त में भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्षलक्षण में नहीं लिया जाता है। यहाँ विषयाकार चैतन्य और प्रमातृचैतन्य के अभेद-प्रत्यय को प्रत्यक्ष माना गया है।चित्सुखाचार्य ने कहा है -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादेश्चाभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्। (तत्त्वप्रदीपिका, पृ.३७६) अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है, इस प्रकार का कोई अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता जो परोक्ष को प्रत्यक्षरूप में व्यक्त कर सके। परमहंस प्रत्यक्स्वरूप ने व्याख्या में स्पष्ट किया है।

अव्यभिचारित्वखण्डनादीश्वरज्ञानाव्यापकत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष- जन्यत्वासिद्धेश्च। तथा हि न तावत् प्रत्यक्षतस्तदधिगमः, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष- योरप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानतः, ज्ञानत्वप्रमितित्वादीनां व्यभिचारित्वात् साक्षात्कारित्वस्याद्यपि असिद्धेरिति।

अर्थात् ईश्वरज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्रयोजक न होने से प्रत्यक्षलक्षण अनैकान्तिक और सन्निकर्ष स्वतः प्रमाणसिद्धि नहीं है क्योंकि इन्द्रिय के अप्रत्यक्ष होने से स्वयं भी प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उससे जन्य ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता

है ? होने से भी सन्निकर्ष प्रमाणित नहीं है क्योंकि ज्ञानत्व तथा प्रमितित्व के आधार पर अनुमित माना जाय तो हेतु का प्रत्यक्षेत्तर ज्ञान में व्यभिचार है और साक्षात्कारी प्रमा को हेतु मानकर सन्निकर्ष का अनुमान असंभव है क्योंकि सन्निकर्ष असिद्धि में साक्षात्कार का स्वरूप अप्रमाणित है। एतदर्थ अद्वैतवेदान्त में विषयव्याप्ति को सन्निकर्ष के स्थान पर लिया गया है -

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ।
तत्रज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घट: स्फुरेत् ॥ (पञ्चदशी ७/९१)

अर्थात् बुद्धि तथा बुद्धिगत चिदाभास इन्द्रियद्वार से निकलकर घटादि विषय को व्याप्त कर विषयाकार हो जाते हैं। तदनन्तर बुद्धिवृत्ति द्वारा घटादि विषय के ज्ञानरूप आवरण विच्छिन्न होने पर घटाकर चिदाभास प्रत्यक्षरूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार प्रमातृचैतन्यरूप चिदाभास और विषयचैतन्य का अभेद ही प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रहती।

रामाद्वयाचार्य ने न्यायवैशेषिकसम्मत छहों सन्निकर्षों का उल्लेख कर पूर्वपक्षीय स्थापना चित्सुखाचार्य द्वारा प्रस्तुत तर्कों का खण्डन करते हुए न्यायपक्ष की अवतारणा की है -

(क) न च वचनीयं योग्यतासम्बन्धेनैव प्रमितिकार्यस्योपपत्तेर्न षोढा सम्बन्धकल्पना युक्तिमतीति । योग्यताया यावद्द्रव्य-भाविन्या : संयोगादिनिरपेक्षत्वे सर्वदा कार्यकरत्वप्रसङ्गात्। (वेदान्तकोश, पृ. ७३७)

अर्थात् सन्निकर्षविरोधी दर्शन इन्द्रियों की विषयग्रहण में नैसर्गिक योग्यता मानते हुए प्रमा की उपपत्ति बताते हैं। तदनुसार योग्यतासम्बन्ध से ही कार्य हो जाने पर वे छह सन्निकर्ष अमान्य करते हैं परन्तु योग्यता यावद्द्रव्यभाविनी होती है, अत: यदि संयोगादि की अपेक्षा न की जाय जो इन्द्रियों की सर्वदा कार्यकारिता होने से सदा प्रत्यक्ष होगा जो असंभव है। योग्यता सामान्य सम्बन्ध है किन्तु प्रत्यक्ष हेतु विषयस्वरूप के अनुसार विशेष सम्बन्ध अपेक्षित होते हैं जिन्हें सन्निकर्ष नाम दिया गया है।

(ख) न च संयोगजन्य-घटादिप्रमायां संयोगस्यार्थ-विशेषणत्वे प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष- संयोगस्याप्रत्यक्षत्वाद् अर्थाप्रत्यक्षत्वमिति शङ्कनीयम्, स्वप्रकाशत्वादि-विशेषणस्याप्रत्यक्षत्वेपि ज्ञान- प्रत्यक्षतावदत्रापि तत्संभवात्। (वही, पृ. ७३७-३८)

अर्थात् इन्द्रियसंयुक्त घटादि की प्रत्यक्षप्रमा में संयोग को विषय का विशेषण बनाया गया है। विषय के प्रत्यक्ष और इन्द्रिय के अप्रत्यक्ष होने से दोनों का

संयोग सन्निकर्ष भी अप्रत्यक्ष रहेगा ? इस प्रकार की शङ्का निराधार है क्योंकि अद्वैतवादी भी ज्ञान को स्वयंप्रकाश मानता है किन्तु स्वयंप्रकाशतारूप विशेषण की अप्रत्यक्षता में भी ज्ञान की प्रत्यक्षता माननी पड़ती है, उसी प्रकार यहाँ सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्ञानप्रत्यक्ष निर्बाध है।

(ग) न च संयुक्तसमवायमात्राद् रूपस्य चाक्षुषत्वे रसादेरपि चाक्षुषत्व प्रसङ्ग:, कार्यदर्शनगम्य-योग्यता-नियामकत्वे सत्येव सम्बन्धविशेषा काङ्क्षायामुक्तसम्बन्ध-निवेशाद् विपरीतापादनस्याशक्यत्वात्। (वही, पृ. ७३८)

अर्थात् प्रतिपक्षी का तर्क हो सकता है कि योग्यता को अमान्य कर केवल संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से रूप को चाक्षुष माना जाय तो रसादि भी क्यों नहीं प्रत्यक्ष होते ? जिस फलादि में रूप है उसी में रस भी। जब कोई आम्रादि फल चक्षु:संयुक्त है तब उसमें समवाय से रहने वाले सभी गुणों का प्रत्यक्ष होना चाहिए क्योंकि संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष समान है। यह तर्क निस्सार है - रूपमात्र का चाक्षुष प्रत्यक्षरूप कार्य देखकर अनुमान होता है कि इन्द्रियविशेष में गुणविशेष के ही ग्रहण की योग्यता होती है। यह योग्यता नियामक होकर अन्य गुणों के प्रत्यक्ष का प्रतिबन्ध लाती है। किसी सन्निकर्षरूप सम्बन्ध के साथ योग्यतारूप सम्बन्ध के रहने पर विपरीत आपत्ति उठाना अशक्य है।

(घ) न च यदि श्रोत्रे नभोभागनिग्रहे समवायात् शब्दोपलम्भ: स्यात् तर्हि वधिरस्यापीति पचनीयम्, भेरीदण्डसंयोगस्येव आकाशावच्छेदस्य दुष्टत्वे समवायस्य तथाविधकार्याकरत्वासम्भवात्। (वही, पृ. ७३९)

अर्थात् श्रोत्ररूप आकाशभाग में समवाय सन्निकर्ष से शब्दप्रत्यक्ष मानने पर वधिर को भी प्रत्यक्ष होने की अनिष्टापत्ति लायी जाती है परन्तु जिस प्रकार भेरीदण्डसंयोग के दोषग्रस्त होने पर ध्वनि की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार कर्णशष्कुली दूषित होने पर शब्द की उत्पत्ति नहीं होती - दुष्ट -कर्णगत आकाश शब्द-कार्य का उत्पादक नहीं होता क्योंकि दोष प्रतिबन्धक है और कार्योत्पत्ति में प्रतिबन्धकाभाव साधारण कारण होता है।

(ङ) न च नाभावोक्षगम्य: - ''षट्पदार्थातिरिक्तत्वादसत्वाद् वा नृशृङ्गवत्'' इति न विशेषणविशेष्यभावोपयोग इति वाच्यम्, द्वैतस्य सत्वासत्वाभ्याम-निर्वाच्यमिच्छतो हेतोरसिद्धे: साधनविकलत्वात्व दृष्टान्तस्य। (वही, पृ. ७३९)

अर्थात् प्रतिवादी के अनुसार अभाव पदार्थ शशशृङ्गवत असत् है, अत: विशेषण विशेष्यभावसन्निकर्ष का कोई उपयोग नहीं। परन्तु जो अद्वैतवादी द्वैत को सत् और असत् से अनिवर्चनीय मानता है वह अभाव को असत् नहीं कह सकता

क्योंकि इससे असत्वरूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। इसके अतिरिक्त शशशृङ्गरूप दृष्टान्त बनाया जाता है।

उपर्युक्त तर्कों से निपुणतापूर्वक न्यायवैशेषिक की सन्निकर्ष व्यवस्था का पूर्वपक्ष स्थापित कर अन्त में उतने ही निपुणता के साथ उसका प्रत्याख्यान किया गया है -

१. अस्तु वा विवक्षावैचित्र्यवशात् कथमपीदृशाभिधानं तथापि न लक्षणेनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसंभवः, अप्रतिप्रसङ्गात्। (वही, पृ. ७४०)

अर्थात् कुछ कहने की इच्छा होने से उक्त उपपत्तियों का यद्यपि स्थान बन गया है तथापि लक्षण या शास्त्र के ज्ञान के न होने से परिच्छेदात्मक प्रतीत नहीं हो सकती क्योंकि यदि वैसा हो तो लक्षण न जानकर भी लोग सर्वज्ञ बन जाँय। इस दृष्टि से लक्षण की भूमि अनुभवरूप व्यवहार को मानना पड़ता है किन्तु सन्निकर्षव्यवस्था से उसका सामञ्जस्य असंभव है।

२. न विज्ञातेन, दुरवधारणत्वात्। (वही)

अर्थात् लक्षण का न्यायानुसार ज्ञान करके भी अन्तर नहीं आता क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सन्निकर्ष व्यवस्था दुर्गम ही रहती है और इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वरूप प्रत्यक्षलक्षण अकिंचित्कर सिद्ध होता है -

३. न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः प्रत्यक्षा, अप्रत्यक्ष विशेषणत्वात्। (वही)

अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की उत्पत्ति प्रत्यक्ष नहीं हो सकती क्योंकि सन्निकर्षरूप उत्पत्तिविशेषण इन्द्रिय के अप्रत्यक्ष होने से अप्रत्यक्ष है। घट देखते हुए भी न इन्द्रिय को और न ही सन्निकर्ष को देखा जाता है।

४. नापि कार्येण लिङ्गेन तदनुपपत्या वा तदवगमः, ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगत-रूपासिद्धावेकरूपासिद्धावेकरूपलक्षणासिद्धेः।

अर्थात् प्रत्यक्षप्रमारूप कार्य को साधन मानकर अनुमान द्वारा अथवा कार्य की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति द्वारा भी सन्निकर्ष का कोई ज्ञान नहीं हो पाता क्योंकि उन दोनों प्रमाणों से सामान्यतः यही जाना जा सकता है कि प्रमा का कोई-न-कोई कारण अवश्य है परन्तु सन्निकर्ष ही कारण है, इसे सिद्ध करने हेतु अनुगत प्रतीति की अपेक्षा होने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हो जाता है जिससे एकरूप लक्षण प्रमाणित नहीं हो सकता।

५. कार्यस्यैकजात्यादेकजातीयकारणसिद्धिरिति चेत् तर्हि कार्य-गतैकजात्यस्य पूर्वमवश्यं, प्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे ततः सजातीय व्यवच्छेद प्रतिपत्तिरस्तु, कृतमनया पारम्पर्यत्वसृष्ट्या। (वही, पृ. ७४१)

अर्थात् यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षप्रमारूप कार्य की एक जातीयता से एकजातीय प्रत्यक्ष-कारण सन्निकर्ष की सिद्धि हो सकती है तो कार्य की एकजातीयता का प्रत्यय पहले स्वीकारणीय ठहरता है और तब प्रमारूप कार्य के ऐकजात्य से ही प्रत्यक्षत्व की प्रतिपत्ति हो सकती है, अत: सन्निकर्ष की लम्बी श्रङ्खला की रचना व्यर्थ है।

६. नापि द्वितीय:, साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तच्चिह्नावगमानुपपत्ते: तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योन्याश्रय: । (वही)

अर्थात् साक्षात्कारी प्रमा को प्रत्यक्ष मानकर भी सन्निकर्ष की व्यवस्था अनुपपन्न है क्योंकि पहले साक्षात्काररूप प्रमा जानकर ही उसे अनुमानलिङ्ग बनाया जा सकता है और यदि सन्निकर्षप्रतिपत्ति पर वस्तुप्रत्यक्ष को अवलम्बित किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

७. नापि तृतीय: । स ह्येवंरूपी यदिन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जातिस्तत् प्रत्यक्षमिति लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् । (वही)

अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूप जाति को प्रत्यक्ष माना जाय तो भी असंभव है क्योंकि जातिरूप लक्षण का ज्ञान अशक्य रहता है।

८. साक्षात्कारित्वात् तु तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियम-निदानम्, अव्यवहित-प्रतिपत्तिकत्वात् । (वही)

अर्थात् साक्षात्कारित्व के आधार पर सन्निकर्ष की प्रतिपत्ति की अपेक्षा साक्षात्त्व को ही व्यवहार का मूलकारण मानना चाहिए क्योंकि वही अव्यवहित प्रतिपत्ति देता है जो अपरोक्षानुभूतिरूप प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार अव्यवहित साक्षात्काररूप अपरोक्ष ज्ञान ही वेदान्त का प्रत्यक्ष है जिसमें सन्निकर्ष का व्यवधान अस्वीकृत है। विषयाकारता लेने से पूर्व वृत्ति और चिदाभास की व्याप्ति को अधिक से अधिक संयोग कहा जा सकता है जो एकमात्र अव्यवधानरूप सन्निकर्ष है, अतएव कहा गया है -

सर्वाणि चेन्द्रियाणि स्व-स्व-विषयसंयुक्तान्येव प्रत्यक्षज्ञानं जनयन्ति। (वेदान्त परिभाषा, पृ. १३१) अर्थात् सभी इन्द्रिय अपने-अपने विषयों से संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं। यह संयोग विषय और इन्द्रिय का प्रत्यक्षपूर्व सद्भावमात्र है जिसे वृत्तिनिर्गम प्रणालीमात्र मानना चाहिए।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त -

विशिष्टाद्वैतवेदान्त वैशिष्ट्य और विकल्प को तात्त्विक मानता है और

बुद्धि को नित्य आत्मा का गुण स्वीकार कर स्वयंप्रकाश सिद्ध करता है। द्रव्य होने से बुद्धि का अर्थ से संयोग सन्निकर्ष नैसर्गिक है। ऐसी स्थिति में -

तमिममिन्द्रिय-द्वारा ज्ञानप्रसरमपेक्ष्योदयास्तमयव्यपदेशः प्रवर्तते। (न्याय सिद्धाञ्जन, पृ. ५१३, श्रीभाष्य का उद्धरण)

अर्थात् इन्द्रिय-द्वार से ज्ञान के प्रसार की अपेक्षा से बुद्धि के उदय और अस्त का व्यवहार होता है। यह बुद्धि ही चैतन्य है -

इन्द्रियेण सह चैतन्यमपि निःसृत्य तेन तेनार्थेन सन्निकृष्यते हस्तादिनेव त्वगिन्द्रियम्। (वही, पृ. ५३१, यामुनाचार्य का उद्धरण)

अर्थात् इन्द्रिय के साथ निकल कर चैतन्य भी विविध अर्थों से उसी प्रकार सन्निकर्षभागी होता है जिस प्रकार हस्तादि से त्वगिन्द्रिय।

चैतन्यस्य विषयेण दृढसंयोगो हि निश्चयः। (सिद्धित्रय, पृ. ८५) अर्थात् चैतन्य का विषय से दृढ संयोग निश्चयात्मक ज्ञान है।

आत्मधर्मस्य चैतन्य विषयेण संयोगो ज्ञानमित्युच्यते। (वही) अर्थात् चैतन्य आत्मा का धर्म है जिसका विषय से संयोग ज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार इस दर्शन में एकमात्र संयोग ही सन्निकर्ष है और वही विषयज्ञान भी। ऐसी स्थिति में द्रव्यगत गुण, जाति और क्रिया के प्रत्यक्ष की व्याख्या का प्रश्न बना रहता है क्योंकि उनके साथ चैतन्यरूप द्रव्य का संयोग सन्निकर्ष नहीं हो सकता। इसके समाधान में वेदान्तदेशिक ने कहा है -

न हि गुणादिभिरपि सम्बन्धः संयोग एव किन्तु संयोगिनिष्ठता,यथा परेषां संयुक्तसमवायादि। (न्याय सिद्धाञ्जन, पृ. ५२९)

अर्थात् गुणादि के साथ चैतन्य का सम्बन्ध संयोग न होकर संयोगिनिष्ठता है जो न्यायादि के संयुक्तसमवायादि के समान स्वीकृत है। जैसे , घटरूप या घटत्व के ज्ञान के चैतन्यसंयोगी घटनिष्ठ रूप या जाति का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ''रूपवान् घट'' की स्थिति में संयुक्तविशेषणता और 'घटरूप' में संयुक्तविशेष्यता सन्निकर्ष माना गया है जिसे मेघनादसूरि ने स्पष्ट किया है -

दण्डि-कुण्डल्यादौ संयोगश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अतो विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धेरेव विशिष्टप्रतीतेस्तेषामेव विशिष्टत्वम्। (नयद्युमणि, पृ. १८९)

अर्थात् दण्डी-कुण्डली आदि के प्रत्यक्ष में संयोग सम्बन्ध प्रमाणसिद्ध है जहाँ द्रव्यों का सन्निकर्ष है, अतः विशेष्यविशेषण और उनके सम्बन्ध से ही विशिष्ट

प्रतीति होती है। साक्षात् ज्ञान को प्रत्यक्षरूप में परिभाषित करते हुए कहा गया है -

साक्षात्वं नामाव्यहितत्वम्। (वही, पृ. १८७) अर्थात् अव्यवधान को साक्षात्त्व कहते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि इन्द्रियों से व्यवहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है ? उत्तर इस प्रकार है -

इन्द्रियाणां सत्तया कारणत्वेन ज्ञानव्यवधानेन कारणत्वाभावात् ...

प्रत्यक्षं चायोगिनामिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजमेव, अतोव्यवधानम्। (वही) अर्थात् ज्ञानव्यवधानपूर्वक इन्द्रियों की कारणता नहीं है प्रत्युत वे अपनी सत्ता द्वारा कारण हैं। लौकिक प्रत्यक्ष के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षजन्य होने से अव्यवधान ही फलित होता है। तात्पर्य यह है कि द्वाररूप इन्द्रिय व्यवधायक नहीं हो सकते प्रत्युत उनके साथ ही चैतन्य का अर्थसन्निकर्ष घटित होता है।

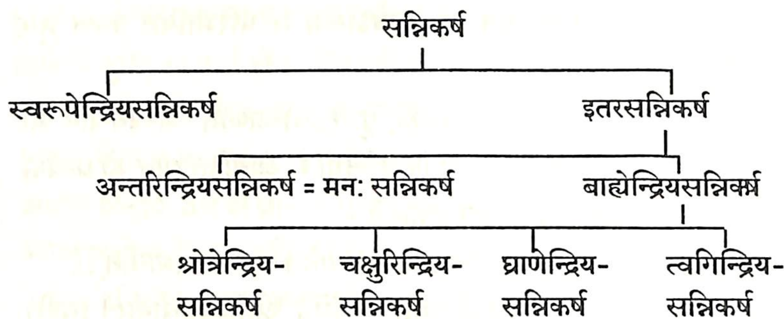
इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में मुख्यत: संयोग ही सन्निकर्ष है। अभाव के अपदार्थ होने से उसके प्रत्यक्ष हेतु विशेषणविशेष्यभाव की व्यवस्था नहीं है प्रत्युत सभी विशिष्ट ज्ञानरूप होता है, अत: सभी प्रत्यक्ष संयुक्तविशेष्यता या संयुक्तविशेषणता का रूप प्राप्त करते हैं।

द्वैतवेदान्त -

मध्वाचार्य के द्वैतवाद में इन्द्रियों तथा सन्निकर्षों की व्यवस्था भिन्न है। स्वरूपेन्द्रिय और अस्वरूपेन्द्रिय भेद से इन्द्रियों के प्रथमत: दो प्रकार हैं जिनमें द्वितीय के भेद हैं - श्रोत्रानिपञ्चक और मन। तदनुसार सन्निकर्ष भी सात माने जाते हैं -

एवमिन्द्रियाणां भेदने तत्सन्निकर्षात्मकं प्रत्यक्षमपि सप्तविधम्।... तत्रेश-लक्ष्मी-प्रत्यक्षं सर्वदा स्वरूपेन्द्रियसन्निकर्षात्मकमेव ... योगिनामयोगिनां च या मुक्ते: उभयविधेन्द्रियसन्निकर्षात्मकम्। तत्र योगिनां देश-कालज्ञ वस्तुस्वभाव-व्यवहितार्थमपि विषयीकरोति, अयोगिनां तु देशकालद्यव्य-वहितमेव। (दशप्रकरणानि., भाग १ पृ. १२३)

अर्थात् इन्द्रियभेद के अनुसार इन्द्रियसन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष के सात प्रकार हैं। ईशप्रत्यक्ष तथा लक्ष्मीप्रत्यक्ष सदैव स्वरूपेन्द्रियसन्निकर्षरूप रहता है और योगियों तथा मुक्तिपर्यन्त अयोगियों का प्रत्यक्ष स्वरूपेन्द्रिय-सन्निकर्षात्मक तथा अस्वरूपेन्द्रियसन्निकर्षात्मक होता है। योगियों का ज्ञान देशकालादिव्यवधाननिरपेक्ष और अयोगियों का व्यवधानसापेक्ष रहता है।



१. इस दर्शन में आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूपेन्द्रियसन्निकर्षरूप है जो सभी को स्वरूपत: रहा करता है। स्वरूप से आत्मस्वरूप का अभिप्राय है। वह मानस प्रत्यक्ष से भिन्न है।

२. स्मृति तथा प्रत्यक्ष का प्रत्यक्ष मन: सन्निकर्षात्मक है। स्मृति भी यहाँ मानस प्रत्यक्ष है।

३. प्रत्यक्ष सन्निकर्षरूप होता है, सन्निकर्षजन्य नहीं।

४. व्यवधान तथा अव्यवधान से उदासीन सन्निकर्ष-व्यवस्था मान्य होने से योगियों का व्यवहितसन्निकर्ष भी हो सकता है।

५. प्रमा और प्रमाण में अन्तर अमान्य होने सन्निकर्षात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है।

६. इन्द्रियसंख्यानुसार सन्निकर्षसंख्या और तदनुसार प्रत्यक्ष के सात भेद स्वीकृत हैं। न्यायादिसम्मत सन्निकर्ष-व्यवस्था अमान्य है।

७. सन्निकर्ष संयोगरूप ही होता है क्योंकि समवाय की न्यायादिसम्मत व्यवस्था यहाँ नहीं है - न हि द्रव्याद् गुणादिकमन्यद् येन तत्सम्बन्ध: समवाय: सम्भवति (वही, पृ. १२९) - अर्थात् द्रव्य से भिन्न गुण, कर्म और सामान्य के अमान्य होने से उनका समवायसम्बन्ध भी असम्भव है, अत: न्याय विशेषणसम्मत चार सन्निकर्ष नहीं हो सकते - सुयंक्त-समवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय और समवेतसमवाय।

८. स्मृतिरूप प्रत्यक्ष में संस्कार प्रत्यासत्ति है - संस्कारस्तु प्रत्यासत्तिमात्रम्। (वही, पृ. १३१) अर्थात् संस्कार सन्निकर्ष से भिन्न कोई गुण नहीं है।

९. अभावप्रत्यक्ष हेतु प्रतियोगी का इन्द्रियसन्निकर्ष पर्याप्त है। तदर्थ विशेषणविशेषयभावरूप पृथक् सन्निकर्ष की व्यवस्था अस्वीकृत है।

शुद्धाद्वैतवेदान्त -

वल्लभवेदान्त मूलत: अद्वैतवादी है परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान की व्यवस्था में

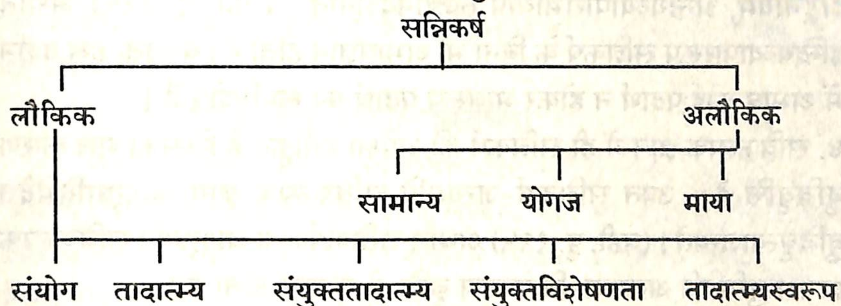
वह अन्य वेदान्तीय धाराओं से सर्वथा भिन्न मत रखता है। यहाँ मनसहित छह इन्द्रियाँ अभिमत हैं। इन्द्रियात्मकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्। (प्रस्थान रत्नाकर. पृ. १०८) अर्थात् इन्द्रियरूप प्रमाण को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके अतिरिक्त इस दर्शन की ज्ञातव्य व्यवस्था इस प्रकार है -

आकाशस्य तु न संयोग:, प्रमाणाभावात् ... समवायपदमत्रतादात्म्य-वाचकं ज्ञेयम्। (वही, पृ. १०९)

अर्थात् प्रमाण न होने से आकाश का संयोग सन्निकर्ष अस्वीकृत है और 'समवाय' तादात्म्य के अर्थ में लिया जाता है। वायु भी यहाँ त्वाच प्रत्यक्ष का विषय है। श्रावण प्रत्यक्ष का विषय केवल शब्द ही न होकर आकाश और शब्द भी है।

उद्भूत-तत्तदगुणा पृथिवी पञ्चेन्द्रियाणां योग्या। तादृश्य आपोघ्राणव्यतिरिक्तानां चतुर्णाम्। तादृशं तेजो घ्राण-रसनभिन्नानां त्रयाणाम्। तादृशो वायुस्त्वक्श्रवणयोर्द्वयो:। आकाशस्तु प्रमेयबलादेव चाक्षुष:। उद्भूत-शब्दस्तु श्रावणोपि प्रतिध्वनिश्रवणेन गर्भगृहाद्याकाशावगमात्। दिक्कालौ तु ग्राह्यार्थ-विशेषणतयैव गृह्येते न तु साक्षात्। मनसस्तु कामादयो वृत्तय एव मनोग्राह्या:। आत्मा तु केवल: शास्त्रीयसाधनमतन्तरेण न प्रत्यक्षस्तथा तद्धर्माश्च ... अणुत्वात् परमाणुवत् (वही, पृ. ११०)

अर्थात् उद्भूत विविध गुणों वाली पृथिवी के प्रत्यक्ष की योग्यता पाँचों बाह्य इन्द्रियों में, जल की घ्राणेतर चार में, तेज की घ्राणरसनेतर तीन में, वायु की त्वक् तथा श्रवण में होती है। आकाश का स्वयं प्रत्यक्ष न होकर शब्द रूप प्रमेय के सहकार से होता है क्योंकि वह प्रतिध्वनि से गम्य बनता है और वह घटादिप्रमेयों के द्वारा चाक्षुष प्रत्यक्ष का भी भागी है। प्रमेय के विशेषण होकर दिक् और काल प्रत्यक्ष हैं परन्तु उनका साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता। मन अपनी कामादि वृत्तियों का ही प्रत्यक्षकारी है। अणुरूप आत्मा परमाणुवत् केवल अप्रत्यक्ष है किन्तु शास्त्र तथा योग आदि की सहायता से प्रत्यक्ष हो सकता है। इसके लिए सन्निकर्ष व्यवस्था इस प्रकार है। (वही, पृ. ११६-१७)



अलौकिक सन्निकर्ष को छोड़कर शेष का संक्षिप्त विवरण उक्त आधार पर इस प्रकार है -

(क) उक्त रीति में पृथ्वी, जल तेज और वायु का प्रत्यक्ष संयोग सन्निकर्ष से होता है।

(ख) शब्द आकाश में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता हुआ प्रत्यक्ष बनता है और उसके माध्यम से उसी सन्निकर्ष द्वारा आकाश का ग्रहण मान्य है।

(ग) द्रव्यगत गुण, जाति तथा कर्म के प्रत्यक्ष में संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष कारण है क्योंकि चक्षुरादि से संयुक्त द्रव्य से गुणादि का तादात्म्य है।

(घ) दिक् तथा काल का प्रत्यक्ष संयुक्तविशेषणता सन्निकर्ष से होता है क्योंकि

चक्षुरादिसंयुक्त द्रव्य के विशेषणरूप से उनकी उपस्थिति होती है-पर घट, अपर घट, प्राच्य भूभाग, प्राचीन पुरुष आदि प्रत्यक्षों में दिक्काल की अवच्छेदकता स्पष्ट है। आकश का चाक्षुष प्रत्यक्ष भी इसी प्रकार होता है क्योंकि सभी मूर्तियों का ज्ञान आकाशरूप अधिष्ठान का ज्ञान कराता है।

(ङ) काम, संकल्प, भय आदि वृत्तियाँ मनोरूप होने से तादात्म्य भागी स्वरूप हैं, अत: उनका मानस प्रत्यक्ष तादात्म्य स्वरूप सन्निकर्ष से माना गया है।

इसके अतिरिक्त शुद्धाद्वैती सन्निकर्ष व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें भी द्रष्टव्य हैं -

१. योग्यता सम्बन्ध सभी सन्निकर्षों का सहकारी है। इस विषय में वल्लभदर्शन व्याकरणमतानुयायी है - इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा। (वाक्यपदीयम् ३/३/२९) अर्थात् इन्द्रियों के स्वविषयों में अनादि योग्यता रहती है। यह उनका अनुत्पाद्य स्वधर्म माना गया है। वह योग्यता योग्यतात्वेन एक होकर भी सन्निकर्षों द्वारा विविधता लेती है।

२. इन्द्रियों के विषयग्रहण योग्य व्यापार को सन्निकर्ष या प्रत्यासत्ति कहा गया है-

तेषां व्यापार: ... प्रत्यासत्तिरूप: ....। (प्रस्थान रत्नाकर, पृ. ११६)

३. अभाव की प्रत्यक्षता अमान्य है - न चाभावज्ञानमिन्द्रियेणैवास्त्विति शङ्कनीयम्, इन्द्रियव्यापाराभावेपि तज्ज्ञानदर्शनात्। (वही, पृ. ११९) अर्थात् इन्द्रियव्यापाररूप सन्निकर्ष के बिना भी अभावज्ञान होता है। वस्तुत: इस दर्शन में अभाव कोई पदार्थ न होकर भावरूप पदार्थ का रूपविशेष है।

४. सविकल्पक ज्ञान में ही सन्निकर्ष की अपेक्षा स्वीकृत है जिसका मूल कारण बुद्धिवृत्ति है - उक्त सन्निकर्ष-जन्यमपि सविकल्पकं ज्ञानं चाक्षुषादिभेदेन बुद्धिवृत्याजन्यते। (वही, पृ. १२५) अर्थात् सन्निकर्षजन्य चाक्षुषादि सविकल्पक प्रत्यक्ष बुद्धि की अवस्था-विशेषरूप वृत्ति से उत्पन्न होता है।

यदा विषयेन्द्रियसंयोगान्निर्विकल्पकं तदेन्द्रियदेशे बुद्धेर्वृत्तिः। तयेन्द्रियानुग्रहे सविकल्पकम्, अननुग्रहे तु न। वृत्त्यन्तरेणं पूर्ववृत्तिनाशे सविकल्पकस्य संस्काररूपेणावस्थानम्। (वही, पृ. १२६)
अर्थात् जब विषय और इन्द्रिय के संयोग से निर्विकल्पक ज्ञान जन्म लेता है तब बुद्धिवृत्ति बाहर न जाकर इन्द्रियप्रदेश में रहती है - निर्विकल्पक ज्ञान में इन्द्रियसन्निकर्ष प्रधान रहता है किन्तु सविकल्पक ज्ञान में वृत्ति द्वारा इन्द्रिय का अनुग्रह अपेक्षित है जिसके बिना विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अन्य बुद्धि वृत्ति से पूर्ववृत्ति का नाश होने पर सविकल्पक ज्ञान संस्काररूप ग्रहण कर लेता है।

वस्तुतः वृत्ति के अनुग्रह से इन्द्रिय द्वारा सन्निकर्षरूप व्यापार का जनन सम्भव है, अतः वाल्लभ मत में इन्द्रिय ही प्रत्यक्षप्रमाण है।

शाक्तदर्शन -

शाक्तदर्शन में अद्वैत चिति की व्याप्ति ही प्रधान है क्योंकि कोई परिच्छेद्य चिति से व्याप्त होकर ही परिच्छिन्न या प्रमित होता है और यह व्याप्ति ही सम्बन्ध या सन्निकर्ष है जो प्रतिबिम्बात्मक मानी गयी है। विप्रतिपत्ति यह है -

अव्याप्तौ तु चिता यर्हि कथं सिध्यते् परिच्छिदिः।
चितेर्बहिर्यदा चेत्यमस्ति तत् स्यात् परिच्छिदिः॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड ८/३३)

अर्थात् यदि चित् की व्याप्ति न हो तो ज्ञान का अविनाभावी परिच्छेद असंभव है, अतः जब चेत्य या ज्ञेय पदार्थ चिति से बाहर हो तभी प्रमा हो सकती है। परन्तु इससे द्वैत ही फलित होगा -

चितेर्बहिश्चेत्यसिद्धिः सर्वथा नोपपद्यते।
यो बहिः स कथं सिध्येच्चितिसम्बन्धवर्जितः॥ (वही १०/३४)

अर्थात चिति से बाहर वस्तुओं की सत्ता मानी जाय तो उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि बाह्य वस्तु की चितिसम्बन्ध के बिना सिद्धि का कोई आधार नहीं है।

सम्बन्धोपि नैकदेशः स्यादसिद्धस्तथैतरः।
तत्सम्बन्धांशमात्रस्य भानादन्यन्न सिध्यति॥ (वही १८/३५)

अर्थात् चिति का चेत्य से एकदेशीय सम्बन्ध होने पर वस्तु का अन्य अंश असिद्ध रह जाता है क्योंकि जितने अंश से सम्बन्ध घटित हो पाता है उससे भिन्न अंश की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

अतो बहि: पदार्थोंपि चितिनिर्मग्न इष्यताम् ।

एवं च सर्वात्मनैव मग्नं चेत्यमपीष्यताम् ॥ (वही १८/३६)

अर्थात् उक्त असामाञ्जस्य के निवारण हेतु यही मानना पड़ता है कि बाह्य पदार्थ भी चिति में समाविष्ट होकर ही बोधविषय बन पाता है और यह भी निश्चित है कि विषय का समग्र रूप से प्रवेश रहता है तभी सम्पूर्णता में विषय का ज्ञान संभव बनता है। यहाँ प्रश्न यह है कि चिति में मग्न पदार्थ का अपना परिच्छेद स्वयं कैसे हो सकता है ?

चितेरन्तर्भासमानं प्रतिबिम्बात्मकं भवेत् ।

न भावोदरगोभावो भवन् लोके सुदृश्यते ॥ (वही १८/३८)

अर्थात् चिति में भासित चेत्य या प्रमेय प्रतिबिम्बरूप होता है। भावरूप पदार्थ में अभाव नहीं ठहर सकता, अत: निश्चयात्ममक ज्ञान आंशिक नहीं हो सकता।

तदाश्रयाणांभावानां कथं स्यात् सत्यता वदा ।

चितिस्वरूप: स्वात्मैव तत्तद्भावात्मना सदा ।

भासते स्वाच्छन्द्यशक्त्या नाधिकं विद्यते क्वचित् ॥

(वही,१८/६१)

अर्थात् चिदाश्रित भाव कभी सत्य नहीं हो सकते किन्तु चितिस्वरूप आत्मा ही विविध भावों के रूप से अपनी स्वतंत्रता शक्ति द्वारा सदैव भासभान रहता है। उससे अधिक कहीं कुछ नहीं है।

द्रष्ट-दर्शन-दृश्यात्म-वैचित्र्येण विभाति हि ।

एवं शुद्धैव सा संविद् विचित्राकारभासिनी ॥ (वही १८/६१)

अर्थात् विविध एवं विचित्र आकारों में भासमान शुद्ध चित् ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूपों से विचित्रता लेकर प्रकाशित होती है। तात्पर्य यह कि त्रिपुटी की सत्यता संवित् की सत्यता पर प्रतिष्ठित होने से ज्ञानसाधनरूप इन्द्रियों का पृथग्भाव और उनके सम्बन्ध की कल्पना व्यावहारिक होने पर भी पारमार्थिक नहीं है -

यदादर्शं बिना किंचित् प्रतिबिम्बं न भाति वै ।

अदर्शान्नातिक्तोत: प्रतिबिम्बौ भवेद् यथा ॥

एवं चितिमृते किंचिदतिरिक्तं न विद्यते ।

अतएव मनोप्यन्यते् सर्वथा नास्ति वै चिते: ॥

(वही १८/६४/६५)

अर्थात् जिस प्रकार दर्पण से पृथक् एवं भिन्न प्रतिबिम्ब की सत्ता नहीं होती उसी प्रकार चिति से भिन्न कुछ भी नहीं है, अतएव मन भी चिति से पूर्णत: भिन्न नहीं माना जा सकता।

दीपप्रभा घट-च्छिद्राद् यथा निर्याति वै बहि: ।
एवमक्षद्वारमुखाद् भूयो निर्याति वै चिति: ॥
निर्याणं तु चितेर्नास्ति पूर्णत्वादक्रियत्वत: ।
स्वात्मावरणमाकाशं स्फूर्तिशक्तिश्चिदात्मन: ॥
यावन्निवारयेत् तावन्निर्याणं प्रतिभासते ।
मनोव्यापार एष स्यात् स्फूर्त्यापहतिरावृते: ॥
(वही १८/११४-१६)

अर्थात् घड़े के छेद से जिस प्रकार दीपक की ज्योति बाहर निकलती है उसी प्रकार इन्द्रियद्वार से चिति बाहर विकीर्ण हुआ करती है। यद्यपि पूर्ण एवं निष्क्रिय चिति का बहिर्गमन असंभव है तथापि वैसा भासित होता है क्योंकि चिदात्मा की स्फूर्तिशक्ति का नाम आकाश है जिसके द्वारा जब तक आवरण का निरोध रहता है तब तक निर्गमन भासित होता है। स्फूर्ति द्वारा आवरणभङ्ग को मनोव्यापार कहा गया है।

इस प्रकार अद्वैतपरक शाक्त चिन्तन में इन्द्रियाँ द्वारमात्र हैं जिनका विषय से कोई सन्निकर्ष नहीं हो सकता। यह वैसा ही है जैसे घटच्छिद्र का विषय सम्पर्क न होकर उससे निर्गत किरण का विषयसम्बन्ध बनता है। चित्त-चितिरूप दीपक की प्रभा है जो इन्द्रियरन्ध्र कही जा सकती है। वस्तुत: चिति का स्वरूपमात्र होने से मन भी स्वयं व्याप्ति का कारण नहीं है प्रत्युत चिति ही स्वप्रतिबिम्बित विषयाकार लेती है। और यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं माना जा सकता।

प्रत्यभिज्ञाशैवदर्शन -

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में इन्द्रियों की संज्ञानात्मक भूमिका शाक्त दर्शन जैसी ही है। यत्किंचित प्रक्रिया भेद के साथ उत्पलदेव के विचार संग्राह्य हैं -

देशकालक्रमजुषामर्थानां स्वसमापिनाम् ।
सकृदाभाससाध्योसावन्यथा क: समन्वय: ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १/७/३)

अर्थात् देशक्रम तथा कालक्रम के भागी पदार्थ अपने-आप में समाप्त होते हैं जिनका समन्वयरूप सम्बन्ध केवल एक चिदाभास से सिद्ध हो सकता है। तात्पर्य यह कि एक प्रमाता में ही सभी प्रमेयों तथा प्रमाणों का सम्बन्ध बन सकता है। विमर्शिनी टीका में कहा गया है -

न हि पृथक्-पृथक् परिक्षीणेषु स्रोत:सु तदुह्यमाना: तृणोलपादय: समन्वयं कंचिद् यान्ति।

अर्थात् जिस प्रकार पृथक्-पृथक् क्षीण होने वाले प्रवाहों में बहते हुए तृणादि का समन्वय नहीं होता उसी प्रकार भिन्न इन्द्रियों के विषयों का स्वत: सम्बन्ध असंभव है।

ज्ञान-ज्ञेय-स्वरूपिण्या शक्त्या परमया युत: ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मय: ॥ (स्पन्दशास्त्र १/१८)

अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय परमेश्वर की दो शक्तियाँ है जिनमें वह भास लेता है तथा उनसे पृथक् वह चिन्मय है।

चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।(प्रत्यभिज्ञाहृदय ५)

अर्थात् चिति स्वयं संकुचित होकर चेतन प्रमाता का रूप लेती है और वही चेतन पद से उतर कर जब चेत्य पदार्थ को संकुचित करती है तब चित्त कही जाती है। इस प्रकार चिति से चित्त तक दो सोपानों में अवरोहात्मक संकोच है जिससे व्यावहारिक ज्ञानप्रकिया का स्वरूप बनता है -

ज्ञानशक्ति: क्रमेण संकोचाद् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेरन्त:करण-बुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वमत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम् । (वही ९)

अर्थात् परमेश्वर की ज्ञानशक्ति क्रमश: संकोच द्वारा भेद प्राप्त कर सर्वज्ञत्व के स्थान पर अल्पज्ञत्व अपनाती है जिससे अन्त:करण तथा ज्ञानेन्द्रिय का स्वरूप बनता है और आगे अत्यन्त संकोच ग्रहण कर वही ज्ञानशक्ति विविध ज्ञेयों के ज्ञान का रूप लेती है। इस सबको मायीय मल कहा गया है।

तदेवं व्यवहारेपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासवेद् बहि: ॥ (वही १० उद्धरण)

अर्थात् परमेश्वर व्यवहारदशा में शरीरादिप्रवेश लेकर अपनी इच्छाशक्ति से उन्हीं अर्थों को बाहर भासित करता है जो उसके भीतर प्रकट रहते हैं।

इस दर्शन में प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा का ज्ञानशक्ति से और उसका परमेश्वर से इस प्रकार अपृथग्भाव स्थापित है कि संकोच के अतिरिक्त सन्निकर्षव्यवस्था के लिए अवकाश ही नहीं है। प्रकारान्तर से ये ही तथ्य शाक्त दर्शन में भी सुलभ हैं।

वीरशैव दर्शन -

पूर्वं च गृह्यते बोध: पश्चादिति स्थित: ॥ (नरेश्वरपरीक्षा १/३२)

अर्थात् पहले वस्तु का इन्द्रिय से ग्रहण और पश्चात् उसके बोध की व्यवस्था बनती है। इसीलिए कहा गया है -

झटिति इन्द्रियार्थसंयोगे हि प्रथममध्यवसायरहिंत शुद्धमेव वस्तु, पश्चात् तु घटोयमित्याद्यध्यवसायोपि संवेद्यते ।

अर्थात् इन्द्रियार्थसंयोग होने पर तत्क्षण निश्चयरहित शुद्ध वस्तु का ग्रहण होने के अनन्तर घटादि के अध्यवसाय का संवेदन भी होता है ।

यहाँ टीकाकार ने कुमारिल की कारिका उद्धृत की है, अत: इस द्वैतवादी दर्शन में सन्निकर्षों की तदनुसार व्यवस्था माननी चाहिए । आगे कारिका की टीका में मीमांसासूत्र (१/१/४) उद्धृत है जिससे वही प्रत्यक्षव्यवस्था यहाँ अभिमत है ।

वस्तुनो जनकत्वं हि बुद्धिं प्रत्युपकारिता ।
कर्मतेन्द्रियसम्बन्धादादानं नाकृतेशत: ॥ (वही १/३३)

अर्थात् वस्तु बुद्धिजनक होने से बुद्धि का उपकारक है - वह अपनी सत्तामात्र से बुद्धि जन्म द्वारा उपकार करता है परन्तु बोधक्रिया का कर्मकारक होकर जब वही ग्राह्य बनता है तब इन्द्रियसम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष होता है । ऐसी स्थिति में वृत्तिवादियों का मत असंगत है कि विषयाकार ग्राह्य होता है । इन तथ्यों से स्पष्ट है कि कुमारिलमीमांसा के ही सन्निकर्ष यहाँ मान्य हैं यद्यपि स्पष्ट विभाग नहीं दिये गये हैं ।

दाक्षिणात्य शैवदर्शन -

दाक्षिणात्य शैवदर्शन में कञ्चुकों की व्यवस्था अन्य दर्शनों से भिन्न है परन्तु सन्निकर्षों का परिगणन न्याय का अनुसरण करता है -

अक्षमात्रेण सम्बन्ध: षड्विधोध्यक्षसंज्ञित: ।
घटादिद्रव्यविज्ञानं चक्षु:संयोगमात्रत: ॥
संयुक्तसमवायात् तद्गुण-सामान्ययोर्मति: ॥
संयुक्तसमवेतार्थसमवायात् तद्गुणत्वधी: ।
शब्दस्य ग्रहणं श्रोत्रसमवेततया स्थितम् ॥
शब्दत्वं समवेतार्थसमवायात् प्रतीयते ।
विशेषणतयाभावसमवायाविति स्थिति: ॥
विशेष्यत्वेन वाभावसमवायर्मिति: स्थिता ।
(पौष्करागम, प्रत्यक्ष ३२-३६)

अर्थात् इन्द्रियमात्र से अर्थ का सम्बन्ध छह प्रकार का है और वही प्रत्यक्षप्रमाण है । संयोग से द्रव्य, संयुक्तसमवाय से द्रव्यगत गुण तथा सामान्य, संयुक्तसमवेतसमवाय से द्रव्यगत गुण और जाति, समवाय से शब्द और

समवेतसमवाय से शब्दत्व का प्रत्यक्ष होता है। विशेषणता अथवा विशेष्यता सन्निकर्ष से अभाव एवं समवाय का प्रत्यक्ष अभिमत है।

बौद्धदर्शन -

बौद्धों के क्षणभङ्गवाद में सन्निकर्ष-प्रक्रिया अलभ्य है। असत्ख्यातिवाद अथवा आत्मख्यातिवाद की अवधारणा सम्बन्ध की उपेक्षा करती है। आचार्य नागार्जुन ने कहा है -

दर्शनं श्रवणं घ्राणं रसनं स्पर्शनं मन: ।
इन्द्रियाणि षडेतेषां द्रष्टव्यादीनि गोचर: ॥
न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत् परान्॥ (मध्यमक शास्त्र ३/१-२)

अर्थात् द्रष्टव्य, श्रोतव्य, घ्रातव्य, रसयितव्य, स्प्रष्टव्य तथा मन्तव्य विषयों के लिए दर्शन, श्रवण, ध्राण, रसन, स्पर्शन तथा मन इन्द्रियों की व्यवस्था असमञ्जस है क्योंकि जब वे अपने दर्शनस्वरूप को नहीं देखते तब अन्य को क्या देख सकते हैं ?

द्रष्टव्यत्वेन जातेन नास्मिन् कश्चिद् गुणो घटे ।
द्रष्टव्यत्वजातिवत् तत् सद्रूपो न विद्यते ॥ (चतु: शतक १३/१०)

अर्थात् द्रष्टव्यता के उत्पन्न होने से घट में कोई विशेषता नहीं आती क्योंकि द्रष्टव्य जाति और घटत्व दोनों ही असत् है।

उक्त दृष्टि से जब द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया शून्य हैं तब उन सम्बन्ध की चर्चा नहीं हो सकती। मूल धारणा इस प्रकार है -

प्रत्यक्षेण हि तावद् यद्युपलभ्य विनिवर्तयसि भावान् ।
तन्नास्ति प्रत्यक्षं भावा येनोपलभ्यन्ते ॥ (विग्रहव्यार्त्तनी ५)

अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा मृगतृष्णादि भावों को उपलब्ध करने के पश्चात् उनकी निवृत्ति में क्या सार है जब प्रत्यक्ष की सत्ता ही नहीं है जिससे भावोपलब्धि होती है ? शून्यवाद की यही नि:स्वभावता है -

यदि च स्वभावत: स्याद् ग्राह: कस्तं निवर्तयेद् ग्राह्यम् । (वही ६८)

अर्थात् यदि मृगमरीचिकादि का स्वभावत: ग्रहण होता तो ग्राह्य विषय की निवृत्ति न होती।

अलातचक्रं गृह्णाति यथा चक्षुर्विपर्ययात् ।
तथेन्द्रियाणि गृह्णन्ति विषयान् साम्प्रतानिव ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च पञ्चभूतया मता: ।
प्रतिस्वं भूतवैयर्थ्यादेषां व्यर्थत्वमर्थत: ॥
(रत्नावली ४/५७/५८)

अर्थात् जिस प्रकार भ्रमवश नेत्र अलातचक्र को स्वरूपत: ग्रहण करता है उसी प्रकार इन्द्रिय विषयों को वर्तमानवत् ग्रहण करते हैं। वैशेषिक मत से इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थ पञ्चभूतमय कहे गये हैं किन्तु स्वभावत: भूतों की व्यर्थता के कारण उन सबकी यथार्थता व्यर्थता या नि: स्वभावता है।

विज्ञानवाद में सभी विषय विज्ञान के आकार माने गये हैं, अत: स्वरूपत: विषयों की कोई सत्ता नहीं है -

पञ्चानां मूलविज्ञाने यथाप्रत्ययमुद्भव:।
विज्ञानानां सह न वा तरङ्गाणां यथा जले ॥
(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विंशिका १५)

अर्थात् सागरतुल्य आलयविज्ञान में प्रत्ययानुसार तरङ्गवत् पाँच ऐन्द्रिय विज्ञानों का समुद्भव है जिनका सहभाव कभी होता है कभी नहीं। इस प्रकार यथार्थत: सन्निकर्षरूप सम्बन्ध असंभव है -

....सैव प्रत्यासत्तिर्विचार्यते ।
दृश्यदर्शनयोगेन तस्य तद् दर्शनं मतम् ।
तयो: सम्बन्धमाश्रित्य द्रष्टुरेष विनिश्चय: ॥
आत्मा स तस्यानुभव: स च नान्यस्य कस्यचित् ।
प्रत्यक्ष-प्रतिवेद्यत्वमपि तस्य तदात्मता ॥
(प्रमाणवार्त्तिक २/३२४-२६)

अर्थात् जिस आत्मा द्वारा देखा सुना आदि जाता है उसी की दृश्यदर्शनरूपता होती है और उसीको प्रत्यासत्ति या सन्निकर्ष कहते हैं। जिस के द्वारा दृश्य और दर्शनरूप प्रत्यासत्ति होती है उसी का वह स्वरूप है। दोनों को अलग-अलग मानकर प्रमाता विकल्पना का निश्चय कर चलता है परन्तु प्रमाता आत्मा है और उसी का स्वरूप अनुभव है। प्रत्यक्ष प्रमेयता भी उसी की तदाकारता है।

उपादानेन सम्बन्धादुपादेयस्य चेद् ग्रह: ।
उपादानस्य किं नेति सम्बन्धो न प्रयोजक: ॥
(ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावलि, पृ.४२४)

अर्थात् यदि यह माना जाय कि इन्द्रियादि उपादान के साथ उपादेयरूप प्रमेय के सम्बन्ध से प्रमा होती है तो सम्बन्ध निष्प्रयोजन है क्योंकि उपादान का प्रत्यक्ष ग्रहण क्यों नहीं होता ? जिस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अर्थग्रहण की व्यवस्था है उसी से इन्द्रिय का भी ग्रहण होना चाहिए।

तदत्रानुन्मीलिताक्षस्य सन्निकर्षघोषणमन्यत्राप्यस्तु, योगिवद् वातीतग्रहणमपि स्यात्। एवं प्रबन्धप्रवृत्तो पूर्वपूर्व-सर्वेक्षणवीक्षण-प्रसङ्गो

यावदेकमुपादानम् अनवधिर्वा। यथा व्यवश्रितारतम्यं तथा सन्निकर्ष-प्रौढिता रतम्यमिति। (वही)

अर्थात् खुली आँखों वाले प्रमाता के लिए अनुमानादि में भी सन्निकर्ष की व्यवस्था होनी चाहिए अथवा योगी के समान अतीतग्रहण स्वीकृत करना चाहिए। सन्निकर्षरूप सम्बन्ध की प्रवृत्ति में जब कतिपय क्षणों के समूह का ग्रहण हो सकता है तब सभी अतीत क्षणों का ग्रहण क्यों नहीं होता ? उपादान जब तक एक है तब तक प्रत्यक्ष की अवधि नहीं हो सकती। सन्निकर्षवादी व्यवधान या दूरी के तारतम्य से प्रत्यक्ष की व्यवस्था देता है जिसे उलटकर सन्निकर्ष की प्रौढ़ता का तारतम्य मानते हुए स्मृति पर्यन्त प्रत्यक्ष का विस्तार स्थापित किया जा सकता है।

घटेनेन्द्रियसन्निकर्षो नोष्ट्रेणेति तदनुभवादेव निश्चेयम्।
तदनुभवत्वं चास्य तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेरितीतरेतराश्रयदोषः,
प्रकारान्तरेण तदनुभवसिद्धौ वा सन्निकर्षोत्तरस्य वैयर्थ्यात्।
अपि च तत्सन्निकर्षेणोत्पत्तेस्तदनुभवत्वे विकल्पमात्रव्यवस्था-
पितोऽस्पष्टप्रतिभासोऽर्थस्यानुभवः स्यान्न स्पष्टः। (वही, पृ. ३५१)

अर्थात् यह तो अनुभव से ही निश्चित होगा कि उष्ट्र के साथ न होकर घट के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष हुआ और अनुभव तब होगा जब सन्निकर्ष से उसकी उत्पत्ति हो। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष है जिसके निराकरण हेतु सन्निकर्ष के अतिरिक्त कोई योग्यता आदि रीति अपनाई जाय तो उसके बाद होने वाला सन्निकर्ष व्यर्थ है। एक अन्य अनुपपत्ति है कि सन्निकर्ष द्वारा उत्पत्ति से अनुभव की सत्ता मानने पर विकल्पों की श्रंखला से व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी और तब अर्थानुभव का स्पष्ट प्रतिभास असंभव होगा क्योंकि अव्यवहित क्षण का ही अनुभव स्पष्ट हो सकता है किन्तु क्षणसंसर्गयोग्य ज्ञान अपोहमात्र है जिसमें क्षणिक धर्म का ग्रहण विज्ञानाकार होता है और सन्निकर्ष से होने वाला धर्मी का ज्ञान प्रत्यक्षाभास है -

(क) यदि हि भेदाद् धर्मिणः प्रतीतावपि न धर्माणां शब्दलिङ्गद्वारेण बोधः, इन्द्रियद्वारेणापि मा भूत्। (वही, पृ. २१३)

अर्थात् धर्म और धर्मी में भेद के कारण यदि बोध अमान्य है तो इन्द्रिय द्वारा भी असंभव है क्योंकि इन्द्रिय से क्षणिक धर्मबोध ही हो सकता है किन्तु सविकल्प में होने वाले धर्मी के बोध का एक ही अनुमान प्रमाण शेष है। सन्निकर्षव्यवस्था भी क्षणिक धर्मप्रत्यक्षों को संकलित कर धर्मी के विशिष्ट बोध का साधन नहीं हो सकती।

(ख) अथेन्द्रियस्य संयोग-समवायबलात् सन्निकृष्टे धर्मिणि समवायादिसन्निकर्ष-भाजो धर्मा अपि प्रतीतिगोचरी भवन्तीत्युच्यते, लिङ्गस्यापीयं सामग्री न खलु कलयापि हीयते। (वही)

अर्थात् वैशेषिक और न्याय दर्शनों की स्थापना है कि इन्द्रिय के संयोग और समवाय सन्निकर्षों से सन्निकृष्ट धर्म में धर्मी का समवाय या सवेतसमवाय सन्निकर्ष होने से उनकी प्रतीति में कोई बाधा नहीं है परन्तु यही सन्निकर्षसामग्री अनुमान के लिङ्ग की व्यस्थापिका हो सकती है। इस प्रकार प्रत्यक्षाभासरूप विकल्पबोध अनुमान है और उसके निर्माण में सन्निकर्ष का योग हो सकता है। परन्तु क्षणिक एवं विकल्पहीन प्रत्यक्ष पर वैशिष्ट्य का मिथ्या भार डालने की सन्निकर्षव्यवस्था हेय है।

(ग) शब्दस्य तु यद्यपि न वाच्येन सह संयोग-समवायौ, वाच्यवाचकलक्षणा तु प्रत्यासत्तिरिष्टैव, तदभावे वाच्यप्रतीतेरेवाभावप्रसङ्गात्। प्रतीतौ वा की दृशी संयोगादेरपेक्षा ? (वही)

अर्थात् शब्द और अर्थ में संयोग तथा समवाय सन्निकर्ष नहीं है किन्तु वाच्यवाचक भावरूप सन्निकर्ष मान्य करना पड़ता है क्योंकि उसके बिना अर्थप्रतीति असंभव है और यदि इस सम्बन्ध के बिना भी अर्थप्रतीति मानी जाय तो संयोगादि सन्निकर्षों की अपेक्षा क्या है ? तात्पर्य यह कि सविकल्पक प्रत्यक्ष शब्दानुविद्धज्ञान है जो स्वलक्षण धर्म का ज्ञान न होकर क्रमश: प्रत्यक्षीभूत धर्मों के पुञ्जीभाव से संकलित धर्मी का विशिष्ट प्रत्यय है। उसमें शब्दार्थसन्निकर्ष की अपेक्षा है जो न्यायादि मतों में भी वाच्यवाचकरूप है। ऐसी स्थिति में उसी से अर्थबोध हो जाने पर संयोगादि सन्निकर्षों की स्थापना व्यर्थ है और यदि वाच्यवाचकभाव न माना जाय तो सविकल्पक रूप में धर्मी का बोध नहीं हो सकता।

(घ) न च शब्दद्वारेण प्रतीतौ प्रवृत्तिनिमित्तविरोधिनी व्यवधानशङ्का, जातिमती हि व्यक्ति: सकृदेव शब्दादवसीयते भवताम्। क्रमेण त्वेकैकबोधान्न कदापि जातिमद्व्यक्तिबोध: स्यात्। (वही)

अर्थात् प्रतिपक्ष के अनुसार शब्द द्वारा अर्थप्रतीति मानने पर जातिरूप प्रवृत्तिनिमित्त के बोध में शब्द का व्यवधान असह्य है परन्तु जातिविशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले नैयायिकों के लिए यह शङ्का निराधार है क्योंकि एक बार में ही शब्द में दोनों का बोध स्वीकृत है। यदि क्रम से जाति और व्यक्ति का बोध माना जाय तो दोनों का विशिष्ट बोध नहीं हो सकता। अत:

वाच्यवाचकसन्निकर्ष ही सविकल्पक के लिए पर्याप्त मानना चाहिए जिसमें संयोगादि सन्निकर्ष व्यर्थ है।

(ङ) न च निश्चयक्रमोपलम्भ:। तस्माज्जातिरधिका प्रतीयतां नाम, व्यक्तिस्तु धर्मिणी प्रतीयमाना न स्वसमवेत-गुण-क्रियादीन-प्रतिपाद्य स्वास्थ्य-मासादयेत्। (वही)

अर्थात् यदि कहा जाय के जातिविशिष्ट व्यक्ति के बोध में जातिरूप धर्म का क्रम रहता है। क्योंकि धर्मी का बोध करके ही जातिरूप धर्म का निश्चय होता है। ऐसी दशा में व्यक्ति से पृथक् जाति की प्रतीति स्वीकार्य है। धर्मी व्यक्ति की प्रतिपत्ति तभी पूर्ण होगी जब इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में समवेत गुण, क्रिया और जाति का बोध हो अन्यथा व्यक्ति की स्वरूपहानि होगी। इस प्रकार शब्दोल्लेखपूर्वक होने वाले सविकल्पक ज्ञान में वाच्यवाचकभाव के अतिरिक्त किसी सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है।

शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेर्थ स्तत्रपोहस्तद्गुणत्वेन गम्य:।

(वही, पृ. २०३)

अर्थात् शब्दों द्वारा जहाँ मुख्यरूप से अर्थ का प्रतिपादन होता है वहाँ गौणरूप से अपोह की प्रतिपत्ति अनिवार्य है क्योंकि व्यावृत्ति के बिना विधिरूप से कोई अर्थ शब्द का वाच्य नहीं होता। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में दो सन्निकर्ष स्वत: होते है -

तद्गुणत्वेनेत्यर्थसन्निकर्ष:, गम्यत इति प्रतीतिसन्निकर्ष:। (वही)

अर्थात् गौणरूप से अपोहप्रतीति में शब्द का अर्थ से और बोध में अर्थ की प्रतीति से सन्निकर्ष मान्य है। इस प्रकार शब्दोल्लेखपूर्वक सविकल्पक ज्ञानों में शब्द, अर्थ तथा प्रतीति को लेकर दो सन्निकर्ष कार्यकारी हैं - अर्थसन्निकर्ष और प्रतीतिसन्निकर्ष। परन्तु ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर सामान्यलक्षणविषयक अनुमान होता है।

जैन दर्शन -

यदि सन्निकर्ष: प्रमाणम्, सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्टानामर्थानामग्रहण प्रसङ्ग:। न हि ते इन्द्रियै: सन्निकृष्यन्ते। अत: सर्वज्ञत्वाभाव: स्यात्। इन्द्रियमपि यदि प्रमाणं स एव दोष:, अल्पविषयत्वाच्चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात्। (सर्वार्थसिद्धि १/१०)

अर्थात् न्यायवैशेषिक में प्रत्यक्ष प्रमाण को लेकर दो विकल्प हैं - कहीं सन्निकर्ष को और कहीं इन्द्रिय को प्रमाण कहा गया है परन्तु दोनों दृष्टियों से

योगज प्रत्यक्ष द्वारा सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो पाती। सन्निकर्षप्रमाणपक्ष में सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ पदार्थों का इन्द्रियसन्निकर्ष न हो पाने से अग्रहण होगा तथा इन्द्रियप्रमाणपक्ष में चक्षुरादि की अल्पविषयता और ज्ञेयों की अपरिमेयता से वही बोध आयेगा। भट्ट अकलङ्कदेव ने मतिज्ञान के निरूपण में इसपर विविक्त प्रकाश डाला है - सन्निकर्षे प्रमाणे सकलपदार्थपरिच्छेदा-भावस्तदभावात्। (तत्त्वार्थ सूत्र १/१०/१६)

अर्थात् सन्निकर्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इन्द्रिय द्वारा सम्पूर्ण अर्थ का परिच्छेद असम्भव होने से सन्निकर्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। मन तथा इन्द्रिय की साथ-साथ त्रैकालिक, अनन्त एवं विप्रकृष्ट विषयों में प्रवृत्ति असम्भव होने से सर्वज्ञता नहीं सिद्ध होती। आत्मा का व्यापकत्व भी इस दर्शन में मान्य नहीं है।

सर्वोन्द्रियसन्निकर्षाभावश्च। (वही १/१०/१७)

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय तथा मन के वस्तुप्राप्यकारी न होने से सभी इन्द्रियों के विषयों का सन्निकर्ष अशक्य है।

सर्वथा ग्रहणप्रसङ्गश्च सर्वात्मना सन्निकृष्टत्वात्। (वही १/१०/२८)

अर्थात् प्राप्यकारी इन्द्रियों को सर्वात्मना सन्निकृष्ट मानने से सभी स्थितियों में अर्थग्रहण होना चाहिए जो नहीं होता।

तत्फलस्य साधारणत्वप्रसङ्गः स्त्री पुरुषसंयोगवत्। (वही १/१०/१९)

अर्थात् प्रकार स्त्री-पुरुष-संयोग से जनित सुखरूप फल उभयगत होता है उसी प्रकार इन्द्रियसन्निकर्ष के प्रत्यक्षरूप फल का इन्द्रियों को भागी होना चाहिए तब न्यायसम्मत छहो इन्द्रियों की प्रत्यक्षता अनिवार्य होगी।

सन्निकर्षादिकँ नैव प्रमाणं तदसंभवात्।
अवभासो व्यवसायो न तु ग्रहणमात्रकम्॥
(न्यायावतारवार्त्तिक १/३)

अर्थात् प्रत्यक्ष में निर्विकल्पक-दर्शनरूप ग्रहणमात्र को अवभात न मानकर निश्चयात्मक बोध को स्वीकार किया जाता है, अतः सन्निकर्ष तथा बुद्धिवृत्ति की प्रमाणता सम्भव है। कारण कि परिवर्तमान पदार्थों से इन्द्रियसन्निकर्ष असंभव है। जिस द्रव्यपर्याय का एकक्षण दर्शन होता है उससे भिन्न पर्याय का अन्य क्षण में ज्ञान हो पाता है, अतः सन्निकर्ष की व्यवस्था दुष्कर है। इस वार्त्तिक की वृत्ति में शान्तिसूरि ने स्पष्ट किया है -

(क) दूरस्थ वस्तु में प्रत्यक्ष का उत्पाद नहीं होता। यह अनुत्पाद संयोगापेक्षा से मानने पर प्रश्न उठता है कि इस संयोग को प्रत्यक्ष से या अनुमान से जाना जा सकता है ? प्रत्यक्ष से संयोग की प्रतिपत्ति असंभव है क्योंकि इन्द्रिय को न्याय में अप्रत्यक्ष माना गया है और दो प्रत्यक्ष द्रव्यों का संयोग ही प्रत्यक्ष हो सकता है। अनुमान माना जाय तो अनवस्था दोष है क्योंकि प्रत्येक अनुमान को अनुमानान्तर से पुष्ट करना होगा। ऐसी स्थिति में -

अथ निमित्तमात्रापेक्षया प्रतीयते, तर्हि योग्यदेशादिविशिष्टं जननसामर्थ्यसात्मपर्यायमपेक्षमाणास्ते कार्य न कुर्वन्तीति न पुन: संयोगमिति। तन्नास्ति कश्चित् सन्निकर्ष इति। (वही, वृत्ति १/३/५)

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष को निमित्तभूत व्यापार की अपेक्षा होती है जिससे सन्निकर्ष व्यापार अनुमित है परन्तु उस दशा में यही पर्याप्त है कि प्रत्येक पदार्थ अपने प्रत्यक्ष हेतु अपने उस पर्याय ही अपेक्षा करता है जो प्रत्यक्षजनन सामर्थ्य एवं देशकालादि से विशिष्ट होता है। तात्पर्य यह कि देशकालादिविशेष में द्रव्य का प्रत्यक्षसामर्थ्यरूप पर्याय ही प्रत्यक्ष को जन्म दे लेता है, अत: संयोगसापेक्ष न होने से सन्निकर्ष व्यर्थ है।

(ख) सन्निकर्ष की प्रमाणता पर अनेक प्रश्न उठते हैं - क्या वह स्वयं प्रमाण है या प्रमाण को उत्पन्न करता है ? स्वयं प्रमाण होने पर ज्ञात होकर अर्थज्ञापन करता है अथवा अज्ञात रहकर ? यदि ज्ञान सन्निकर्ष ज्ञापक है तो उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से है या अनुमान से ? प्रत्यक्ष ज्ञात है तो सामान्यरूप से अथवा विशेष रूप से ? यदि सन्निकर्ष सामान्यतया प्रत्यक्ष है तो पृथक्-पृथक् उसके कर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती जिससे चाक्षुषादि प्रत्यक्षों की विविक्त व्याख्या नहीं हो पाती। विशेषरूप से ज्ञात सन्निकर्ष में भी अनुपपत्ति है कि प्रत्यक्ष कर्म के ज्ञान से उसका ज्ञान हो सकता है क्योंकि नील के अज्ञान में नीलसन्निकर्ष का ज्ञान संभव है -

नीलज्ञानं किं तत एव सन्निकर्षादथान्यत: ? यदि तत एव तदेतरेतराश्रयत्वम् -नीले ज्ञाते तज्ज्ञानं तज्ज्ञानाच्च नीलज्ञानमिति। (वही १/३/६)

अर्थात् यदि उसी सन्निकर्ष से नीलज्ञान होता है जिससे सन्निकर्षज्ञान, तो अन्योन्याश्रय दोष है क्योंकि नीलज्ञान से सन्निकर्षज्ञान और उससे नीलप्रत्यक्ष।

अथान्यत: सन्निकर्षात्, तदा तदेव चोद्यं तदेवोत्तरम्। इत्यनवस्था च। (वही) अर्थात् नीलज्ञानजनक सन्निकर्ष से भिन्न सन्निकर्ष द्वारा स्वयं प्रथम सन्निकर्ष को ज्ञान मानने पर अनवस्था दोष है।

अथान्यत: प्रमाणान्नीलज्ञानम्, तर्हि किमन्तर्गडुना तेन ? तदर्थ हि स परिकल्पयत इति। (वही) अर्थात् उक्त जटिलता के निराकरण हेतु यदि माना जाय कि नील का ज्ञान अन्य प्रमाण से होता है तो सन्निकर्ष व्यर्थ है क्योंकि ज्ञान हेतु ही उसकी कल्पना की गयी है।

किं च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं नाभ्युपगम्यते। तत्परिज्ञानं पुनरन्येनेन्द्रिय-सन्निकर्षेण तस्याप्यन्येनेत्येनेत्यनवस्था। न च सन्निकर्षे सन्निकर्षों निगुर्णा गुणा इत्यभ्युपगमात्। (वही)

अर्थात् आत्मसंवेदनरूप प्रत्यक्ष की स्वीकृति न्यायवैशेषिक में नहीं मिलती। उसके लिए अन्य इन्द्रियसन्निकर्ष मानना होगा और उस सन्निकर्ष के ज्ञान हेतु अन्य सन्निकर्ष की अनवस्था यथावत् है। गुणों में गुण नहीं रहते, यह न्याय का मत है, अत: गुणरूप संयोगसन्निकर्ष में सन्निकर्ष की स्थिति नहीं हो सकती।

(ग) उक्त अनुपपत्ति के परिहार हेतु प्रतिपक्ष दर्शन में संयुक्तसंयुक्त- समवायादि छह सन्निकर्षों की व्यवस्था है परन्तु वह भी असंगत है -

यतश्चक्षुर्नीलसन्निकर्ष: किं स एव संयुक्तसमवायाद् गृह्यते किं वा सन्निकर्षान्तरमिति ? यदि स एव, तन्न, यतो न स्वयमेव एवं ज्ञापयति, स्व-संवेदन-प्रसङ्गात्। सन्निकर्षान्तरकल्पनेनवस्था। (वही १/३/८)

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय और नीलगुण के संयुक्तसमवाय का ग्रहण क्या स्वत: हो जाता है या अन्य सन्निकर्ष की अपेक्षा है ? यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो असंगति आती है कि स्वयं सन्निकर्ष अपना ज्ञापन नहीं कर सकता क्योंकि उसे स्वसंवदेनसिद्ध नहीं माना जा सकता और सन्निकर्षान्तर की कल्पना में अनवस्था है।

(घ) अज्ञातस्यार्थज्ञापकत्वे शशविषाणस्यापि प्रसङ्ग:। असमवायान्न शशविषणमिति वेत्, किं न रूपादि। अज्ञापकत्वादिति चेन्न, तत्र समवाय एव सन्निकर्षस्यापि ज्ञापकत्वम् तच्च रूपादेरप्यस्तीति। (वही १/३/९)

अर्थात् यदि यह माना जाय कि सन्निकर्ष स्वयं ज्ञात न रहकर भी अर्थ का ज्ञापक है तो शशविषाण का भी प्रत्यक्ष क्यों नहीं ? यदि कहा जाय कि शशशृंग का द्रव्य में समवाय नहीं है किन्तु सन्निकर्ष समवेत रहकर ज्ञापक होता है तो फिर रूपादि भी ज्ञापक हो सकते हैं क्योंकि वे द्रव्यसमवेत रहते हैं। रूपादि को अज्ञापक कैसे कहा जा सकता है जब उनका समवाय विद्यमान है

और तब उसी समवाय में सन्निकर्ष की ज्ञापकता पर्याप्त है - पृथक् सन्निकर्ष की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि रूपादि का समवाय ही पर्याप्त है।

(ङ) अन्ततः प्रतिपक्षी प्रमाणजनन के आधार पर सन्निकर्ष को प्रमाण मान सकता है परन्तु तब अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आते हैं -

आत्मनोपि प्रमाणजनकत्वात् प्रमाणत्वं स्यात्। ईश्वरस्य चेन्द्रियादिसन्निकर्षा- भावात् प्रमाण्यं न स्यात्। (वही १/३/१०)

अर्थात् आत्मा के प्रमाणजनक होने से प्रमाणलक्षण की अतिव्याप्ति है और ईश्वर में इन्द्रियादि-सन्निकर्ष न होने से प्रमाण की अव्याप्ति भी है। इस प्रकार -

चक्षुषश्चाप्राप्यकारित्वेनाग्रे समर्थनात् कथं घटेन संयोगः तदभावात् कथं रूपादिना संयुक्तसमवायादिरित्यव्याप्तिः सन्निकर्षप्रमाणवादिनाम्। सर्वज्ञाभावश्च, इन्द्रियाणां परमाण्वादिभिः। साक्षात् सम्बन्धाभावात्। (प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृ. १९)

अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने से घट के साथ उसका संयोग ही असंभव है और तब रूपादि के साथ संयुक्त-समवाय और रूपत्वादि के साथ संयुक्तसमवेत-समवाय की व्यवस्था कैसे हो सकती है ? इन्द्रियों का परमाणु आदि से साक्षात् सम्बन्ध न हो पाने से सर्वज्ञत्व की सिद्धि असंभव है जो दोनों पक्षों में स्वीकृत है।



12.

परिशिष्ट : दो

ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की समस्याएँ

सच्चिदानन्द मिश्र

न्यायवैशेषिक परम्परा में किसी भी ज्ञान के प्रत्यक्षात्मक होने की पूर्व शर्त है कि उसे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य होना चाहिए। इसीलिए 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है' ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण व्यवस्थापित किया जाता है। इसीलिए गौतम द्वारा प्रणीत 'इन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' न्यायसूत्र १-१-४ में अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक पदों को लक्षणघटक न मानते हुए प्रत्यक्षविभाग (निर्विकल्पक और सविकल्पक) मानने का प्रस्ताव वाचस्पति मिश्र प्रभृति विद्वान रखते हैं और यही परम्परा में स्वीकार्य भी है। हाँ प्रत्यक्ष प्रमा का लक्षण करना यदि ईप्सित हो तो उसमें अव्यभिचारी पद देना अनिवार्य होता है (यद्यपि यह लक्षण ईश्वर-प्रत्यक्ष के जन्य नहीं होने के कारण ईश्वर-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है किन्तु इसे जन्य प्रत्यक्ष का लक्षण मानना उचित है)। ऐसी स्थिति में हम पाते हैं कि जन्य प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का होना अनिवार्य है। प्रमुखतया इन्द्रियार्थसन्निकर्ष दो प्रकार के हैं-लौकिक और अलौकिक। इसमें लौकिक सन्निकर्ष छः प्रकार का होता है- संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त

समवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणविशेष्य भाव। अलौकिक सन्निकर्ष के तीन भेद हैं - ज्ञानलक्षण, सामान्यलक्षण और योगज।[1] इसमें से योगज सन्निकर्ष का सामान्यजन के लिए कोई उपयोग नहीं है। योगी ही योगजसन्निकर्ष से किसी वस्तु को जान सकते हैं। रही बात सामान्यलक्षण की तो सामान्यलक्षण की जरूरत भी अत्यन्त सीमित है और वस्तुतः तो सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति को स्वीकार किये बिना भी हमारे सभी ज्ञानों की व्याख्या की जा सकती है। इसी कारण सामान्यलक्षण प्रकरण में दीधितिकार श्री रघुनाथ शिरोमणि सामान्यलक्षण का खण्डन कर देते हैं। किन्तु नैयायिकों के लिए ज्ञानलक्षण को अस्वीकार्य करना असम्भव जैसा है। ज्ञानलक्षण के बिना अनेक सिद्धांतों को व्यवस्थापित कर पाना और अनेक ज्ञानों की व्याख्या कर पाना नैयायिकों के लिए सम्भव नहीं होगा। इसीलिए ज्ञानलक्षण को स्वीकारने के लिए नैयायिकों को हम आग्रही पाते हैं किन्तु ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति को स्वीकारने पर अनुमान आदि प्रमाणों के विलोप की सम्भावना भी उठ खड़ी होती है। इस आपत्ति को वेदान्तियों ने प्रमुखता से उठाया है। इस प्रश्न पर गङ्गेश से प्राक्तन नैयायिकों में शशधराचार्य, मणिकण्ठ मिश्र आदि को भी चर्चा करते हुए हम पाते हैं और रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश, गदाधर प्रभृति नव्यनैयायिकों को भी। इस प्रश्न पर आधुनिक विद्वान आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी भी विचार करते हुए समाधान देने की कोशिश करते हैं।[2] हमारा मानना है कि इस प्रश्न पर अभी सम्यक्ता से विचार किया जाना आवश्यक है और यहाँ यही हमारा उद्देश्य भी है।

लौकिक सन्निकर्षों में द्रव्यप्रत्यक्ष के लिए संयोग, द्रव्यगत रूप आदि गुणों के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्तसमवाय, रूपादिगुणों में रहने वाली रूपत्वादि जातियों के प्रत्यक्ष के लिए संयुक्तसमवेतसमवाय, शब्द साक्षात्कार के लिए समवाय, शब्दगत शब्दत्वादि जातियों के साक्षात्कार के लिए संयुक्तसमवाय और अभावप्रत्यक्ष के लिए विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष की स्वीकृति न्यायवैशेषिक सम्प्रदाय में दी गयी है।[3] जैसे 'नीलोघटः' इस चाक्षुषप्रत्यक्ष में घट का प्रत्यक्ष चक्षु द्वारा संयोग सन्निकर्ष से, घटगत घटत्व जाति और नीलरूप का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से, नीलगत नीलत्व जाति का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से सम्भव होता है। यहाँ पर चक्षु से संयुक्त घट में समवेत है घटत्वजाति और नीलरूप तथा उस नीलरूप में नीलत्व समवाय

सम्बन्ध से है। इस कारण उपर्युक्त सन्निकर्ष सम्भव होते हैं। श्रोतेन्द्रिय चूँकि आकाशरूप मानी गयी है, इसलिए श्रोत्र से शब्द का प्रत्यक्ष समवाय सन्निकर्ष से होता है और उसमें शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अत: समवेत समवाय सम्बन्ध से शब्दत्व का प्रत्यक्ष सम्भव होता है। ध्येय है कि शब्द आकाश का गुण है और गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। भूतलादि में घटाभाव आदि का प्रत्यक्ष संयुक्त विशेषणता सन्निकर्ष से होता है। इसी प्रकार घटगत नीलरूपादि निष्ठ शुक्लत्वादि जातियों के अभाव का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवेतविशेषणता सन्निकर्ष से होता है। इसी रीति से आगे के सन्निकर्षों में भी विशेषणता जोड़कर हम तत्तत् स्थलों में विद्यमान अभावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। इस प्रकार विशेषण-विशेष्य भाव एक सन्निकर्ष नहीं है बल्कि अनेक सन्निकर्ष हुआ करता है। विशेषण-विशेष्यभाव को एक सन्निकर्ष इस आधार पर मान लिया गया है कि अभाव या तो कहीं पर विशेषण बनकर भासित होता है या तो विशेष्य बनकर। यद्यपि इतनी बात बाकी पदार्थों के लिए भी लागू होती है किन्तु वे अन्य सम्बन्धों से भी भासित होते हैं, इसी कारण उनका प्रत्यक्ष अन्य सन्निकर्षों से स्वीकार किया गया है।

इन षड्विध सन्निकर्षों के होते हुए भी अनेक ज्ञानों को व्याख्यायित कर पाना सम्भव नहीं है। जैसे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को हम प्रत्यक्ष मानें या स्मृति अथवा प्रत्यक्ष और स्मृत्यात्मक एक ज्ञान ? यह एक समस्या है। 'सोऽयं देवदत्त:' 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार होने वाला प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान सर्वांश में स्मृतिरूप तो हो नहीं सकता है क्योंकि स्मृति हमेशा पूर्वानुभूत विषयिणी ही होती है। उक्त प्रत्यभिज्ञा में इदमंश तो पूर्वानुभूत नहीं ही है। इस कारण यह प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान या तो प्रत्यक्ष है, या तो प्रत्यक्ष व स्मृतिरूप एकनरसिंहात्मक ज्ञान। यदि इसे नरसिंहात्मक मानें तो इसे प्रमा मानना कठिन हो जायेगा, साथ ही जातिसाङ्कर्य दोष भी आयातित होगा। यदि प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण न माना जाये जो प्रत्यभिज्ञा के आधार पर जो क्षणिक शरीर में नित्य आत्मा का स्वीकार किया जाता है वह सम्भव नहीं हो सकेगा और क्षणिकवादी बौद्ध ही विजयी हो जायेंगे तथा अनेक न्याय सिद्धान्त व्यवस्थापित नहीं किये जा सकेंगे। इसलिए नैयायिक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष मानते हैं। किन्तु यहाँ पर समस्या यही आती है कि 'सोऽयं देवदत्त:' इस प्रत्यभिज्ञा स्थल में देवदत्त, इदन्ता आदि के साथ चक्षु का सन्निकर्ष सम्भव है परन्तु तत्ता के साथ चक्षु का सन्निकर्ष असम्भव

है। इसका अर्थ हुआ कि यह ज्ञान इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य नहीं हो सकेगा तो इसे प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकेगा ?

इसी प्रकार हम प्रत्यक्षात्मक भ्रम को देखें। शुक्ति को देखते हुए 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रम अनुभूत होता है। इसके प्रत्यक्षात्मक होने में कोई भी सन्देह किया जाना सम्भव नहीं है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय के उद्घाटित न रहने पर ऐसा भ्रम नहीं होता है। परन्तु शुक्ति में रजतत्व तो विद्यमान नहीं है, तो चक्षु का रजतत्व के साथ सन्निकर्ष होगा कैसे ? यदि नहीं होगा तो उसे हम प्रत्यक्ष कैसे कहें ?

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय से घट का प्रत्यक्ष होने से उपरान्त घटज्ञान का मानस प्रत्यक्ष 'घटमहं जानामि' 'मैं घट को जान रहा हूँ' इस प्रकार का अनुव्यवसाय न्यायसम्प्रदाय में स्वीकार्य है। इस अनुव्यवसाय में सिर्फ ज्ञान नहीं भासित है बल्कि घट भी भासित होता है। मन की सामर्थ्य आत्मगुणों और आत्मा का प्रत्यक्ष सम्पादित करने की है। बाह्य घट का प्रत्यक्ष मन से किस प्रकार हो पायेगा ? मन का घट के साथ कौन सा सन्निकर्ष होगा ?

इस रीति से जिस चन्दनखण्ड को हम पूर्व में देख चुके हैं उसके गन्ध का अनुभव कर चुके हैं, उस चन्दनखण्ड को जब चक्षु के द्वारा देखते हैं तो केवल 'इदं चन्दनम्' ऐसा ज्ञान नहीं होता है बल्कि 'सुरभि चन्दनम्' 'सुगन्धित चन्दन' ऐसा ज्ञान होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि चक्षु की सामर्थ्य गन्ध ग्रहण में है नहीं। इसलिए चक्षु का गन्ध से संयुक्त समवाय सन्निकर्ष सम्भव होने पर भी चक्षु के द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, घ्राण का गन्ध से सन्निकर्ष हुआ नहीं है, तो 'सुरभि चन्दनम्' ऐसा प्रत्यक्ष कैसे होगा ? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अनुमान से ऐसा ज्ञान होगा, यह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक नहीं है अनुमित्यात्मक है, किन्तु नैयायिक इसका विरोध करते हैं। उनका आशय है कि 'सुरभि चन्दनम्' इस प्रकार के ज्ञान के स्थल में व्याप्तिस्मरण का अनुभव नहीं होता है, अत: इसे अनुमिति न मानकर प्रत्यक्ष ही मानना चाहिए। किन्तु प्रश्न वही है कि प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ?

इसी प्रकार कुछ और स्थलों पर भी दृष्टि जा सकती है। गृह अन्तर में अवस्थित होते हुए हमें शब्द सुनायी देता है और समझते हैं कि 'गृहे शब्द:' 'घर में शब्द है' ऐसा ज्ञान जो हो रहा है इसे हम श्रावण प्रत्यक्ष कहेंगे लेकिन गृह का श्रावण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, चक्षु यदि उद्घाटित नहीं है तब भी ऐसा

ज्ञान होता है, इसीलिए गृह का ज्ञान चक्षु से हुआ यह कथन भी सम्भव नहीं है। तो 'गृहे शब्द:' ऐसा श्रावण प्रत्यक्ष क्यों कर सम्भव हो सकता है ?

इन सभी प्रश्नों का उत्तर और इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर नैयायिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में तलाशते हैं। उनका कहना है कि ज्ञान भी सन्निकर्ष की तरह प्रत्यक्ष में उपयुक्त होता है। देवदत्त को देखकर तत्ता का स्मरणात्मक ज्ञान हुआ और वही स्मरणात्मक ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय और देवदत्त के सन्निकर्ष का सहकारी बनकर 'सोऽयं देवदत्त:' इस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार चक्षु का शुक्ति से सन्निकर्ष होने पर रजतत्व के साथ सन्निकर्ष बन जाता है। इसलिए शुक्ति के साथ चक्षु का संयोग होने की दशा में 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रमात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव होता है। चक्षु से उत्पन्न 'अयं घट' ऐसा घटविषयक ज्ञान ही मन का घट के साथ सन्निकर्ष बन जाता है और 'घटमहं जानामि' ऐसा अनुव्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्ष उपपन्न हो जाता है। इसी रीति से हम 'सुरभि चन्दनम्' और 'गृहे शब्द:' जैसे ज्ञानों को भी व्याख्यायित कर सकते हैं। न सिर्फ इतना ही अपितु अनुमिति का कारण बनने वाला परामर्श भी बिना ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के सम्भव नहीं हो सकता है क्योंकि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत:' ऐसा परामर्श केवल चक्षुरिन्द्रिय से सम्भव नहीं है क्योंकि वह्निव्याप्ति का चक्षु से तब तक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है जब तक कि वह्नि का भी चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं हो रहा हो, यदि वह्नि का चक्षु से प्रत्यक्ष को रहा हो तब तो अनुमान की जरूरत ही नहीं रह जायेगी इसलिए वह्निव्याप्ति का स्मरण होता है और वही स्मरण ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष बनकर चक्षुरिन्द्रिय द्वारा परामर्श का सम्पादन कराता है।

इस रीति से हम देखते हैं कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष नैयायिक के लिए अनिवार्य आवश्यकता के रूप में सामने दिखता है। किन्तु यदि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष को स्वीकार कर लिया जाये तो अनेक जटिल प्रश्न सामने आ खड़े होते हैं जिनका उत्तर देना आसान नहीं है। इन प्रश्नों को प्रमुख रूप से अद्वैतियों ने उठाया है।

प्रथमत: प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में अनुमति आदि प्रमाओं का उच्छेद हो जायेगा।[४] 'पर्वतो वह्निमान्'ऐसी जो अनुमिति होती है उसमें पर्वत के साथ चक्षु का संयोगात्मक सन्निकर्ष तो है ही, वह्नि का भी स्मरण है। वही वह्निस्मरण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष बन जायेगा और 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा ज्ञान

(प्रात्यक्षिक ज्ञान) सम्भव हो जायेगा। तब अनुमिति को स्वीकारने की क्या आवश्यकता है ? ठीक इसी तरह शाब्दीप्रमा का भी उच्छेद हो जायेगा। शाब्दबोध की प्रक्रिया यह है कि प्रथमत: पद ज्ञान होता है तदनन्तर पदार्थोपस्थिति होती है जो कि स्मरणरूप है। यदि पदार्थस्मरण हो गया तो वही पदार्थस्मरण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष बन जायेगा और शाब्दबोध भी जो कि पृथक् प्रमा की तरह स्वीकृत है उसकी स्वतन्त्र सत्ता विलीन हो जायेगी। उसे भी प्रत्यक्षात्मक ही मान लेना पड़ेगा। क्योंकि आखिरकार अनुमिति और शाब्दबोध भी इन्द्रिय के अर्थ के साथ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से उत्पन्न हो रहे हैं। यह एक विध्वंसात्मक प्रश्न ज्ञानलक्षण- सन्निकर्ष को स्वीकारने पर उठ खड़ा होता है।

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी इस विषय में समाधान प्रस्तुत करते हैं कि 'ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से जो अर्थ उपस्थित होता है, वह विशेषणीभूत होता है, विशेष्यस्वरूप नहीं।' शाब्दबोध के स्थल में 'नीलं पुष्पम्' कहने पर पुष्प और नीलिमा दोनों से लौकिक सन्निकर्ष नहीं है, दोनों का बोध ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से हो सकता है, पर यहाँ विशेष्य क्या होगा ? ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से सूचित पदार्थ विशेषणभूत होता है। इसलिए विशेष्य का ज्ञान शब्द प्रमाण से हुआ, यह शब्दप्रमाण के सम्बन्ध में समाधान है।[५] अनुमान के सम्बन्ध में वे समाधान प्रस्तुत करते हैं कि 'परामर्श के अनन्तर जो बोध होता है वह परामृश्यमाण अर्थ-हेतु व्यापकत्वेन विषयीक्रियमाण अर्थ का ग्रहण कराता है। परामर्श ही पक्ष में उस अर्थ को बोधित करा देता है। अनुमान की प्रक्रिया में ही यह बोध संगत बैठता है। किन्तु अनुमान की उपेक्षा कर ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से वह्निज्ञान मानें तो यह व्यवस्था लागू नहीं हो पायेगी।'[६]

किन्तु यदि हम विचार करें तो आचार्य शुक्ल द्वारा शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में दिया गया समाधान समाधानाभास ही प्रतीत होता है क्योंकि यह स्वीकारना सिद्धान्त विरूद्ध है कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से सूचित पदार्थ का भान विशेषणतया ही होता है। वस्तुत: नियम यह है कि बाह्येन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष में यदि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से सूचित पदार्थ भासित होगा तो उसका भान विशेषणतया ही होगा।[७] मानस प्रत्यक्ष में ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से सन्निकृष्ट अर्थ भी विशेष्यतया भासित हो सकता है।[८] इसी कारण तत्त्वचिन्तामणि के लेखक गङ्गेशोपाध्याय व्यापकविशेष्यक 'पर्वत वृत्तिधूमव्यापको वह्निः' ऐसे मानस परामर्श का उपपादन करते हैं।[९] वह्नि यहाँ

पर ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से ही भासित हो रहा है और वह विशेष्य हैं। ऐसी स्थिति में शाब्दबोधस्थल में विशेष्यभान के लिए शब्द प्रमाण की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की महिमा से प्रत्यक्ष द्वारा ही शाब्दी प्रमा से बोध्य अर्थ बोधित होने में कोई समस्या दिखायी नहीं देती है। अनुमिति के विषय में भी आचार्य शुक्ल का कथन अस्पष्ट सा है।

वस्तुत: यह प्रश्न उतना आसान है नहीं, जितना कि साधारणतया दिखायी देता है। आइए इस समस्या का समाधान ढूँढने की कोशिश करें। गङ्गेश से पूर्ववर्ती नैयायिक मणिकण्ठ मिश्र, जिनके ऋणी गङ्गेश अनेक तरह से हैं, अपने ग्रन्थ 'न्यायरत्न' में इसका समाधान देते हैं कि प्रत्यभिज्ञा स्थल में तत्ता का स्मरण होता है स्वतन्त्र रूप से, इसलिए उसे अन्य पदार्थ देवदत्त आदि की आकाङ्क्षा रहती है, इसलिए उस तत्ता का देवदत्त से अन्वय होकर प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अनुमिति के स्थल में वह्नि का स्मरण स्वतन्त्र रूप से न होकर व्याप्ति के अवच्छेदक (निरूपक) के रूप में है, इसलिए उसे किसी अन्य अर्थ की आकाङ्क्षा नहीं है। इस कारण वह्नि का पर्वत में भान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता है।[१०] किन्तु गङ्गेशोपाध्याय इसका खण्डन कर देते हैं। गङ्गेश का कहना है कि स्वतन्त्र रूप से वह्नि का स्मरण अनुमिति स्थल में नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'पर्वतों वह्निमान न वा' ऐसे सन्देह की सत्ता से ही स्वतन्त्र वह्निस्मरण की सत्ता सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि स्वतन्त्रविशेषण ज्ञान की कारणता विशिष्ट ज्ञान के प्रति स्वीकारने में गौरव है।[११]

गङ्गेश से पूर्ववर्ती एक और आचार्य शशधर 'न्यायसिद्धान्त-दीप' में कहते हैं कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष के लिए प्रत्यक्षपद का व्यवहार नहीं होता है क्योंकि अतिप्रसङ्ग होने लगेगा।[१२] अतिप्रसङ्ग का आशय यह है कि केवल व्याप्त हेतु ही साध्य का स्मरण कराता हो ऐसा नहीं है, व्यभिचारी हेतु भी साध्य का स्मरण कराने में सक्षम होता है। यदि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष से ही अनुमिति को गतार्थ करना चाहें तो व्यभिचारी हेतु से भी ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा साध्य की अनुमिति होने में कोई समस्या नहीं है अर्थात् साध्य का प्रात्यक्षिक ज्ञान ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की महिमा से व्यभिचारी हेतु से भी हो जायेगा। उसे ही तो आप अनुमिति कहेंगे, आश्चर्य है कि गङ्गेश ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से अनुमिति की गतार्थता के प्रश्न पर शशधराचार्य द्वारा उठाये गये समाधान को विचारार्थ भी प्रस्तुत नहीं करते

हैं। रघुनाथशिरोमणि बाधप्रकरण पर अपनी दीधिति व्याख्या में इस समाधान को कुछ और व्यवस्थित तरीके से प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि किसी को भी वह्निव्याप्यधूमपरामर्श से उपनीत रासभ की अनुमिति का अनुभव नहीं होता है, यदि अनुमिति में साध्य उपनीत-ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से -भासता हो तो वह्निव्याप्य धूम परामर्श से कभी रासभ का भी स्मरण सम्भव होने के कारण रासभ की भी अनुमिति होनी चाहिए। यदि अनुमिति में ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष द्वारा उपस्थित अर्थ भी भासित होता हो तो पर्वत में वह्नि का सन्देह जिस व्यक्ति को है, वह व्यक्ति वह्नि के निश्चित व्यभिचारी अभिधेयत्व से प्रमेयत्व का अनुमान कर रहा हो तो ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष द्वारा वह्नि का निश्चय होकर वह्नि के लिए उस व्यक्ति की प्रवृत्ति होनी चाहिए।[१३] परन्तु गदाधर को रघुनाथ के इस कथन से सहमति नहीं हैं। गदाधर का आशय है कि यदि अनुमिति में उपनीत का भान स्वीकार न किया जाये तो भी एकक्षण के विलम्ब से उपर्युक्त स्थल में वह्नि के लिए व्यक्ति की प्रवृत्ति होने की आपत्ति है ही क्योंकि प्रमेयत्वादि की अनुमिति के पूर्व यदि वह्नि आदि की उपस्थिति है तो अनुमिति के अनुव्यवसाय की दशा में अनुव्यवसाय में उपनीत भान के स्वीकृत होने के कारण वह्नि का मानस ज्ञान सबके मत में दुर्वार होगा। यह कह सकते हैं कि वह्निसंशय होने के कारण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से जैसे वह्नि का ज्ञान हो सकता है वैसे ही वाह्नयभाव का भी होगा, फलत: केवल वह्नि का निश्चय नहीं हो पायेगा। इसलिए वह्नि के लिए अनुव्यवसाय के बाद प्रवृत्ति नहीं होगी, तो वह्नि की ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष द्वारा उपस्थिति से अनुमिति में यदि वह्नि का भाव स्वीकार कर लिया जाये तो भी वह्नयर्थी की प्रवृत्ति की समस्या को समाहित किया जा सकता है क्योंकि यह कहना आसान है कि वह्नि की तरह वह्नयभाव की भी उपस्थिति ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से रहने के कारण वह्नि का निश्चय सम्भव नहीं है और वह्निनिश्चय न रहने के कारण वह्नयर्थी की प्रवृत्ति नहीं होती है।[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि शशधराचार्य भी किसी सन्तोषजनक समाधान को प्रस्तुत करने में असफल हैं।

गङ्गेशोपाध्याय भी इस समस्या पर गम्भीरता से विचार करने के उपरान्त जो समाधान देते हैं उससे समस्या कुछ और उलझ जाती है। गङ्गेश का कहना है कि जो जहाँ पर विशेषण के रूप में पूर्व में अवगत हुआ है वह वहाँ पर संस्कार वश यथार्थ प्रत्यक्ष में भासित होता है। जैसे कि तत्ता देवदत्त में पूर्व में विशेषण

के रूप में भासित हो चुकी है इसलिए 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञा में वह तत्ता देवदत्त में भासित होती है। पर्वत में तो विशेष कर (विशेषण के रूप में) पूर्व में वह्नि अवगत नहीं हुआ है। इसलिए पर्वत में वह्नि का भान ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से नहीं हो सकता है। 'सुरभिचन्दनम्' यह जो ज्ञान होता है उसमें भी, यदि पहले उसी चन्दनखण्ड में सौरभ का ज्ञान हो चुका हो तो यह सौरभ का ज्ञान ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से होगा और यदि उसी चन्दनखण्ड में सौरभ पूर्व में गृहीत नहीं है तो सौरभ का भान ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से न होकर अनुमान से होगा। चूँकि पर्वत में वह्नि का विशेषण के रूप में ज्ञान पूर्व में नहीं हुआ है, इसलिए अनुमान के द्वारा ही पर्वत में वह्नि का ज्ञान सम्भव है।[१५]

किन्तु इस रीति से इस समस्या को सुलझाने पर दूसरी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। समस्या यह है कि फिर तो परामर्श भी सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि पक्ष पर्वत के धर्म धूम में विशेषण के रूप में पहले व्याप्ति भी अवगत नहीं है, तो धूमगत व्याप्ति का बोध प्रत्यक्ष से होगा कैसे ?[१६] व्याप्ति का बोध साध्य और हेतु के साक्षात्कार के बिना प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है, पर्वतीय वह्नि का साक्षात्कार तो है नहीं। व्याप्ति का बोध हुए बिना परामर्श तो कथमपि सम्भव नहीं है। दूसरी समस्या यह है कि जिस शुक्ति में विशेषण के रूप में पहले रजतत्व का ज्ञान नहीं हुआ है, उस शुक्ति में ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा रजतत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे होगा ? इनमें प्रथम समस्या के समाधान के लिए गङ्गेश कहते हैं कि यथार्थ विशिष्ट प्रत्यक्ष के लिए पाँच चीजों की जरूरत होती है। (१) विशेषण ज्ञान, (२) विशेषण का विशेष्य के साथ सम्बन्ध (३) विशेषण और विशेष्य के असंसर्ग का अग्रह (४) विशेषदर्शन तथा (५) विशेषण और विशेष्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष। जैसे 'अयं गौः' इस प्रत्यक्ष को लें, इसके पूर्व में गोत्वरूपी विशेषण का ज्ञान, गोत्व का इदं पदार्थ गोरूपी विशेष्य के साथ सम्बन्ध, गोत्व एवं गो के असंसर्ग का अग्रह, 'गोत्वव्याप्यसास्नामान् अयम्' अर्थात 'गोत्व व्याप्य सास्नावान् यह है' ऐसा विशेषदर्शन और गो तथा गोत्व दोनों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष रहता है। तभी ऐसा प्रत्यक्ष सम्भव होता है। सभी धूमों में एक ही व्याप्ति है इस कारण उस व्याप्ति और धूम के असंसर्ग का ग्रहण भी नहीं है, धूमत्व जहाँ पर रहता है वहाँ पर वह्नि की व्याप्ति अवश्य रहती है इसलिए वह्नि व्याप्ति का व्याप्य है धूमत्व, उस धूमत्व का दर्शन ही विशेषदर्शन है। इस तरह विशेषदर्शन भी है। साथ ही व्याप्ति और

धूम के साथ (विशेषण और विशेष्य के साथ) चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष भी है। इस कारण परामर्श उपपन्न हो जाता है। किन्तु वह्नि विशिष्ट ज्ञान सामग्री यहाँ पर पूरी नहीं होती है क्योंकि वह्नि के साथ चक्षु का सन्निकर्ष नहीं है। इस कारण प्रत्यक्ष के द्वारा 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है।[१७] दूसरी समस्या के बारे में गङ्गेश कुछ भी नहीं कहते हैं किन्तु धर्मराजाध्वरीन्द्र 'तत्त्वचिन्तामणि' की श्री रुचिदत्त मिश्र कृत प्रकाश टीका की तर्कचूडामणि टीका में इस बारे में समाधान देते हैं। रुचिदत्त मिश्र गङ्गेश के ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष सम्बन्धी नियम को इस रीति से प्रस्तुत करते हैं कि 'यदवच्छेदेन जो धर्म पूर्व में अवगत होता है तदवच्छेदेन तद्धर्मी का ज्ञान तद्धर्म के उपनय की सामग्री बनती है'[१८] धर्मराजाध्वरीन्द्र का स्पष्टीकरण है कि शुक्ति में रजतभ्रमस्थल में भी चाकचिक्याद्यवच्छेदेन रजतत्व का ग्रहण पूर्व में हो चुका है, इस कारण शुक्ति में चाकचिक्याद्यवच्छेदेन रजतत्व का ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है।[१९]

इस तरह हम देखें तो तो पाते हैं कि गङ्गेश का आशय यह है कि वह्नि के साथ न तो ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष है और न तो संयोगात्मक लौकिक सन्निकर्ष, अत: पर्वत में वह्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है। व्याप्ति में तो इन्द्रियसन्निकर्ष सम्भव होने से परामर्श उपपन्न हो जाता है, हाँ व्याप्तिके साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष होता है या ज्ञानलक्षण, इस विषय में मतभेद है। 'तत्त्वचिन्तामणि' की 'रहस्य' नामक टीका के लेखक मथुरानाथ व्याप्ति को धूमत्वात्मक मानकर संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से व्याप्ति का प्रत्यक्ष उपपादित करते हैं[२०] और रघुनाथशिरोमणि, रुचिदत्तमिश्र, धर्मराजाध्वरीन्द्र व्याप्ति का भान ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से मानते हैं।[२१] इसमें मथुरानाथ का मत असङ्गत है क्योंकि व्याप्ति यदि धूमत्वस्वरूप है तो धूमत्व का दर्शन विशेषदर्शन नहीं हो सकता है, विशेषदर्शन खुद प्रत्यक्ष होकर अन्य के प्रत्यक्ष की सामग्री होता है। धूमत्वदर्शन धूमत्वप्रत्यक्ष की सामग्री कैसे होगा ? जबकि गङ्गेश धूमत्वदर्शन को व्याप्ति प्रत्यक्ष की सामग्री मानते हैं। दूसरी ओर गङ्गेश खुद व्याप्ति को सामानाधिकरण रूप बताते हैं।

अब यदि हम रुचिदत्त मिश्र और धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार 'यदवच्छेदेन जिस धर्म का भान पूर्व में हो चुका है, तदवच्छेदेन तद्धर्मिज्ञान तद्धर्मोपनय की सामग्री है' ऐसा मानलें तो धूमवत्त्वावच्छेदेन वह्नि का ज्ञान पूर्व में हो चुका है, हम समझ चुके हैं कि जो धूमवान होता है वह वह्निमान् होता

है और पर्वत में धूमवत्वावच्छेदेन धूम का ज्ञान हो रहा है, इसलिए पर्वूत में धूमवत्वावच्छेदेन वह्नि का ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से भान की सामग्री है, तो गङ्गेश का यह कहना कि 'वह्नि के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है' असङ्गत हो जायेगा। साथ ही वह्नि की अनुमिति न होकर वह्नि का प्रत्यक्ष ही उपपन्न हो जायेगा। एक बात और यहाँ पर ध्यान देने की है। गङ्गेश ने पाँच कारणों की आवश्यकता बतायी और उनमें से एक के न होने की बात कही, इससे ऐसा सिद्ध है कि शेष चारों कारणों की विद्यमानता के विषय में कोई सन्देह नहीं है। इनमें परामर्श का उपयोग विशेषदर्शन के रूप में निर्बाध रूप से किया जा सकता है क्योंकि परामर्श और विशेषदर्शन दोनों का आकार समान होता है। तो हम देखते हैं कि प्रश्न ज्यों का त्यों है।

रुचिदत्त मिश्र इस प्रश्न को इस तरह समाहित करते हैं कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष आपाद्यमान पर्वत में वह्नि का प्रत्यक्ष अलौकिक ही हो सकता है क्योंकि अलौकिक सन्निकर्ष से जन्य होता है और अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति की प्रतिबन्धिका नहीं होती है। अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री समान विषय होने पर अनुमिति सामग्री और शब्द सामग्री से दुर्बल होती है, नहीं तो अन्य प्रमाणों का विलय हो जायेगा।[२२] ध्यातव्य है कि नैयायिक एक क्षण में दो ज्ञानों की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते हैं। अत: समान विषयक प्रत्यक्ष सामग्री समान विषयक अनुमिति सामग्री और शाब्दसामग्री से बलवती होती है ऐसा नियम नैयायिक स्वीकारते हैं। इसी के उलट दूसरा नियम भी वे स्वीकारते हैं कि भिन्न विषयक प्रत्यक्ष सामग्री भिन्नविषयक अनुमिति सामग्री एवं शाब्दबोध सामग्री से दुर्बल होती है। पर्वत में वह्नि के प्रत्यक्ष की सामग्री भी है और वह्नि की अनुमिति की सामग्री भी है, तो प्रत्यक्ष ही होना चाहिए अनुमिति नहीं। किन्तु यदि यहाँ पर वह्नि का प्रत्यक्ष स्वीकार कर लिया जाये तो इसी रीति से शाब्दबोध स्थल में शाब्दबोध विषयीभूत अर्थ का ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष प्रयोज्य अलौकिक प्रत्यक्ष भी स्वीकारना पड़ेगा। इस तरह से भी अन्य प्रमाणों के विलय की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इसलिए रुचिदत्त मिश्र कहते हैं कि अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री समान विषय में भी अनुमिति और शाब्दबोध की सामग्री से दुर्बल होती है। इसलिए पर्वत में वह्नि की अनुमिति ही होती है। किन्तु यदि समान विषयक अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री को अनुमिति सामग्री से दुर्बल मान लिया जाये तो 'अयं स्थाणु वा पुरुषो वा' ऐसे सन्देह के बाद हस्तप्रभ

होने पर प्रत्यक्षात्मक पुरुषभ्रम नहीं होना चाहिए जैसा कि वेदान्ती आक्षेप करते हैं।[२३] नैयायिकों का पक्ष यह है कि ऐसे सन्देह के बाद जो पुरुष का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्षात्मक है क्योंकि अनुव्यवसाय होता है 'पुरुषं साक्षात्करोमि' 'पुरुष को देख रहा हूँ' 'पुरुषमनुमिनोमि' 'पुरुष का अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है। उक्त सन्देह के बाद 'पुरुषत्व व्याप्यकरादिमान् अयम्' ऐसा ज्ञान है, यह ज्ञान विशेषदर्शन के रूप में प्रत्यक्ष में और परामर्श के रूप में अनुमिति में कारण होता है। कर (हाथ) का तो हुआ है भ्रम, अत: प्रत्यक्ष के लिए जो सामग्री है वह अलौकिक प्रत्यक्ष सामग्री है। उसे आप समान विषय में अनुमिति सामग्री से दुर्बल बता रहे हैं। इसलिए अनुमिति ही होनी चाहिए प्रत्यक्ष नहीं। इस पर रुचिदत्त मिश्र का समाधान है कि फलबल से बलवत्त्व की कल्पना की जाती है। इस कारण ऐसे स्थलों पर दोषविशेष को ही बलवत्ता का प्रयोजक मान लिया जाता है।[२४] किन्तु यह समाधान निर्बल जान पड़ता है। इसीलिए वेदान्ती कहते हैं कि ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति को स्वीकार ही न किया जाए।

नव्यनैयायिकों में मौलिक चिन्तन के लिए विख्यात श्री रघुनाथ शिरोमणि इस प्रश्न पर मौलिक रूप से विचार करते हैं। प्रथमत: तो रघुनाथ शिरोमणि गङ्गेश के इस कथन को दूषित बताते हैं कि 'जहाँ पर जो पूर्व में गृहीत है वहीं पर उसका ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से भान हो सकता है- रघुनाथ का कहना है कि जहाँ कहीं पर भी गृहीत धर्म का ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से भान होने में कोई भी आपत्ति नहीं है- शर्त बस यह है कि साधारण धर्म दर्शन से उसका स्मरण हुआ हो। साथ ही यदि दो कोटियों (भाव और अभाव कोटियों) से सहचरित धर्म का दर्शन होने से दोनों कोटियों का स्मरण हुआ हो तो संशय होगा और यदि एक कोटि का स्मरण एककोटि सहचरित धर्म दर्शन से हुआ हो तो निश्चय होगा।[२५] पुन:रुचिदत्त मिश्र के इस कथन का भी वे खण्डन करते हैं कि यदवच्छेदेन जो पूर्व में गृहीत है ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से तदवच्छेदेन ही उसका भान होता है। इसमें रघुनाथ की युक्तियाँ हैं कि प्रथमत: तो इस तरह के नियम में कोई प्रमाण नहीं है। द्वितीयत: चन्दनत्वावच्छेदेन सौरभ का ग्रहण यदि पूर्व में हो चुका हो तो पुरोवर्ती में 'इदं सुरभि ऐसा ज्ञान चन्दनत्व के दर्शन से होता है।' किन्तु यहाँ पर इदन्त्वावच्छेदेन ही सौरभ गृहीत हो रहा है चन्दनत्वावच्छेदेन नहीं।[२६]

गङ्गेश ने जो यथार्थ विशिष्ट प्रत्यक्ष के लिए पाँच कारणों की व्यवस्था दी थी, रघुनाथ उसमें भी कुछ सुधार करते हैं कि विशेषण का विशेष्य में

सम्बन्ध ज्ञान के उस अंश में प्रमात्व में उपयोगी होता है। भ्रमात्मक ज्ञान तो विशेषण का विशेष्य में सम्बन्ध न रहने पर भी हो सकता है। विशेषदर्शन के बारे में रघुनाथ का मन्तव्य है कि विशेषदर्शन हर जगह उपयोगी नहीं होता है, कहीं पर ही विशेषदर्शन विपरीतज्ञान का प्रतिबन्धक होकर और कहीं पर विशेषण का स्मारक होकर उपयोगी होता है। इसी प्रकार विशेषण के साथ ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष पहले से ही है किन्तु विशेषण के साथ लौकिकसन्निकर्ष विशेषणांश में ज्ञान की लौकिकता में उपयुक्त होता है। इस तरह विशिष्ट प्रत्यक्ष के लिए विशेषण ज्ञान, विशेषण और विशेष्य के असंसर्ग का अग्रह तथा विशेष्य के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष अपेक्षित होता है। यदि विशेष्य में विशेषण का सम्बन्ध है तो ज्ञान उस अंश में प्रमा होगा। विशेषण के साथ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष सम्भव होने के कारण लौकिक सन्निकर्ष न होने पर भी प्रमात्मक विशिष्ट प्रत्यक्ष सम्भव है।[२७]

इस स्थिति में पर्वत में वह्नि का ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होने की आपत्ति ज्यादा व्यवस्थित तरीके से उठायी जा सकती है क्योंकि पर्वत के साथ चक्षु का सन्निकर्ष है ही, विशेषण वह्नि का ज्ञान है ही, वह्नि का पर्वत में सम्बन्ध भी है, 'वह्नि व्याप्यधूमवान् पर्वत:' यह परामर्श ही विशेषदर्शन के रूप में व्यवहृत हो सकता है, वह्नि और पर्वत के असंसर्ग का अग्रह भी है। इसलिए पर्वत में वह्नि का चाक्षुष प्रत्यक्ष ही होना सम्भव है। इस प्रश्न को उठाकर दीधितिकार प्रथमत: प्रश्न करते हैं कि अच्छा यह बताइए कि दण्ड के पुरुष के पास न रहने पर, जिस पुरुष के बारे में हमें ज्ञात है कि वह दण्ड धारण करता है, उस पुरुष को देखकर 'अयं दण्डी' ऐसा चाक्षुष प्रत्यक्ष क्योंनहीं होता है ? तो इसका समाधान है कि वहाँ पर कहीं पर दण्डसहचरि धर्म का दर्शन न होने के कारण दण्ड का स्मरण ही नहीं होता है और कहीं पर साधारण धर्म का (दण्डी और अदण्डी दोनों का जो धर्म हो सकता है ऐसे धर्म का) दर्शन होकर संशय ही उत्पन्न होता है और यदि दण्डी के असाधारण धर्म का दर्शन हो रहा है तो 'अयं दण्डी' ऐसा चाक्षुष निश्चय इष्ट ही है। इसलिए पर्वत में वह्नि का चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्भव है।[२८]

किन्तु इस प्रकार वह्नि का पर्वत में होने वाला जो ज्ञान है, उसको चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना सम्भव होने पर भी 'परमाणुर्निरवयव द्रव्यं नित्य परिमाणवत्वात् आकाशवत्' 'परमाणु निरवय द्रव्य है नित्य परिमाण वाला होने के कारण आकाश

की तरह' इत्यादि आनुमानिक स्थलों में परमाणु में निरवयवद्रव्यत्वज्ञान को चाक्षुष प्रत्यक्ष मानना सम्भव नहीं है क्योंकि परमाणु खुद भी चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। पर्वत में वह्निज्ञान की तरह ही यह ज्ञान भी है, इसलिए दोनों में से किसी ज्ञान को चाक्षुष मानना और किसी को अचाक्षुष मानना उचित लगता नहीं। शायद इसीलिए रघुनाथ शिरोमणि दूसरा पक्ष भी रखते हैं कि ठीक है इन सारे ज्ञानों को मानस प्रत्यक्ष ही मान लिया जाये क्योंकि मानस प्रत्यक्ष में तो इन्द्रिय का विशेष्य के साथ भी लौकिक सन्निकर्ष होना जरूरी नहीं हैं।[२९]

इस रीति से पूर्वपक्ष रखने के बाद रघुनाथ इसका समाधान करते हैं जिसके मूल में एक प्रश्न है कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्ष ही सम्भव है, अन्य प्रमाणों का विलय हो जायेगा, इस आक्षेप से आप क्या कहना चाहते हैं ? आप यह कहना चाहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमा और अनुमित्यादि प्रमाओं में वैजात्य नहीं है या आप कहना चाहते हैं कि चाक्षुषप्रत्यक्षों का जो कारण है वही अनुमित्यादि प्रमाओं का भी कारण है क्योंकि चाक्षुषादि की तरह अनुमित्यादि भी साक्षात्कार विशेष है, एक खास किस्म के प्रत्यक्ष ही हैं। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण ही एकमात्र प्रमाण है। अनुमानादि प्रमाण अलग से नहीं हैं। यदि आप कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमा का वैजात्य अनुमित्यादि प्रमाओं में नहीं है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'अनुमिनोमि' 'अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय ही अनुमिति में प्रत्यक्षमा का वैजात्य सिद्ध कर देता है। यदि कहो कि अनुमिति भी प्रत्यक्ष विशेष है, जैसे चाक्षुष, स्पार्शन आदि के प्रत्यक्ष होने पर भी उनमें वैजात्य भी उपपन्न होता है 'पश्यामि' और 'स्पृशामि' इत्यादि अनुव्यवसायों से; वैसे ही अनुमिति के प्रत्यक्ष होने पर भी उसका अन्य प्रत्यक्षों से वैजात्य हो सकता है। इसलिए अनुमानादि अलग प्रमाण नहीं हैं। तो यह कहना तभी सम्भव है यदि अनुमित्यादि का प्रत्यक्षत्व पहले सिद्ध हो, वह सिद्ध होगा कैसे ? अनुभव होना और प्रत्यक्ष होना एक ही चीज़ है, इसलिए अनुभवत्व हेतु से उसका प्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। स्मृत्यन्य ज्ञानत्व हेतु से भी उसका प्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि इसमें कोई अनुकूल तर्क नहीं होने से व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता है। दूसरी आपत्ति यह है, अनुमिति को साक्षात्कार विशेष मानने में अनुमिति यदि प्रत्यक्ष विशेष है तो कभी न कभी अनुव्यवसाय के द्वारा उसके साक्षात्कारित्व का ग्रहण होना चाहिए। यद्यपि इस आपत्ति का यह उत्तर दिया जा सकता है कि साक्षात्कारित्व का व्यञ्जक

लौकिकसन्निकर्षजन्यत्व है, उसी ज्ञान के बाद 'साक्षात्करोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है जो लौकिक सन्निकर्ष से जन्य हो, अनुमिति रूपी प्रत्यक्ष तो ज्ञानलक्षण अलौकिक सन्निकर्ष से जन्य है। इस कारण उसमें 'साक्षात्करोमि' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता है, साक्षात्कारित्व का ग्रहण नहीं होता है। किन्तु इस पर रघुनाथ आपत्ति देते हैं कि यदि 'अहं सुखी धनधान्यसमृद्धिमत्त्वात्' इस रीति से धनधान्यसमृद्धि रूपी हेतु के द्वारा अपने सुखी होने का अनुमान किया जाये तो इस अनुमिति में लौकिक सन्निकर्षजन्यत्व भी है क्योंकि आत्मप्रत्यक्ष हेतु मन का आत्मा के साथ संयोग ही लौकिक सन्निकर्ष बनता है और आत्मा मन:संयोग ज्ञानमात्र के प्रति कारण होने के कारण उक्त 'अहं सुखी' 'मैं सुखी हूँ' इस अनुमिति में लौकिकसन्निकर्षजन्यत्व है। फलत: 'साक्षात्करोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होना अनिवार्य है, अनुमिति को प्रत्यक्षविशेष मानने पर।[३०]

इसके सिवा एक और युक्ति भी रघुनाथ देते हैं कि यदि सामान्यलक्षण को स्वीकार नहीं किया जाये तो पर्वतीयवह्नि का तो पहले से ज्ञान ही नहीं है, इस कारण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से भी पर्वतीयवह्नि का सन्निकर्ष असम्भव है। अत: अनुमान की गतार्थता प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती है।[३१]

इसी प्रकार से शाब्दबोध की भी पृथक् प्रमारूपता और शब्दज्ञान का पृथक् प्रमाणत्व सिद्ध होता है। वहाँ पर भी अनुव्यवसाय के द्वारा ज्ञान के साक्षात्कारित्व का ग्रहण नहीं होता है।[३२]

इसके अतिरिक्त एक और युक्ति का सङ्केत देते हैं रघुनाथ बाध प्रकरण में जहाँ पर पक्ष भी प्रत्यक्ष नहीं है। परमाणु आदि को जहाँ पक्ष बनाया जा रहा है ऐसे स्थलों में अनुमिति को यदि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से जायमान प्रत्यक्ष माना जाये तो इसका अभिप्राय हुआ कि सर्वांश में अलौकिक प्रत्यक्ष है, सर्वांश में उपनीत भान है। अर्थात् स्मृति के द्वारा ही वह ज्ञान सम्पन्न हो रहा है तो जैसे स्मृति को प्रमा नहीं माना जाता है वैसे ही उस ज्ञान को भी प्रमा मानना सम्भव नहीं होगा।[३३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैयायिक ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष को स्वीकार करके भी अनुमान आदि के अतिरिक्त प्रमाणत्व को व्यवस्थापित करने में समर्थ हैं। किन्तु यदि उनकी युक्तियों को हम देखें तो पायेंगे कि ये युक्तियाँ साम्प्रदायिक ज्यादा हैं तार्किक कम। अद्वैतियों का यह कथन ज्यादा विश्वसनीय लगता है कि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष को स्वीकारने पर अनुमानादि प्रमाणों का विलय हो

जायेगा। किन्तु भ्रम की व्याख्या के लिए अद्वैती जिस प्रक्रिया को अपनाते हैं, उसे स्वीकारने की अपेक्षा ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के आधार पर भ्रम की व्याख्या करना ज्यादा उचित है। इसलिए ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की स्वीकृति अनुचित नहीं कही जानी चाहिए।



सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणियाँ :

१. द्रष्टव्य - न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड, सन्निकर्ष विवेचन।

२. द्रष्टव्य - 'ज्ञानलक्षण तथा ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष' शीर्षक व्याख्यान, प्रकाशित न्यायसत्रम् में सं. राधावल्लभ त्रिपाठी १९८४, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

३. द्रष्टव्य - न्यायसिद्धान्त मुक्तावली प्रत्यक्षखण्ड में सन्निकर्षविवेचन।

४. ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वे तत एव वह्नयादेः प्रत्यक्षत्वापत्तावनुमानाद्युच्छेदापत्तेः। पृ. ११३ वेदान्तपरिभाषा धर्मराजाध्वरीन्द्रकृता, शिवदत्त मिश्र कृतार्थ दीपिका युता, हिन्दी अनुवाद व व्याख्यान सहित, ज्ञानसत्रप्रकाशन मन्दिर नर्मदापुर।

५ द्रष्टव्य - न्यायसत्रम् पृ. ७१.

६. द्रष्टव्य - वही पृ. ७२.

७ बहिरिन्द्रियस्थले उपनीतं विशेषणतयैव भासते इति नियमात्। पृ. २६५ रहस्य, तत्त्वचिन्तामणिः गङ्गेशोपाध्यायकृत द्वितीय खण्ड मथुरानाथकृत रहस्य व्याख्यासहित।

८. मानसे उपनीतं विशेषणतयैव भासते इति नियमाभावात्। पृ. २६५. रहस्य, वही।

९ न चैवं परामर्शस्य चाक्षुषत्वं न स्यात् व्यापकस्य विशेष्यस्येन्द्रियसन्निकर्षादिति वाचाम्, इष्टत्वात्। असन्निकृष्टधूमादाविव मानस एव सर्वत्र परामर्शः। पृ. ५२६-२७. तत्त्वचिन्तामणि।

१०. एवमपि सम्भाव्येत यदि पृथग्वह्निमत्त्वस्य स्मरणं स्यात्। किन्तु व्याप्त्यवच्छेदकतया तत्। अतएव पदार्थस्यपृथक् स्मरणमङ्गीक्रियते। पृ. १२० न्यायरत्न (मणिकण्ठ मिश्र), नृसिंहयज्वनकृत घुतिमालिका सहित, मद्रास १९५३।

११. वह्निमान्नवेति संशयानुरोधेन स्वतन्त्रवह्निमत्त्वस्मरणात्। न च विशिष्ट ज्ञाने स्वतन्त्रविशेषणज्ञानत्वेन हेतुत्वम्, गौरवात्। पृ. ५०७-५०८ तत्त्वचिन्तामणि।

१२. नहि ज्ञानोन्तरोपनीते भानेऽनुमितिव्यवहारोऽतिप्रसङ्गात्। पृ. ६३ न्यायसिद्धान्तदीप (शशधराचार्य), गुणरत्नसूरिकृत टिप्पणीसहित, सं. बी.के. मतिलाल अहमदाबाद १९७६.

१३. न खलु वह्निव्याप्यधूमपरामर्शादुपनीतरासभानुमितिरानुभविकी कस्यापि, अन्यथा पर्वते वह्निसन्देहवतो निश्चितवह्निव्यभिचारकेण अभिधेयत्वादिना पर्वतादौ प्रमेयत्वादिकमनुभिमतोऽपि वह्नयर्थिनो वह्निमत्वनिश्चयान्निष्कम्पन प्रवृच्यापत्तेरिति। दीधीतिः पृ. १९०३ अनुमानगादाधरी, वाराणसी।

१४. द्रष्टव्य - गादाधरी पृ. १९०८ अनुमानगादाधरी।

१५. अथ यो यत्र विशिष्य पूर्वभवगत: सं तत्र संस्कारवशाद्यथार्थ प्रत्यक्षे भासते यथा तत्ता प्रत्यभिज्ञाने, न च पर्वते विशिष्यं पुरावह्निरवगत: । पृ. ५०८-५०९ तत्त्वचिन्तामणि ।

१६. तर्हि पक्षधर्मधूमेऽपि न पुरा विशिष्य व्याप्तिरवगतेति कथं संस्कारवशात्तद्गतव्याप्तिबोध: प्रत्यक्षेण । पृ. ५०९ वही ।

१७. विशेषणज्ञानं तस्य विशेष्ये सम्बन्धस्तयोरसंसर्गाग्रहो विशेषदर्शनं विशेषणविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षो गौरयमित्यादियथार्थ विशिष्ट प्रत्यक्ष कारणम्, अस्ति चात्रापि व्याप्तिस्मरणं स्मृत व्याप्ते: पक्षवृत्तिधूमे सत्त्वम् एकैव हि सा व्याप्ति: तयोरसंसर्गाग्रहो धूमत्वविशेषदर्शनं व्याप्तिविशिष्टधूमेन्द्रियसन्निकर्षश्च व्याप्तिविशिष्ट ज्ञानकारणम् । न च वह्निविशिष्ट ज्ञान सामग्री, वह्नेरसन्निकर्षात् पृ. ५१३-५१४ वही ।

१८. वस्तुतस्तु यदवच्छेदेन यो धर्मो भात: तदवच्छेदेन तद्धर्मिज्ञानं तद्धर्मोपनयसामग्री । पृ. ३८५ प्रकाश (रुचिदत्त मिश्र) तत्त्वचिन्तामणि द्वितीय खण्ड प्रथमभाग रुच्दित्तमिश्रकृत प्रकाश धर्मराजाध्वरीन्द्रकृत तर्कचूडामणि सहित । तिरुपति १९८२.

१९. तथा च सत्यरजते चाकचिक्याद्यवच्छेदेन गृहीतरजतत्वस्य तत्त्वेन गृह्यमाणायामारोपोन विरूद्ध: । तर्कचूडामणि वही ।

२०. व्याप्तेर्धूमत्वाद्विरूपतया संयुक्तसमवायादेरेव लौकिक सन्निकर्षस्य तत्र सम्भवादिति भाव:। पृ. ५१४ रहस्य ।

२१. व्याप्त्यापिसमंज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ते: सत्त्वादित्यर्थ: । पृ. ३८४ प्रकाश: ।

२२. ज्ञानरूपयाहिप्रत्यासत्त्या पर्वते वह्निप्रत्यक्षमावाद्यमानलौकिकमेव स्यात् । न चा लौकिक प्रत्यक्ष सामग्री मानान्तरप्रवृत्तिप्रतिबन्धिका । तस्या: समानऽपि विषयेऽनुमित्यादिसामग्रीतो दुर्बलत्वात् । अन्यथा मानान्तरविलयापत्ते: । पृ. ३८६ वही ।

२३. ज्ञानस्य सन्निकर्षत्वे वह्न्यनुमितिस्थले प्रत्यक्षोदयप्रसङ्गात्, समाने विषये प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वात्, अलौकिक प्रत्यक्षसामग्र्यपेक्षयाऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वे संशयोत्तरभ्रमरूपुरुषप्रत्यक्षस्थलेऽनुमितिप्रसङ्गात । पृ. २३ कल्पतरूपरिमल (अप्पयदीक्षित) भामतीकल्पतरू परिमलयुत ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य । वाराणसी १९८२.

२४. तथापि फलबलादनन्यगत्या दोषविशेषस्यैव तत्र बलवत्त्वप्रयोजकत्त्वमितिध्येयम् पृ. ३८७प्रकाश ।

२५. वस्तुतो यत्र क्वचिदपि गृहीतस्य धर्मिणि साधारणधर्मदर्शनात् स्मृतस्य संशयसाधारणी विशिष्टधी: । इयांस्तु विशेषो यत्कोटिद्वय सहचरितधर्मदर्शनात् कोटिद्वयस्मरणे संशयोऽऽन्यथा त्वेककोटिकनिश्चय इति । दीधित पृ. १२४५

२६. मानाभावात्, चन्दनत्वाद्यवच्छेदेन गृहीतस्य सौरभादे: पुरोवर्तिनि चन्दनत्वादिदर्शनादिदं सुरभि इत्यादि बुद्धौ व्यभिचाराच्च । वहीं

२७. विशेषण विशेष्य सम्बन्धस्तदेशे प्रमात्वे लौकिकत्वे वा विशेषदर्शनञ्च विपरीतज्ञानप्रति बन्धकता क्वचित् क्वचित् सहचरित धर्मदर्शनत्वेन विशेषणस्मारकतया विशेषणस्य ज्ञानसत्त्वेऽपि अतिरिक्तसन्निकर्षस्तदंशे लौकिकतायामुपयुज्यते । वही पृ. १२४८

२८. द्रष्टव्य - पृ. १२५४-१२५५ दीधिति

२९. माभूद्वा नायनादिरयं हुताशनादिनिर्णयो मानसस्तुस्यात् तत्र तादृशनियमस्यात्यन्तं बाधितत्वादिति। पृ. १२५५ वही

३०. अस्ति तावदनुमिनोमीत्यनुव्यवसायसाक्षिको ज्ञानविशेषो यत्र कारणमन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्याप्यपरामर्शः । मानसप्रत्यक्षविशेषोऽसाविति चेत् ? कुतोऽस्य प्रत्यक्षत्वम् ? अनुभवत्वादिति चेत् ? किमेवमनुभवत्वमन्यत् प्रत्यक्षत्वात् ? स्मृत्यन्यज्ञानत्वमितिचेन्न अनुमितौ साक्षात्कारित्वग्रहप्रसङ्गाच्च। तद्व्यञ्जकलौकिकसन्निकर्षादिजन्यत्व विरहान्न तथेति चेत् ? आत्मानुतौ तस्यापि सम्भवात्। पृ. १२५६ वही

३१. सामान्यलक्षणानङ्गीकर्तृनये चाप्रसिद्ध व्यक्तिकानुमितौ न प्रत्यक्षत्वसम्भावनापि सन्निकर्षासम्भवात्। वही।

३२. एतेन शाब्दादिकं व्याख्यातम्। वही

३३. उपनीतसकलभावे चाप्रामाण्यं प्रत्यक्षेऽपि तुल्यम्। पृ. १९०३ दीधिति।
(नोट- तत्त्वचिन्तामणि के सभी सन्दर्भ रहस्यसहिततत्त्वचिन्तामणि से और दीधिति के सभी उद्धरण अनुमानगादाधरी से लिये गये हैं)।

13.

परिशिष्ट : तीन

लेखकीय परिचय

अम्बिकादत्त शर्मा

शिलष्टाक्रिया कस्यचिदात्म संस्था,
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकानां,
धुरि प्रतिष्ठा परितव्य एव ।

कालिदास मालविकाग्निमित्रम्

प्रो. सिद्धेश्वर भट्ट

प्रो. एस.आर. भट्ट का जन्म (1939) मध्यप्रदेश के मंदसौर अंचलान्तर्गत सीतामऊ कस्बे में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा आंचलिक परिवेश से और स्नातक स्तर की शिक्षा क्रिश्चियन कॉलेज, इन्दौर से सम्पन्न हुई। बाद के वर्षों में ये उच्च शिक्षा के लिए बड़ौदा गये और एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा से इन्होंने ससम्मान पी-एच.डी. (1966) की उपाधि प्राप्त की। प्रो.भट्ट 1969 से 1979 तक दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रह कर अपने शोधोत्तर अध्ययन एवं अध्यापन क्रम को जारी रखा। किन्हीं कारणों से इन्हें कुछ समय के लिए (1979-1980) महाराजा शिवाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा जाना पड़ा जहाँ इन्होंने दर्शन विभाग के प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। पुन: ये दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग में पदस्थ (1980) हुए और क्रमशः रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष होकर 2004 में अन्तिम रूप से

सेवानिवृत्त हुए। प्रो. भट्ट अनेक बार अकादमिक आमंत्रण पर विदेश गये और स्वयं भी अपने देश में पचास से अधिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों एवं दार्शनिक सम्मेलनों का आयोजन किया। लम्बे समय तक भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से सम्बद्ध रहकर भारत में भारतीय दार्शनिक गतिविधियों को बढ़ावा दिया। आज भी पूरे मनोयोग से ऐसे ही कार्यों में संलग्न हैं। भारतीय दार्शनिक महासभा एवं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने इन्हें अपना अध्यक्ष मनोनीत कर अपने को सम्मानित किया है। प्रो. भट्ट की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ पांचरात्र दर्शन, रामानुज वेदान्त, बुद्धिस्ट एपिस्टेमोलॉजी इत्यादि हैं। इसके अतिरिक्त कई एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनेक शोध निबन्धों का प्रकाशन इन्होंने किया है। भारतीय विद्याओं के अकादमिक एवं संस्थागत विकास के प्रति इनकी निष्ठा अनुकरणीय है।

⁕

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का जन्म (1960) झारखण्ड के चतरा अंचल में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रामीण परिवेश में तथा स्नातक स्तर की शिक्षा राँची विश्वविद्यालय से सम्पन्न हुई। एम.ए. (1985), पी-एच.डी. (1988) की उपाधि इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। लगभग 10 वर्षों तक शोधोत्तर अध्ययन में संलग्न रहने के पश्चात् डॉ. शर्मा ने अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत 1996 में विनोबा भावे विश्वविद्यालय सेवा से लेक्चरर के रूप में की और सम्प्रति दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय में रीडर पद पर 1998 से आसीन हैं। इनकी गणना इस समय देश के उदीयमान अध्येताओं में की जाती है। भारतीय प्रमाण दर्शन, तर्कशास्त्र एवं भाषा दर्शन से सम्बन्धित अपने कुछ महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्धों के द्वारा इन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन की युक्त्यनुसारी परम्परा को फिर से दार्शनिक विमर्श का विषय बना दिया है। डॉ. शर्मा की रुचि का विषय बौद्ध दर्शन और उसमें भी विशेषकर उसकी न्यायवादी परम्परा है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति से लेकर रत्नकीर्ति और ज्ञानश्री मित्र तक के न्यायवादी बौद्ध आचार्यों के अति दुरूह दार्शनिक चिन्तन पर लगातार कुछ चर्चित निबन्धों को लिखकर डॉ. शर्मा ने दर्शन की इस धारा को समकालीन दर्शनविदों के समक्ष फिर से जीवन्त कर दिया है। यहाँ ध्यातव्य है

कि डॉ. शर्मा दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा द्वारा दीक्षित दर्शनशास्त्री हैं। दर्शन की इस परम्परा को बीसवीं सदी में शास्त्रीय भारतीय दर्शन को अकादमिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय दिया जाता है। पारम्परिक भारतीय दार्शनिक चिन्तन का कोई भी विवेचन तब तक अधूरा माना जाता है जब तक दर्शन की काशी हिन्दू विश्वविद्यालय परम्परा की चर्चा न की जाय। इस परम्परा के दार्शनिकों में प्रो.टी.आर.वी. मूर्ति (माध्यमिक दर्शन), प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय (भाषा दर्शन), प्रो. ए.के. चटर्जी (योगाचार), प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी एवं प्रो. (गुरूवर) रेवती रमण पाण्डेय (अद्वैतवेदान्त), प्रो. कमलाकर मिश्र एवं प्रो. एल.एन. शर्मा (काश्मीर शैव), प्रो. के. एन. मिश्र (वल्लभ वेदान्त), प्रो. आर.आर. द्रविड एवं प्रो. हर्षनारायण (न्याय-वैशेषिक) ने परम्परागत भारतीय दर्शनों की मौलिक एवं विश्लेषणात्मक व्याख्या के द्वारा इन्हें बीसवीं सदी की प्रवाहमान दार्शनिक चिन्तन धारा के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित किया है। इसी परम्परा की कड़ी को आगे बढ़ाते हुए डॉ.शर्मा न्यायवादी बौद्ध परम्परा के गहरे मन्थन में संलग्न होकर अपनी दर्शन-साधना को अग्रसारित करते हुए दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक, उन्मीलन के प्रबन्ध सम्पादक और अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के मंत्री के रूप में दर्शन के संस्थागत और संगठनात्मक दायित्त्वों का भी सफलतापूर्वक निर्वहन कर रहे हैं। अब तक की इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों में -स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - १. ''समेकित दार्शनिक विमर्श'', स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण -२.''समेकित अद्वैत विमर्श'', स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण - ३. ''भारतीय दर्शन के ५० वर्ष'', एवं ''बौद्ध प्रमाण दर्शन'', तथा In Defence of Metaphysics (Indian Reaction against Logical Possitivism) - under Publication- इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

*

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

पं. रमाकान्त मिश्र के आत्मज डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र का जन्म १ मार्च १९७१ को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिलान्तर्गत ग्राम - गना, गायघाट में हुआ। प्रारम्भ से ही आन्वीक्षिकी विद्या में संस्कारित होकर इन्होंने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से नव्यन्याय, अद्वैतवेदान्त एवं साहित्य में आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की जे.आर.एफ. परीक्षा

में सफल होकर इन्होंने १९९२ से १९९७ पर्यन्त अपना शोध कार्य पूरा किया और पी-एच.डी. उपाधि से विभूषित हुए। शाहजहाँपुर स्थित किसान गन्ना डिग्री कॉलेज से अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत के उपरान्त डॉ. मिश्र २००२ से २००४ तक सदाशिव संस्कृत केन्द्रीय विद्यापीठ, पुरी में वरिष्ठ प्रवक्ता पद पर कार्यरत रहे। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के दर्शन एवं धर्म विभाग में नव्यन्याय के उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। पारम्परिक शैली एवं गुरु परम्परा से नव्यन्याय में अधीत डॉ. मिश्र अपने उम्र के उद्भट प्रकृति के अध्येताओं में अग्रणी हैं। अनेकों परिष्कारात्मक निबन्धों एवं ग्रन्थों में अध्याय लेखन के अतिरिक्त इनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों में - न्यायभाष्य सुनन्दा हिन्दी टीका, व्युत्पत्तिवाद की हिन्दी व्याख्या, ईश्वरपर्यालोचनम्, वेदान्ताधिकरणमाला तत्त्वचिन्तामणिप्रभा का आलोचनात्मक सम्पादन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। न्याय दर्शन में अनुमान प्रमाण - नामक एक मौलिक कृति इनकी शीघ्र ही प्रकाश्य है।

*

प्रो. सोमनाथ नेने

पैतृक परम्परा से काशी निवासी प्रो. सोमनाथ नेने का जन्म ५ मार्च १९५४ ई. को एक सारस्वत संस्कारों से युक्त नैष्ठिक परिवार में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा परिवार के आसपास शास्त्रमूर्ति सदृश आचार्यों की छत्रछाया में हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में इन्होंने एम.ए., पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। इसके अतिरिक्त मीमांसा शास्त्र के प्रौढ़ी अध्ययन का सुयोग इन्हें गुरु परम्परा से प्राप्त हुआ। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरुआत (१९८०) वाणिज्य महाविद्यालय, सतना से करने के उपरान्त अगस्त १९८१ में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के संस्कृत अध्ययन शाला में पदस्थ हुए। सम्प्रति वहीं आचार्य, विभागाध्यक्ष एवं संकायाध्यक्ष पद से अपने अकादमिक एवं प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं। प्रो. नेने सामान्य रूप से भारतीय दर्शन एवं विशेष रूप से मीमांसा दर्शन के समुत्सुक अध्येता हैं। लगभग ५० से अधिक निबन्धों का प्रकाशन इन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से किया है। इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति "भाट्टचिन्तामणि तर्कपाद विमर्श" २००१ में प्रकाशित हुई है। यह कृति अखिल भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा 'प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार' से सम्मानित कृतियों में एक है।

विगत कुछ वर्षों से प्रो. नेने भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों से मीमांसा दर्शन की सैद्धान्तिक समन्विति पर महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा करने में संलग्न हैं। सतत् अध्ययन एवं उत्तरोत्तर लेखन इनकी सहज प्रवृत्ति जैसी है।

*

डॉ. आनन्द मिश्र

डॉ. आनन्द मिश्र का जन्माङ्क वर्ष १९६६ ई.एवं जन्म स्थान वाराणसी है। इनकी विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा क्वींस कॉलेज, वाराणसी में सम्पन्न हुई। इन्होंने बी.ए. (प्रतिष्ठा) (१९८६) तथा एम. ए. (१९८८) और पी-एच.डी. (१९९३, यू.जी.सी. एस. आर एफ. के रूप में) की उपाधि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्तकिया। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के "जेनरल फैलो" के रूप में इन्होंने पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च भी दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो कर पूरा किया है। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत एम.एच. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजियाबाद से करते हुए डॉ. आनन्द कुछ वर्षों तक महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ , वाराणसी के दर्शन विभाग में उपाचार्य पद पर कार्यरत रहे और सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में वरिष्ठ रीडर पद पर आसीन हैं। अब तक इनकी दो महत्त्वपूर्ण कृतियाँ-शंकराचार्य एवं सार्त्र के दर्शन में मानव नियति (२००२) और 'संवित् प्रकाशवाद' (२००२) प्रकाश में आ चुकी हैं। एक दर्जन से अधिक शोध-पत्र इनके विभिन्न शोघ पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से इन्हें संवित् प्रकाशवाद पुस्तक के लिए पी.बी.विद्यार्थी पुरस्कार (२००२) से सम्मानित भी किया जा चुका है। अपनी दार्शनिक निष्ठा और तज्जन्य महत्त्वपूर्ण कृतियों के लिए ये भविष्य में भी पुरस्कृत होते रहेंगे, ऐसी आशा है। सम्प्रति डॉ. आनन्द दार्शनिक त्रैमासिक के कार्यकारी सम्पादक और दार्शनिकी (२००४ में आरम्भ) के सम्पादक भी हैं।

*

आ. श्याममनोहर गोस्वामी

पूर्वज सन्दर्भ : आन्ध्रदेशीय कृष्णयजुर्वेदान्तर्गततैत्तिरीयशाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय शुद्धाद्वैतब्रह्मवाद - पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु

श्रीवल्लभाचार्य (विक्रमसंवत् : १५३५-१५८७) की वंश परम्परा में सोलहवीं पीढ़ी पर। *जन्मतिथि :* २६/६/१९४०। *जन्म स्थल :* मुंबई- महाराष्ट्र। *माता-पिता :* श्रीमती जानकी तथा गोस्वामी श्रीदीक्षित 'विट्ठलनाथ'। *परिवार : पितामह :* गोस्वामी श्री गोकुलनाथजी महाराज, श्रीलक्ष्मण शास्त्री द्राविड़ और काशी के पण्डितों द्वारा स्थापित 'वर्णाश्रमस्वराज्यसंघ' की अध्यक्षता की। व्याकरण वेदान्त संगीत चित्रकला आदि अनेक विषयों में पारंगत, अतीव प्रभावशाली धर्माचार्य। इनके प्रथमात्मज गो. श्री कृष्णजीवन जी न्यायशास्त्राध्येता स्वातन्त्र्य संग्राम में हिन्दुमहासभा के साथ जुड़े। द्वितीयात्मज गो. श्री दीक्षित 'विट्ठलनाथ' जी शांकररामानुजमाध्ववेदान्तों का अध्ययन दक्षिण में रहकर श्री अनन्तकृष्ण शास्त्री जी (शांकरवेदान्त) श्रीनावल्पाकं नृसिंहाचार्य जी तथा कपिस्थलं देशिकाचार्य जी (रामानुजवेदान्त) श्रीसत्यध्यानतीर्थ स्वामीजी तथा श्री यज्ञविट्ठलाचार्य जी (माध्ववेदान्त) के पास अध्ययन किया। श्रीराहुल सांकृत्यायन (बौद्धधर्मदर्शन) तथा हकीम मिर्जा हैदरबेग (कुर्आन तथा फारसी सूफ़ीमत) के पास भी अध्ययन किया। स्वातन्त्र्यपूर्व किशनगढ़ रियासत के राज्यगुरु कोटा स्थित गो. श्री जीवनलाल जी के दिवंगत होने पर उनकी पत्नी श्रीमती प्रभावती द्वारा उत्तराधिकारी बनाये जाने पर राज्य गुरु माने गये। भारत स्वातन्त्र्यसंग्राम में श्री शरच्चन्द्र बोस, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राममनोहर लोहिया आदि समाजवादिओं के साथ जुड़े। तृतीयात्मज गो. श्री गोपीनाथ जी भारतीय चित्रकला में प्रवीण तथा गायत्रीमन्त्रोपदेष्टा मेरे दीक्षागुरु। चतुर्थात्मज गो. श्री मुकुन्दराय जी प्रसिद्ध वीणावादक, मेरे संगीतगुरु। शेष तीन और पितृव्य सातों भाई, अब दिवंगत। *मेरा अध्ययन :* नौवें दसवें वर्ष की अवधि में माथुर श्री चन्द्रशेखर शास्त्री चतुर्वेदी जी के पास गणित ज्योतिष सीखा तथा नरसिंहगढ़ के एक हस्तरेखाविद के पास सामुद्रिक ज्योतिष भी सीखा। ग्यारह और बारह वर्ष की अवधि में : पञ्चतन्त्र - लघुकौमुदी श्रीकमलापति त्रिपाठी जी के पास नाशिक में रह कर अध्ययन किया। पुन: मुबई लौटने पर चौदहवें वर्ष में उपनयन के बाद अट्ठारह वर्ष पर्यन्त आन्ध्रप्रदेशीय श्री बालकृष्ण पण्डितजी के पास वेदाध्ययन। पितृचरण गो. श्रीदीक्षित जी के पास वल्लभसम्प्रदाय के धर्मदर्शनग्रन्थों का पांक्तालापनविधिपूर्वक अध्ययन तथा सभामतिक-सविवरण ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के अध्यासभाष्य अंशका दो वर्ष पर्यन्त अध्ययन। इसी दरमियान श्रीकृष्णमाधव झा पण्डितजी के पास तर्कसंग्रह, सिद्धान्तकौमुदी (पूर्वार्ध), रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय मुद्राराक्षस, उत्तररामचरित्र, काव्यप्रकाश आदि सभी के दो-दो तीन-तीन सर्गों एवं अंकों का अध्ययन। बीस से छब्बीस वर्ष पर्यन्त करांची से मुंबई आकर बसनेवाले श्रीधर्मदेव जेटली जी के पास सांख्यतत्त्वकौमुदी,

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, आपोदेवी वेदान्तपरिभाषा, सिद्धान्तबिन्दु, सिद्धान्तलेशसंग्रह विवरणप्रमेयसंग्रह, खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, आदि ग्रन्थों का पांक्तालापनविधि से अध्ययन। कलकत्ता की प्रथमा परीक्षा में निजी परीक्षार्थी बन कर दी, परीक्षा उत्तीर्ण होने पर सत्ताईस-अट्टाईस वर्ष में वाराणसी में हरिश्चन्द्र कॉलेज में प्रवेशपूर्वक इंटर आर्टस् परीक्षा में उत्तीर्ण, तथा इसी दरमियान मीमांसारत्न श्रीसुब्रह्मण्य शास्त्री जी (हि.वि.वि.) के पास भाट्टदीपिका का निजी अध्ययन। उनत्तीस-तीस वर्षों में मुम्बई-विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में बी.ए. अध्ययन कर परीक्षा में उत्तीर्ण। इकत्तीस-बत्तीस वर्षों में ग्रीकदर्शन, बर्ट्रेंड रसेल्, सिम्बॉलिक लॉजिक तथा मनोविज्ञान विषय लेकर मुंबई वि.वि. की एम.ए. कक्षा में अध्ययन किया परन्तु परीक्षा नहीं दे पाया। *उपलब्धि :* तैंतीस-चौंतीसवें वर्षों में अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् की मुखपत्रिका "श्रीवल्लभविज्ञान" का सम्पादन। श्रीवल्लभ पञ्चशतीमहोत्सव- सन् अठहत्तर से आरंभ कर सन् दो हजार चार पर्यन्त अद्यावधि वल्लभसम्प्रदाय में पच्चीस-छब्बीस पुष्टिभक्तिमार्गीय धर्मग्रन्थों तथा शुद्धाद्वैतब्रह्मवादी वेदान्तग्रंथों का सम्पादन-प्रकाशन। अध्ययनार्थी छात्रों का अध्यापन तथा सम्प्रदायानुगामी जनसाधारण के बीच सार्वजनिक सुविचारित प्रवचनोपदेश। *विफलता :* वल्लभ सम्प्रदाय के नवयुवक गोस्वामिओं द्वारा सन् १९९२ जनवरी दि. १०-१३ में आयोजित त्रिदिवसीय अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक चर्चासभा में "पुष्टिभक्तिमार्गीय आराधनाप्रणाली पुष्टिमार्गीय धर्माचार्यों की भक्ति साधना होती है न कि आजीविका के उपार्जन का साधन" इस विवादास्पद मुद्दे के हेतु सैद्धान्तिक आचार्य वचनावली विचार्य विषयवाक्यतया प्रस्तुत कर प्रमुख चर्चाकार बना। किन्तु चर्चा को, अनिर्णीत घोषित कर समाप्त करवा देने की कूटनीति के कारण महाप्रभु के सिद्धान्त को सर्वमान्य घोषित नहीं करवा पाया। तबसे अधिकांश कुलबन्धुओं के कोप या निन्दा का भाजन बनना पड़ा। *सहधर्मचारिणी :* झालावाड़निवासी 'कविकिंकरो' पनाम श्रीगिरिधारी भट्ट की आत्मजा श्रीमती लक्ष्मी। *रुचि :* तुलनात्मक धर्म-दर्शन-विज्ञान, व्रजभाषा-हिन्दी-गुजराती-उर्दू-फारसी आदि भाषा के काव्य, इतिहास, भारतीय शास्त्रीय संगीत, विश्वचित्रकला तथा बोनसाई। *सन्तती :* तीन पुत्रियाँ १. उदयपुरवास्तव्या श्रीमती दिवा दर्शनशास्त्र में एम.ए. २. राजकोटवास्तव्या श्रीमती हर्षदा बी.काम. ३. अमरीकावास्तव्या सुश्री लिप्सा, मास्टर इन कम्प्यूटर साईंस, प्रोग्रामर-मेनेजर। *मनोवृत्ति :* बेनियाजाना हरेक राहसे गुजरा भी करो, शौके-नज्जारा जो ठहराये तो ठहरा भी करो। इतने शाइस्ताए आदाबे-मुहब्बत

न बनो, शौके-दीदार अगर है तो तकाजा भी करो। सीन-ए-इश्क तमन्नाओं का मदफन तो नहीं, शिकवा उठता है अगर दिल में तो शिकवा भी करो।



डॉ. मुरलीमनोहर पाठक

डॉ. मुरलीमनोहर पाठक का जन्म, उत्तर प्रदेश के देवरिया जनपद के लार कस्बे में १.९.१९६३ ई. को हुआ। प्राच्य विद्या की परम्परागत दीक्षा इन्हें अपने पितामह आचार्य पं. जयराम पाठक से मिली। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.ए., एम.ए. (संस्कृत), डी. फिल. तथा एल-एल. बी. की उपाधियाँ प्राप्त की। इसके अतिरिक्त सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से साहित्याचार्य परीक्षा भी उत्तीर्ण किया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नेट परीक्षा पास कर डॉ. पाठक अक्टूबर १९८५ से सितम्बर १९९० तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कनिष्ठ/वरिष्ठ शोध-छात्र के रूप में अध्ययन-अध्यापन करते रहे। अक्टूबर १९९० से विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के संस्कृत अध्ययन केन्द्र में नियुक्त होकर डॉ. पाठक सम्प्रति वहीं २००२ से उपाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। इस बीच २००१ से २००३ तक विक्रम विश्वविद्यालय में नवस्थापित ज्योतिर्विज्ञान अध्ययन शाला के प्रथम समन्वयक का दायित्व भी इन्होंने सम्हाला है। डॉ. पाठक के लगभग दो दर्जन से अधिक आलेख हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा के शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। अखिल भारतीय प्राच्य विद्या के ३९ वें अधिवेशन एवं मध्य प्रदेश संस्कृत अकादमी द्वारा इन्हें कई बार पुरस्कृत भी किया जा चुका है। अब तक की इनकी प्रकाशित कृतियों में 'ऋग्वेदीय दर्शन एवं प्रमुख दार्शनिक सूक्त' (२००३) एवं छात्रोपयोगी एक ग्रंथ-'चतुष्टयी'- उल्लेखनीय हैं।



प्रो. सागरमल जैन

प्रो. सागरमल जैन का जन्म (१९३२) शाजापुर, मध्यप्रदेश में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा आंचलिक पाठशालाओं में हुई और हाईस्कूल तथा प्री.

यूनिवर्सिटी कोर्स इन्होंने स्वाध्यायी विद्यार्थी के रूप में पूरा किया। तदनन्तर स्नातक एवं स्नातकोत्तर (दर्शनशास्त्र) स्तर की शिक्षा नियमित रूप से विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से सम्पन्न कर पी-एच.डी. की उपाधि (१९६१) इन्होंने जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर से प्राप्त किया। अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत में प्रो. जैन सहायक प्राध्यापक के रूप में रीवा, ग्वालियर, इन्दौर तथा भोपाल के शासकीय महाविद्यालयों में अध्यापन कार्य करते रहे और पुन: ग्वालियर के म.ख.बा. महाविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए। इन्हीं दिनों में प्रो. जैन की दार्शनिक प्रतिभा महाविद्यालयों की सीमायें पार कर दर्शन जगत् के राष्ट्रीय क्षितिज को स्पर्श कर रही थी। इनकी प्रतिभा और प्रबन्धन सामर्थ्य को देखते हुए इन्हें 'पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी' का निदेशक बनाया गया, और १८ वर्षों तक लगातार निदेशक के रूप में कार्य करते हुए अपने अकादमिक व्यक्तित्व एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के संस्थागत स्वरूप को इन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर स्थापित किया। आज पार्श्वनाथ विद्यापीठ का वर्तमान स्वरूप, उसकी एक-एक ईंट प्रो. जैन की निष्ठा और उनकी सृजनात्मकता का फल है। दर्शन के क्षेत्र में इन्हें प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार (१९८८) एवं जैन दर्शन में विशेष योगदान के लिए 'आचार्य हस्ती पुरस्कार' तथा प्रदीप कुमार रामपुरिया पुरस्कार से सम्मानित भी किया जा चुका है। प्रो. जैन ने असेम्बली ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स-१९८५ (न्यूजरसी), १९९३ (शिकागो) में जैनधर्म का प्रतिनिधित्व भी किया है और अमेरिका, कनाडा, इग्लैंड आदि देशों में कई बार व्याख्यान देने के लिए भी आमंत्रित हुए हैं। इन्होंने जैन दर्शन, जैन आचार शास्त्र, जैन समाज एवं संस्कृति आदि विषयों पर लगभग पच्चीस ग्रन्थों का प्रणयन किया है और लगभग सौ से अधिक ग्रन्थों का सम्पादन तथा दो सौ के लगभग शोध निबन्धों का प्रकाशन किया है। आज भी प्रो. जैन अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और अपने स्वार्जित सामर्थ्य के साथ जैन वाङ्मय के विग्रह एवं प्राकट्य के लिए समर्पित हैं।

*

डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल

भगवान बुद्ध की महापरिनिर्वाण भूमि 'कुशीनगर' में जन्मे डॉ. रजनीश कुमार शुक्ल की आरम्भिक शिक्षा कुशीनगर एवं विधिवत प्रारम्भिक शिक्षा वाराणसी में सम्पन्न हुई। महात्मागाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी से स्नातक

(1986) एवं स्नातकोत्तर (1988) स्तर तक की शिक्षा को पूर्ण कर इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से यू.जी.सी. वरिष्ठ अध्येता के रूप में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति डॉ. रजनीश तुलनात्मक दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय-वाराणसी में उपाचार्य पद पर आसीन रहते हुए अपने अकादमिक जीवन को उत्तरोत्तर समृद्धि प्रदान कर रहे हैं। अब तक इनकी दो पुस्तकें-क ाण्ट का सौन्दर्य शास्त्र एवं वाचस्पति मिश्र विरचित तत्त्वबिन्दु-प्रकाश में आई हैं। सौन्दर्य, संस्कृति एवं दर्शन नामक इनकी तीसरी कृति शीघ्र ही प्रकाश्य है। डॉ. रजनीश अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के संयुक्त सचिव भी रह चुके हैं। वर्तमान में दार्शनिक त्रैमासिक के प्रधान-सम्पादक का दायित्त्व संभाले हुए हैं। ऐसे भविष्णु व्यक्ति से भारत के दर्शन जगत् को बड़ी अपेक्षायें हैं।

*

प्रो. शंकरदयाल द्विवेदी

प्रो. शंकरदयाल द्विवेदी का जन्म (१९५७) चित्रकूट अंचल के ग्राम मुडौहाँ, कर्वी में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा आसपास के स्थानीय विद्यालयों में सम्पन्न हुई। माध्यमिक स्तर की शिक्षा किसान इंटर कॉलेज, भंवरी से एक आदर्श छात्र के रूप में पूरा कर इन्होंने स्नातक (१९७६), स्नातकोत्तर (१९७८ स्वर्णपदक सहित), एवं पी-एच.डी. की उपाधि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त किया। अध्यापकीय जीवन की शुरुआत (१९८२) इन्हें अपने 'अल्मा मेटर' से ही करने का सुअवसर मिला। सम्प्रति संस्कृत विभाग, इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय में आचार्य पद (२००३) पर प्रतिष्ठित होकर अकादमिक एवं अनेकों प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह कर रहे हैं। बहुत से शोध निबन्धों के अतिरिक्त 'जयन्त भट्ट का शब्दार्थ दर्शन' अब तक की इनकीसर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाश में आई है। प्रो. द्विवेदी भुवनेश्वरी विद्या प्रतिष्ठान की शोध पत्रिका 'समाज, धर्म एवं दर्शन' के सह-संपादक भी हैं।

* * *

♦ भारतीय दर्शन में 'प्राप्यकारित्ववाद' मनोविज्ञान, भौतिकी एवं शरीर विज्ञान के समानान्तर ज्ञानेन्द्रियों की सृष्टिप्रक्रिया और उनकी कार्यप्रणाली की ज्ञानमीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक रोचक विचार-प्रसंग है।

♦ मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से, ऐन्द्रिक द्वारों से इस लोक में प्रवेश पाता है लेकिन आँख से देखते हुए और कान से सुनते हुए हम इस पर अक्सर विचार नहीं करते कि आँख देखती है कैसे और कान शब्द को कहाँ सुनता है ? जहाँ ध्वनि उत्पन्न होती है वहाँ अथवा कर्णविवर में पहुँचाया गया शब्द सुनाई देता है।

♦ संज्ञान-प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्रस्थिति एवं भूमिका को उद्घाटित करने के लिए इस ग्रन्थ में एक प्रकार से तुलनात्मक ज्ञानमीमांसा को भारतीय दर्शनों की अनुमत सीमा में इस तरह चरितार्थ किया गया है ताकि यह समझा जा सके कि विचार की वह कौन सी अधिसंरचना होती है जो एक ही मूल के दर्शनों में भिन्नता और दो भिन्न मूल के दर्शनों में एकता को अवाप्त करती है।

''इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते'' श्रीमद् भगवद्गीता की यह उक्ति इन्द्रियों की स्व-स्व विषयमात्र-प्रवृत्तिमत्ता तथा तन्मात्र ग्राहकता के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाती है। ज्ञानमीमांसीय विचार सरणि में संज्ञान प्रक्रिया का 'इदमाद्यंपदस्थानम्' कहा जा सकता है। अतएव प्रमाणों की परावरीय व्यवस्था में 'प्रत्यक्ष' का सर्वातिशायित्व सुप्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष प्रक्रिया में 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नता' को राजमार्ग ही नहीं अपितु एकान्ततः अनन्यमार्ग के रूप में व्यवस्था देकर न्यायशास्त्र इतर तन्त्रानुसृत मार्गों को सदियों से अवरुद्ध सा कर दिया है। उन मार्गों के उन्मोचन के लिए तथा प्रत्यक्ष प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता की प्रतिष्ठा के लिए डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा जी का यह भागीरथ प्रयास जिसके फलस्वरूप ''भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद'' का परिप्रकाश हुआ है, न केवल स्तुत्य अपितु ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में मूलगामी अवधारणों में से अन्यतम प्रमुख विषय से परिचित कराने के लिए अभिनन्दनीय भी है।

नैयायिकों के सन्निकर्षवाद का सटीक और बेवाक समालोचना करते हुए संभवतः इदंप्रथमतया अम्बिकादत्त जी कहते हैं - ''.... नैयायिकों ने सन्निकर्ष का निर्धारण और व्यवस्थापन प्राप्यकारिता की आधारभूत परिस्थितियों के अनुरूप नहीं किया है, बल्कि प्राप्यकारिता की अतिचारमूलक व्याख्या करते हुए उसे अपेक्षित सन्निकर्ष तक खींचने का अतिरेक प्रयास किया है।'' इन्द्रियार्थ के प्रत्यासत्ति के बिना प्रत्यक्ष प्रक्रिया आत्मोन्मेष लाभ नहीं करती-यद्यपि यह बात सत्य है, फिर भी उस प्रत्यासत्ति की अनेकरूपता से हमें यह ग्रन्थ अवगत करता है। वे प्रत्यासत्तियाँ है - संयोगरूपा, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावरूपा, उद्दीप्य-उद्दीपक-भावरूपा, ग्राह्य-ग्राहक-भावरूपा, प्रकाश्य-प्रकाशक-भावरूपा, इतरेतराध्यास-भावरूपा, तादात्म्य-भावरूपा, आकर्ष्य-आकर्षक-भावरूपा। भारतीय दर्शन के प्रस्थानों में इन प्रत्यासत्तियों का विचार मूलग्रन्थों में यद्यपि यत्र-तत्र उपलब्ध होता है, तथापि आधुनिक काल में यह विचार सर्वथा अनालोचित और उपेक्षित सा होकर रह गया है। अम्बिकादत्त जी तथा उनके कतिपय भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित सहकर्मी विद्वानों के प्रयास से प्राप्यकारित्ववाद का पुनरुद्धार अर्वाचीन भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक शुभ संकेत है।

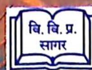
- डॉ. अच्युतानन्द दाश



विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य-प्रदेश

''इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते'' श्रीमद् भगवद्गीता की यह उक्ति इन्द्रियों की स्व-स्व विषयमात्र-प्रवृत्तिमत्ता तथा तन्मात्र ग्राहकता के प्रति प्रतिबद्धता को दर्शाती है। ज्ञानमीमांसीय विचार सरणि में संज्ञान प्रक्रिया का 'इदमाद्यंपदस्थानम्' कहा जा सकता है। अतएव प्रमाणों की परावरीय व्यवस्था में 'प्रत्यक्ष' का सर्वातिशायित्व सुप्रतिष्ठित है। प्रत्यक्ष प्रक्रिया में 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नता' को राजमार्ग ही नहीं अपितु एकान्ततः अनन्यमार्ग के रूप में व्यवस्था देकर न्यायशास्त्र इतर तन्त्रानुसृत मार्गों को सदियों से अवरुद्ध सा कर दिया है। उन मार्गों के उन्मोचन के लिए तथा प्रत्यक्ष प्रक्रिया में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता की प्रतिष्ठा के लिए डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा जी का यह भागीरथ प्रयास जिसके फलस्वरूप ''भारतीय दर्शन में प्राप्यकारित्ववाद'' का परिप्रकाश हुआ है, न केवल स्तुत्य अपितु ज्ञानमीमांसीय चिन्तन में मूलगामी अवधारणों में से अन्यतम प्रमुख विषय से परिचित कराने के लिए अभिनन्दनीय भी है।

नैयायिकों के सन्निकर्षवाद का सटीक और बेवाक समालोचना करते हुए संभवतः इदंप्रथमतया अम्बिकादत्त जी कहते हैं - ''.... नैयायिकों ने सन्निकर्ष का निर्धारण और व्यवस्थापन प्राप्यकारिता की आधारभूत परिस्थितियों के अनुरूप नहीं किया है, बल्कि प्राप्यकारिता की अतिचारमूलक व्याख्या करते हुए उसे अपेक्षित सन्निकर्ष तक खींचने का अतिरेक प्रयास किया है।'' इन्द्रियार्थ के प्रत्यासत्ति के बिना प्रत्यक्ष प्रक्रिया आत्मोन्मेष लाभ नहीं करती-यद्यपि यह बात सत्य है, फिर भी उस प्रत्यासत्ति की अनेकरूपता से हमें यह ग्रन्थ अवगत करता है। वे प्रत्यासत्तियाँ है - संयोगरूपा, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावरूपा, उद्दीप्य-उद्दीपक-भावरूपा, ग्राह्य-ग्राहक-भावरूपा, प्रकाश्य-प्रकाशक-भावरूपा, इतरेतराध्यास-भावरूपा, तादात्म्य-भावरूपा, आकर्ष्य-आकर्षक-भावरूपा। भारतीय दर्शन के प्रस्थानों में इन प्रत्यासत्तियों का विचार मूलग्रन्थों में यद्यपि यत्र-तत्र उपलब्ध होता है, तथापि आधुनिक काल में यह विचार सर्वथा अनालोचित और उपेक्षित सा होकर रह गया है। अम्बिकादत्त जी तथा उनके कतिपय भारतीय दर्शन के क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित सहकर्मी विद्वानों के प्रयास से प्राप्यकारित्ववाद का पुनरुद्धार अर्वाचीन भारतीय ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में एक शुभ संकेत है। - डॉ. अच्युतानन्द दाश



विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्य-प्रदेश